श्वेताश्वतरोपनिषद्

'शाङ्करभाष्य'-'तात्पर्यदीपिका' व्याख्यायुगलसमृद्धा
विस्तृतभूमिकया च सुशोभिता

SHVETĀSHVATAROPANIṢAD

WITH
INTRODUCTION, SHĀNKARA BHĀSHYA
AND HINDI TRANSLATION

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च
पं० श्री जगन्नाथशास्त्री तैलङ्गः

भारतीय विद्या प्रकाशन



6.2



॥ ॐ ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

'शाङ्करभाष्य'-'तात्पर्यदीपिका' व्याख्यायुगलसमृद्धा
विस्तृतभूमिकया च सुशोभिता

SHVETĀSHVATAROPANIṢAD

WITH

INTRODUCTION, SHĀNKRA-BHĀSHYA AND
HINDI TRANSLATION

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च
जगन्नाथशास्त्री तैलङ्गः

प्रकाशकः

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक :
©भारतीय विद्या प्रकाशन
(1) पो. बा. नं. 1108 कचौड़ी गली, वाराणसी-221001
फोन (0542) 392376
(2) 1, यू. बी. जवाहरनगर, बंग्लोरोड, दिल्ली-110007
फोन (011) 3971570
E-mail : bvpbooks@hotmail.com

प्रथम संस्करण : सन् 2002 ई०
विक्रम संवत् : 2058
मूल्य : 100=00

अक्षर संयोजन :
शुभम् कम्प्यूटर्स
मीरघाट, वाराणसी

मुद्रक :
जैन अमर प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-7

प्रस्तुत संस्करण

यह संस्करण शाङ्करभाष्य और तात्पर्यदीपिका के साथ प्रकाशित हो रहा है। शाङ्करभाष्य गोरखपुरसंस्करण (गीताप्रेस) पर आधारित है। तात्पर्यदीपिका शाङ्करभाष्य पर आधारित है, किन्तु वह इसका अनुवादमात्र नहीं है। शांकरभाष्य के सम्बन्धभाष्य का विस्तृत रूपान्तरण तात्पर्यदीपिका में दिया गया है। इसमें प्रत्येक मन्त्र का अवतरण, मन्त्रार्थ और शांकरभाष्य की विशद व्याख्या के साथ अन्य व्याख्याकारों के मत मतान्तर प्रस्तुत हैं। भूमिकाभाग में आवश्यक विषयों का परिचय है।

भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, दिल्ली के संस्थापक-सञ्चालक श्री किशोरचन्द्र जैन जी के पुत्र श्री राकेश जी की प्रेरणा से यह संस्करण जनता-जनार्दन को समर्पित है। एतदर्थ उन्हें यह मंगलमय आशीर्वाद प्रदान करता हूँ कि वे प्रकाशनक्षेत्र में अपने पूजनीय पिताश्री के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए उत्कृष्ट योगदान कर शिवसेवा करें।

मौनी अमावस्या २०५८
१२-२-२००२, मंगलवार

जगन्नाथशास्त्री तैलङ्ग
के. ३०/४० गंगाधरशास्त्री भवन,
घासीटोला, वाराणसी

भूमिका

मानव के मन में निरन्तर ज्ञानपिपासा बनी रहती है। उसके मन में नाना प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं–'मैं कौन हूँ? कहां से आया हूँ? मेरा जन्म कैसे हुआ है? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? और वह क्या होना चाहिए?' इत्यादि।

कुछ प्राणियों क़ा लक्ष्य भोग होता है। वे यह सोचते हैं–

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?॥"

इस प्रकार के जीव शरीर को ही अपना मानते हैं। दूसरे प्राणियों का लक्ष्य मोक्ष होता है। वे शरीर को महत्व नहीं देते। वे उसकी क्षणभंगुरता का अनुभव करते हैं और उससे परे किसी शाश्वतसत्ता की खोज में निकल पड़ते हैं। ऐसे ही मानव के मन में पूर्वोक्त प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन प्रश्नों का समाधान हमें 'पुरुषार्थ' तत्त्व को जानने से मिलता है।

'पुरुष' और 'पुरुषार्थ'–पुरुष जिसकी कामना करता है अथवा पुरुष का जो प्रयोजन होता है उसे 'पुरुषार्थ' कहते हैं–'पुरुषेण अर्थ्यते इति पुरुषार्थः' अथवा 'पुरुषस्य अर्थः (प्रयोजनं) पुरुषार्थः।'

'पुरुष' किसे कहते हैं? इस प्रश्न का समाधान हमें तभी मिलेगा जब हम यह समझेंगे कि 'हम' अलग हैं और हमारा शरीर हमसे अलग है। जिस प्रकार हम जिस घर में निवास करते हैं, वह हमसे अलग होता है, उसी प्रकार हमारा शरीर हमसे अलग है। वह नौ दरवाजों वाला 'पुर' (नगर) है, जिसमें हम निवास करते हैं। वह और कोई नहीं हमारा शरीर ही है। उसके नौ दरवाजे हैं–दो आँखें, दो कान, दो नासापुट, एक मुख, एक उपस्थ (योनि अथवा लिङ्ग) और एक गुदा।

अर्थात् हम जीवात्मा उस शरीररूपी पुर (नगर) से भिन्न हैं, जिसकी हृदयरूपी गुफा में हम सुप्तावस्था में निवास करते हुए अपने स्वरूप को भूल जाते हैं और उसे अपने से अभिन्न मानते हैं। जब कि हम जीवात्मा परब्रह्म–परमात्मा के अंश है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप है, हम उससे अभिन्न हैं और यही है हमारी सुप्तावस्था।

'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' के अन्तर्गत भगवान् विष्णु के हजार नामों में अन्यतम नाम 'पुरुष' भी है, जिसकी व्याख्या करते हुए भगवत्पाद आदिशंकराचार्य कहते हैं–

'पुरं शरीरम्, तस्मिन् शेते (इति) पुरुषः।' इसके समर्थन में आप महाभारत का यह पद्य प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं–

"नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
प्राप्य शेते महात्मा यस्तस्मात् पुरुष उच्यते॥"

(महा भा. शां. प. १.२१०.३७)

उस 'पुरुष' का जो प्रयोजन होता है, वही उसका 'पुरुषार्थ' होता है। जो भोग की कामना करते हैं, उनका प्रयोजन 'त्रिवर्ग' की प्राप्ति होता है। जिनको उसकी कामना नहीं रहती, उनका प्रयोजन 'अपवर्ग' अथवा मोक्ष होता है। उसको मिलाकर 'चतुर्वर्ग' बन जाता है। जैसा कि 'नामलिंगानुशासन'कार अमरसिंह कहते हैं–

"त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः"।

इस प्रकार 'त्रिवर्ग' के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम आते हैं और 'चतुर्वर्ग' में मोक्ष का समावेश होता है। नवद्वार पुर (शरीररूपी नगर) में शयन करने वाले 'पुरुषों' (जीवों) में भोगप्रधान जीव आत्मस्वरूप को जाने बिना शरीर में आसक्ति रखते हुए संसरणशील क्षणभंगुर संसार के जन्ममरणचक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं। कुछ अन्य जीव पुनर्जन्म में विश्वास रखकर स्वर्गादि की कामना करते हैं। ऐसे जीव पुण्य क्षीण होने पर सांसारिक पाशबन्धन में पड़े रहते हैं–**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**। उनका लक्ष्य होता है–'त्रिवर्ग'–धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति। ऐसे लोग प्रवृत्तिमार्ग अपनाते हैं और आसक्त भाव से जीवनयापन करते हैं। जिनका लक्ष्य परब्रह्म–परमात्मा की प्राप्ति होता है, वे निवृत्तिमार्ग अपनाते हैं और आसक्तिरहित होकर अपना जीवनयापन करते हैं और अन्त में परमात्मस्वरूप में विलय प्राप्त करते हैं। इसी का नाम है मोक्ष और यही परम पुरुषार्थ है। अर्थ और काम जब धर्मविरुद्ध होते हैं, तब वे पुरुषार्थकोटि में नहीं आते। हमारा प्रथम धर्म सदाचार है, अनैतिक आचरण समाज स्वीकार नहीं करता। अर्थ और काम की प्राप्ति भी नैतिक मार्गों से की जानी चाहिए और हमारा चरम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति होना चाहिए। इसी दृष्टि से 'त्रिवर्ग'–धर्म, अर्थ और काम 'पुरुषार्थ' कोटि में आते हैं। वस्तुतः प्रधान पुरुषार्थ है मोक्ष। वही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए। प्राचीन मन्त्रद्रष्टा महर्षि यह जानते थे कि मोक्ष की प्राप्ति परमात्मा की कृपा से ही होती है। उसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसा कि श्रुतिवचन है–

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवैष वृणुते तेन लभ्यस्तदैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥"

(मुण्डक उ. ३. २. ३)

ऐसे ही महर्षियों में अन्यतम 'मुमुक्षु' थे महर्षि श्वेताश्वतर। आप उस परब्रह्म–परमात्मा की शरण में गए, जो आत्मबुद्धि के प्रकाशक थे–

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त ँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥"

(श्वेताश्वतर उ. ६। १८)

"जिन परमेश्वर ने ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न किया।
जिनने उनको अमित ज्ञान का आकर अपना वेद दिया।

आत्मबुद्धि के विमल-विकाशक अखिल विश्व में रहे विराज।
मैं मुमुक्षु उस परमदेव की शरण ग्रहण करता हूँ आज[1]॥"

इस प्रकार परब्रह्म-परमात्मा इस 'उपनिषद्' का रहस्य-तत्त्व है। जैसा कि 'अमरकोष'कार 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ लिखते हैं[2]।

उपनिषद्: नामनिर्वचन-'षद्लृ' धातु के पूर्व 'उप' और 'नि' दो उपसर्ग तथा अन्त में क्विप् प्रत्यय लगाकर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। धातुपाठ में इसके अनेक अर्थ हैं-विशरण, गति और अवसादन। 'षद्लृ विशरणगरयवसादनेषु'। इनमें 'विशरण' का अर्थ है काटना, गति का अर्थ है गमन और ज्ञान तथा 'अवसादन' का अर्थ है विनाश। 'उपनिषद्' शब्द इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त है। भगवत्पाद आदिशंकराचार्य 'मुण्डकोपनिषद्' के सम्बन्धभाष्य में इसका नामनिर्वचन इस प्रकार करते हैं-

"य इमां ब्रह्मविद्याम् उपयन्ति, आत्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरस्सराः सन्तः तेषां गर्भ-जन्मजराद्यनर्थपूगं निशातयति, परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यासंसारकारणं वाऽत्यन्तम् अवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्, उप-नि-पूर्वस्य सदेरेवमर्थ-स्मरणात्।"

जिसके निकट पहुँचकर जीव उसका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं, जो गर्भ, जन्म, वृद्धावस्था, रोग इत्यादि अनर्थों को काटती है और जो संसार का मूल बीजहेतु अविद्या का विनाश करती है वह ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' कहलाती है, क्योंकि 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् (षद्लृ) धातु के ही तीन अर्थ पठित हैं। 'कठोपनिषत्' के सम्बन्ध-भाष्य में इसी प्रकार का निर्वचन करते हुए अन्त में आचार्य शंकर कहते हैं-"विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्येति।" वस्तुतः उपनिषद् शब्द का वाच्यार्थ है ब्रह्मविद्या। उसका लक्ष्यार्थ है उपनिषद्-ग्रन्थ।

महर्षि श्वेताश्वतर के द्वारा जिस ब्रह्म का साक्षात्कार किया गया उसके परिणाम-स्वरूप इस उपनिषद् का अवतरण हुआ और उनके नाम पर ही इस उपनिषत् की प्रसिद्धि हुई। तप के प्रभाव से और परब्रह्म परमात्मा के कृपा-प्रसाद से ही महर्षि श्वेताश्वतर ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था और उन्हीं अधिकारी वेदवेत्ता महर्षियों को उसका उपदेश दिया था, जो 'अत्याश्रमी' अर्थात् आश्रमधर्म के देहाभिमान से मुक्त संन्यासवृत्ति के विरक्त मुमुक्षु थे-

"तपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च
ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यग् ऋषिसंघजुष्टम्॥" (श्वेता. उ. ६।२१)

१. 'कल्याण', उपनिषद् अंक १९४९ ई., पृ. १
२. 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'-अमरकोष।

महर्षि श्वेताश्वतर–अश्वतर का अर्थ है वर्णसंकरपशु खच्चर, जो गर्दभी और अश्व के संयोग से जन्म लेता है। कुछ लोग कहते हैं कि प्राचीनकाल में यातायात के साधनों में खच्चर का उपयोग किया जाता था। ऐसा ही सफेद रंग का खच्चर (श्वेत अश्वतर) उस ब्रह्मज्ञानी महर्षि के पास था, जिससे उनका नाम 'श्वेताश्वतर' पड़ा। परन्तु यह मत नितांत अप्रामाणिक मात्र कपोलकल्पित और हमारे स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने वाला है। कुछ पाश्चात्य विचारकों के मतानुसार 'श्वेत अश्वतर' सफेद वर्ण के सीरिया ईसाई धर्मावलम्बी थे, जिनकी शिक्षा का प्रभाव भारतीय जाति पर पड़ने के कारण इस उपनिषद् का यह नामकरण[1] हुआ। किन्तु मैक्समूलर ने इस मत का खण्डन किया है। जैसे अर्जुन का एक पर्याय 'श्वेताश्व' है, उसी प्रकार इस महर्षि का नाम 'श्वेताश्वतर' है। 'दीपिका'कार शंकरान्द इसका नाम निर्वचन इस प्रकार करते हैं–"**श्वेताः अवदाताः सदाऽन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिताः अश्वाः इन्द्रियाणि यस्य सः श्वेताश्वः। अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः। अष्टांगयोगनिरत इत्यर्थः।**"

इसका अर्थ यह है कि जिनके बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा आन्तर इन्द्रिय अन्तःकरण (अश्व) विपरीत प्रवृत्तियों से विमुख होने के कारण श्वेत 'शुभ्र' होते हैं, उन्हें 'श्वेताश्व' कहते हैं, उनमें भी जो अत्यंत संयमी होते हैं उन्हें 'श्वेताश्वतर' कहा जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि इन आठ अंगों के योग में महर्षि श्वेताश्वतर सदा निरत रहते थे। उन्होंने कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का सांगोपांग अध्ययन किया था। क्योंकि यह उपनिषद् उसी शाखा से सम्बन्धित है। जैसा कि शान्तिपाठ के विधान से ज्ञात होता है। शुक्ल यजुर्वेदीय 'मुक्तिकोपनिषद्' में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने कृष्णयजुर्वेदीय बत्तीस (३२) उपनिषदों के आदि–अन्त में इस प्रकार शान्तिमन्त्रपाठ का विधान किया है–

"(१) कठवल्ली (२) तैत्तिरीय (३) ब्रह्म (४) कैवल्य (५) श्वेताश्वतर-(६) गर्भ (७) नारायण (८) अमृतबिन्दु (९) अमृतनाद (१०) कालाग्निरुद्र-(११) क्षुरिका (१२) सर्वसार (१३) शुकरहस्य (१४) तेजोबिन्दु (१५) ध्यान-बिन्दु (१६) ब्रह्मविद्या (१७) योगतत्त्व (१८) दक्षिणामूर्ति (१९) स्कन्द (२०)-शारीरिक (२१) योगशिखा (२२) एकाक्षर (२३) अक्षि (२४) अवधूत (२५)-कठरुद्र (२६) रुद्रहृदय (२७) योगकुण्डली (२८) पञ्चब्रह्म (२९) प्राणाग्नि-होत्र (३०) वराह (३१) कलिसन्तरण (३२) सरस्वतीरहस्य–संज्ञकानां द्वात्रिंशत्संख्याकानाम् उपनिषदां 'सह ना ववत्वि'ति शान्तिः।" (मुक्ति. उ. १।५३)

अनुबन्धचतुष्टय–'**अनुबध्नन्ति अध्येतॄन् इति अनुबन्धाः**' इस निर्वचन के अनुसार जो अध्येताओं को प्रतिपाद्य विषय से बांधे रखते हैं, उन्हें 'अनुबन्ध' कहते हैं।

1. तुलनीय–Weber, Ind, Srud. I PP-400-421

'बलवदनिष्टानुबन्धीष्टसाधनताज्ञानजन्यप्रवृत्तिप्रयोजकम् अनुबन्ध-चतुष्टयम्' इस परिभाषा के अनुसार जो प्रबल अनिष्ट से सम्बद्ध न होकर इष्टसाधनता-ज्ञान से उत्पन्न प्रवृत्ति के प्रयोजक होते हैं, वे 'अनुबन्ध' कहलाते हैं। यह परिभाषा चार में परिभाषित होती है–(१) विषय, (२) प्रयोजन, (३) सम्बन्ध और (४) अधिकारी। औपनिषद अथवा वेदान्तदर्शन के अनुबन्धचतुष्टय के अन्तर्गत–

(१) इसका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या है।

(२) इसका प्रयोजन ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा मोक्षप्राप्ति है।

(३) इसका परस्परसम्बन्ध भिन्न-भिन्न है। शास्त्रग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध, प्रयोजन (मोक्ष) के साथ ब्रह्मविद्या का प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध और अधिकारी गुरु का जिज्ञासु शिष्य के साथ उपदेश्य-उपदेशकभाव सम्बन्ध रहता है।

(४) साधनचतुष्टयसम्पन्न प्रमाता ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है।

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में उपदिष्ट ब्रह्मविद्या का अधिकारी वेदवेत्ता, ब्रह्मजिज्ञासु और 'अत्याश्रमी' अर्थात् देहाभिमानशून्य मात्र चतुर्थाश्रमी अष्टांगयोगतत्पर महात्मा होना चाहिए। परब्रह्म-परमात्मा में उसकी परम भक्ति होनी चाहिये। ठीक उसी प्रकार उसमें परा कोटि की गुरुभक्ति भी होनी चाहिये। तभी उस महात्मा के सम्मुख ब्रह्मप्रकाशक अर्थ प्रकाशित होते हैं–

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" (श्वेताश्व. उ. ६।२३)

साथ ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश अनधिकारी के लिए वर्जित है। जिसका अन्तःकरण सर्वथा अशान्त होता है, वह इस विद्या का अधिकारी नहीं होता। चाहे वह अपना पुत्र अथवा शिष्य ही क्यों न हो। वे दोनों सच्छिष्य की कोटि में नहीं हैं–प्रथम कुपुत्र है तो दूसरा कुशिष्य। कुपुत्र पुत्र नहीं होता और कुशिष्य शिष्य नहीं। अतः वे दोनों अनधिकारी हैं। उपनिषद् वेदों का अन्तिम भाग है, अत एव उसे 'वेदान्त' भी कहते हैं। जिनमें गूढ रहस्यमय अर्थ छिपे हुए है। उन्हें अनधिकारी को कदापि नहीं देना चाहिये। यही अग्रिम मंत्र का उपदेश है–

"वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः॥"
(श्वेताश्व. उ. ६।२२)

ब्रह्मजिज्ञासा–'किं कारणं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्मजिज्ञासा इस उपनिषद् की जननी है। 'जगत् का कारणस्वरूप ब्रह्म क्या है?' यह जिज्ञासा ब्रह्मवादी महर्षियों के अन्तःकरण में सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुई। 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' में 'ब्रह्म' शब्द का निर्वचन करते हुए

आचार्य शंकर कहते हैं–'बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च सत्यादिलक्षणं ब्रह्म।' अत्यंत 'बृहत्' (विशाल) और 'बृंहण' (विस्तार) शील होने के कारण इसका ब्रह्म नाम सार्थक है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहती है–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (२।१)। एकमात्र शाश्वत सत्य 'ब्रह्म' है, क्योंकि उसकी सत्ता (अस्तित्व) नष्ट नहीं होती। वह ज्ञानस्वरूप चिन्मय है। वह 'अनन्त' है, क्योंकि सबको व्याप्त करता है। सभी में आत्मस्वरूप में वास करता है और देश काल और वस्तु की परिधि से मुक्त है। वही ब्रह्म इस उपनिषद् का विषय है।

प्रथम अध्याय

प्रथम दो मन्त्रों में उसी ब्रह्मजिज्ञासा की अभिव्यक्ति है।

(१) **किं कारणं ब्रह्म?**–ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है या निमित्तकारण?

(२) **कुतः स्म जाताः?**–हमलोग कहां से उत्पन्न हुए?

(३) **जीवाम केन?**–किसके प्रभाव से हम जीवित हैं?

(४) **क्व च संप्रतिष्ठाः?**–हमारी पूर्णरूपेण सत्ता कहां है?

(५) **अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे?......** हमलोगों का अधिष्ठाता कौन है, जिसकी व्यवस्था में रहकर हमलोग सुख-दुःख दोनों का कर्मानुसार उपभोग कर रहे हैं? महर्षियों ने उक्त पांच प्रश्न प्रथम मंत्र में प्रस्तुत किये।

द्वितीय मंत्र में वे महर्षि यह चिन्तन-मनन कर रहे हैं कि काल, नियति, आकस्मिक घटना (यदृच्छा), पंच महाभूत, प्रकृति और पुरुष क्या इनमें से कोई जगत् का कारण है अथवा इनका समुदाय जगत् का कारण है? फिर स्वयं वे इसका निषेध करते हुए कहते हैं कि ये सभी आत्मस्वरूप हैं, अतः जगत् का कारण नहीं है। उसी प्रकार नवद्वार पुर (शरीर) में शयन करनेवाला 'पुरुष' (जीवात्मा) भी जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रारब्ध कर्मानुसार सुख-दुःख ही बार बार उसके जन्महेतु हैं। वह स्वयं अपने कर्मों के अधीन है। वह जगत् का कारण नहीं हो सकता।

ध्यानयोग–जब इन प्रश्नों का उत्तर महर्षियों को नहीं मिला, तब उन्होंने समाधि लगाई। अष्टांगयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये आठ अंग समाविष्ट हैं, जिनमें ध्यान परमात्मसाक्षात्कार द्वारा चरम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति का छठा सोपान है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार के माध्यम से इस ध्यानयोग का उपदेश 'मुण्डकोपनिषद्' में चित्रित है। देखिए–

''धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाऽक्षरं सौम्य! विद्धि॥''

(मु. उ. २. २.३)

चित्त की एकाग्रता ही ध्यानयोग है, जिसकी चरम परिणति समाधि है। इस ध्यानयोग से उन्होंने स्वयंप्रकाशमान परब्रह्म परमात्मा की उस दिव्यशक्ति का साक्षात्कार किया, जिसमें सत्व, रज और तमोगुण अव्यक्त रूप से विद्यमान थे। उस दिव्यशक्ति के

साक्षात्कार के फलस्वरूप उन्होंने यह निश्चित किया कि उस दिव्यशक्ति से सम्पन्न परब्रह्म-परमात्मा ही संपूर्ण जगत् का कारण है और काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत, प्रकृति और पुरुष इन सबका भी वही एकमात्र कारण है। काल स्वभाव आदि जगत् के कारण कदापि नहीं हो सकते[1]।

स्वयंप्रकाश दिव्यशक्तिसम्पन्न उस 'देव' (परब्रह्म-परमात्मा) की ही महिमा है जिससे यह सम्पूर्ण 'ब्रह्मचक्र' भ्रमण करता है-'**देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्**' (६।१)।

ब्रह्मचक्र-उन ऋषियों ने ध्यानयोग द्वारा दिव्य दृष्टि से उस 'ब्रह्मचक्र' का साक्षात्कार किया, जो दिव्यप्रकाशसम्पन्न परमात्मशक्ति से संचालित होता था। यहां 'ब्रह्मचक्र' का अर्थ ही समस्त ब्रह्माण्ड अथवा संसरणशील संसार है, जिसका चक्र के रूप में साक्षात्कार किया गया है-

''तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥'' (१।४)

१. एकनेमिम्-उस ब्रह्माण्डचक्र में एक 'नेमि' (अव्याकृत प्रकृति का गोल घेरा) थी, जो चक्र के 'अरों', 'प्रत्यरो' और 'नाभि' आदि सभी अवयवों को वेष्टित कर रही थी।

२. त्रिवृतम्-उस प्रकृतिरूपी 'नेमि' पर सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के आवरण थे।

३. षोडशान्तम्-उस चक्र के सोलह सिरे थे-मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये आठ सूक्ष्मतत्त्व और इनके इतने ही आठ स्थूल रूप।

४. शतार्धारम्-इस संसारचक्र में पचास प्रकार की अन्तःकरणवृत्तियाँ पचास अरों के रूप में उस 'नेमि' और 'नाभि' से जुड़ी हुई थीं।

५. विंशतिप्रत्यराभिः (युक्तम्)-पंच महाभूतों के पांच विषय, दस इन्द्रियाँ और पंचप्राण ये बीस सहायक अर भी उस रथचक्र की नेमि में लगे हुए थे।

६. षड्भिः अष्टकैः युक्तम्-उस संसारचक्र में छः अष्टक भी थे-

(१) आठ प्रकार की प्रकृति-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार।

(२) शरीरगत आठ धातुएँ-त्वचा, चमड़ी, मांस, रक्त, हड्डी, मज्जा और वीर्य।

(३) अष्टसिद्धि-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

(४) आठ भाव-धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य।

१. द्रष्टव्य-'ते ध्यान योगानुगता' इत्यादि १।३।

(५) आठ देवयोनियां—ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर और पिशाच।

७. विश्वरूपैकपाशम्—नाना प्रकार के विषयों में आसक्ति वह एक पाशबन्धन है, जो संसारचक्र में जीवों को बन्धन में डालता है।

८. त्रिमार्गभेदम्—देवयान, पितृयान और मानवलोक में बार बार जन्म ये वे तीन मार्ग हैं, जिन पर वह ब्रह्माण्डचक्र चलता रहता है।

९. द्विनिमित्तैकमोहम्—पुण्यकर्म और पापकर्म ये दो निमित्त ऐसे हैं, जो जीवमात्र को ब्रह्माण्डचक्र में बारबार भ्रमण कराते हैं। 'नाभि' चक्र का केन्द्र रहता है। संसार-चक्र की 'नाभि' अथवा उसका केन्द्रस्थल अज्ञान या एकमात्र मोह है, जिसमें पड़कर जीव बार बार भ्रमण करता है। वस्तुतः 'ब्रह्मचक्र' भी परमात्मा का ही सगुण स्वरूप है, महर्षियों ने जिसका साक्षात्कार किया।

संसार सरिता[1]—उन महर्षियों ने ब्रह्म को ही संसारसरिता के रूप में प्रवाहित होते हुए देखा—

१. पञ्चस्रोतोऽम्बुम्—पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषयों के प्रवाह इसमें प्रवाहित थे।

२. पञ्चयोन्युग्रवक्राम्—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्च तन्मात्राएं संसारसरिता के पांच उद्गमस्थान हैं, जिनसे प्रवाहित होकर वह उग्ररूप धारण करती है।

३. पञ्चप्राणोर्मिम्—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पांच प्राणवायु संसार सरिता की पांच लहरियां हैं।

४. पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्—चाक्षुष, श्रावण आदि पांच ज्ञानेन्द्रियजन्य पांच वृत्तियों के मूल में मन (अन्तःकरण) रहता है। वही इसका आदिकारण है।

५. पञ्चावर्ताम्—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वचा इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के यथाक्रम रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श ये पांच विषय जिसके पांच भंवर हैं।

६. पञ्चदुःखौघवेगाम्—गर्भ, जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु के दुःखप्रवाह इसमें विराजमान हैं।

७. पञ्चाशद्भेदाम्—अन्तःकरण की पचास वृत्तियां इसके भिन्न-भिन्न रूप हैं। अथवा—ओंकार की पचास कलाएं और उनसे निस्सृत पचास वर्ण संसारसरिता के पचासों रूप हैं, क्योंकि वेदभगवान् वर्णराशिस्वरूप है और समस्त जगत् वेद से उत्पन्न है—द्रष्टव्यः नारायणकृत व्याख्या।

८. पञ्चपर्वाम्—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश संसारसरिता के पांच पर्व (विभाग) हैं।

इस प्रकार महर्षियों ने संसारसरिता के रूप में ब्रह्म का साक्षात्कार किया था।

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् १।५।

हंस–उसी 'ब्रह्मचक्र' में वह 'हंस' विहार करता है, जो संसारसरिता के रूप में बहती है–'**अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।**' वह 'हंस' जीव ही है। टीकाकार शंकरानन्द इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं–'**हन्ति गच्छति संसारचक्रं यः स हंसो जीव इत्यर्थः।**' परमात्मा जब उसका वरण करता है, तब वह अमरपद प्राप्त करता है–'**जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति**'। (१।६)

तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च–उस अक्षरब्रह्म में 'त्रयी' प्रतिष्ठित है। भगवत्पाद शंकराचार्य भोक्ता, भोग्य और प्रेरक की त्रयी को अक्षरब्रह्म में प्रतिष्ठित मानते हैं। जैसा कि मंत्र है–'**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्**' (१।१२)। इसके भिन्न अर्थ हो सकते हैं–लोहित, शुक्ल, कृष्णवर्ण के तीन गुण, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, वेदत्रयी, त्रिदेव, त्रिलोक, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएं, भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल, धर्म–अर्थ–काम त्रिवर्ग, बाल्य–यौवन–जरा तीन शारीरिक अवस्थाएं, प्रणव की तीन मात्राएं आदि। विभिन्न टीकाकारों के मत में इनमें से कोई भी त्रयी अक्षरब्रह्म में प्रतिष्ठा पा सकती है। (१।७)

भरते विश्वमीशः–परब्रह्म-परमात्मा ही समस्त विश्व का धारण और पालन-पोषण करता है। यह समस्त विश्व 'क्षर' और 'अक्षर' से संयुक्त है। इनमें जड जगत् 'क्षर' नश्वर है और चेतन जीव 'अक्षर' अविनाशी है। जड जगत् 'व्यक्त' दृष्टिगोचर है और चेतन जीव 'अव्यक्त' अदृश्य।

अनीशश्चात्मा–इनमें अक्षर जीवात्मा परमेश्वर की व्यष्टि है और वह देह इन्द्रियादि का रूप धारण कर प्रत्यक्ष भासमान होता है। वह अपने को सुख-दुःख आदि का भोक्ता समझकर संसार के पाशबन्धन में पड़ता है। जब वह परमेश्वर के अंश के रूप में आत्म-स्वरूप से परिचित होता है, तब मुक्त होता है। (१।८)

'**ज्ञ**' सर्वज्ञ परमात्मा जड़ जगत् और चेतन जीव की समष्टि है। '**अज्ञ**' सर्वज्ञ परमात्मा जड़ जगत् और चेतन जीव परब्रह्म परमात्मा की व्यष्टि, उसका अंश है। इसके अतिरिक्त एक-अद्वितीय 'अजा' प्रकृति है, अनादि शक्ति होने के कारण उसे 'अजा' कहते हैं। वह भोक्ता के लिए भोग्य-सामग्री प्रस्तुत करती है। इन तीनों में विलक्षण परमात्मा है, जो 'अनन्त' है। देश-काल-परिस्थिति की मर्यादाएं उसे नहीं बांधती। साथ ही वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि देहाभिमान से भी मुक्त होता है। इन तीनों को समग्र रूप से जाननेवाला जीवात्मा ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्माकार होता है–'**त्रयी यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्**' (१।९)।

क्षरात्मानावीशते देव एकः–प्रधान अथवा प्रकृति 'क्षर' नश्वर है और 'हर' परमेश्वर अक्षर। अविनाशी परब्रह्म-परमात्मा जड़ जगत् के साथ प्रकृति और जीव इन दोनों को भी अकेले ही अपने नियंत्रण में रखता है। उसका साक्षात्कार करने के पश्चात् अन्त में माया का पूरा परदा हट जाता है–'**भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः**' (१।१०)

उस परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार के अनेक फल हैं–पुत्र, पत्नी और समस्त संसार के प्रति आसक्ति, ममता देहाभिमान ये ब्रह्मचक्र के पाश हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश अथवा तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र ये पांच विपर्यय पांच क्लेश हैं। परमेश्वर के ध्यान से इनका नाश होता है। जन्म-मृत्युचक्र से मुक्ति मिलती है और उत्कृष्ट ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जो सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य है। (१।११)

अपने हृदयरूपी गुफा में विद्यमान परमात्मा का साक्षात्कार जीवमात्र का परम लक्ष्य होना चाहिए–'**नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्**'। (१।१२)

प्रणव-जप की महिमा–परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए प्रणव जप आवश्यक है। जिस प्रकार अग्नि शमी के गर्भ में गुप्त रूप से निवास करता है और अरणि-मंथन से वह प्रकट होता है। उसी प्रकार परब्रह्म-परमात्मा हृदयरूपी गुफा में अव्यक्त वास करता है और अरणिमंथन से वह प्रत्यक्ष होता है। शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव जप को ऊपर की अरणि बनाकर परमात्मा का ध्यान करते हुए यदि मन्थन किया जाय, तो परमात्मा का साक्षात्कार निश्चित है–

''स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥'' (१। १४)

परमात्मा हृदयरूपी गुफा में उसी प्रकार छिपा है, जिस प्रकार तिल में तेल, दही में घी, प्रवाह में जल और अरणि में अग्नि। सत्य और तप के बार बार अनुशीलन से उसका साक्षात्कार संभव है। (१।१५)

तद् ब्रह्मौपनिषत् परम्–उपनिषदों में प्रतिपादित वही परम तत्त्व है, जिसे ब्रह्म कहते हैं॥ १॥

द्वितीय अध्याय

परब्रह्म-परमात्मा के साक्षात्कार का प्रधान उपाय प्रणव अथवा ओङ्कार-मन्त्र का जप और परमात्मा का निरन्तर ध्यान है, जिसका प्रतिपादन प्रथम अध्याय में किया गया है। इस अध्याय में ध्यानप्रक्रिया वर्णित है, जो गीता में **वैवस्वतयोग** के नाम से वर्णित है। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा ने इसका सर्वप्रथम उपदेश **विवस्वान्** को दिया। श्रीमद्भगवद्गीता के **विवस्वान्** और इस उपनिषद् के **सविता** दोनों एक ही हैं। दोनों का अर्थ **सूर्य नारायण** है। क्योंकि सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं। वैवस्वतयोग की गुरुपरम्परा गीता में इस प्रकार वर्णित है–भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

''इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप!॥
स वाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥'' (गीता ४। १-३)

वह गुरुपरम्परा इस प्रकार है-(१) परब्रह्म-परमात्मा, (२) विवस्वान्, (३) वैवस्वत मनु, (४) इक्ष्वाकु, (५) समस्त राजपरम्परा। पुनः श्रीकृष्ण द्वारा उसका पुनरुज्जीवन हुआ और सर्वप्रथम अर्जुन को वह विद्या प्राप्त हुई।

उसी ध्यानप्रक्रिया का वर्णन यहां किया गया है, जिसके प्रधान देवता सविता हैं। अत एव प्रथम पांच मंत्रों में सविता देवता की स्तुति करते हुए उनसे यह प्रार्थना की गयी है कि 'हे सविता देवता! आप हमारे मन और बुद्धि को इन्द्रियों से हटाकर उन्हें तत्त्वचिन्तन की ओर अग्रसर करें।'

ये मन्त्र तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत आए हुए हैं, जो वहां यज्ञयागादि के विनियोग में प्रयुक्त होते हैं।

परमात्मा का ध्यान करने के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है। उसके लिए प्राणायामपूर्वक ओंकारजप आवश्यक है। उसके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार से जो रसानुभूति होती है, वह सोमरस से भी बढ़कर है। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले सोमरसपान और स्वर्गसुख से बढ़कर ब्रह्मसाक्षात्कार है। उस आनन्दरस की अनुभूति अनिर्वचनीय और श्रेष्ठतम है। क्योंकि 'इष्ट' और 'पूर्त' कर्म बन्धनकारक होते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार कर्मबन्धनों से मुक्ति देता है। परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए ध्यान आवश्यक है और उस का प्रथम उपाय है आसनसिद्धि। जैसा कि योगसूत्र है-'स्थिरसुखमासनम्'। शरीर को स्थिर करके बैठने से सुख मिलता है। आसनसिद्धि को ही अग्रिम मंत्र प्रतिपादित कर रहा है-

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥" (२।८)

इस मन्त्र में तीन आदेश दिये गए हैं-(१) सर्वप्रथम सिर, गर्दन और वक्षस्थल तीनों को ऊंचा उठाकर रखना चाहिए। (२) समस्त बाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरण पर नियंत्रण रख कर उन्हें हृदयगुफा की ओर केन्द्रित करना चाहिए। (३) ओंकारजप करते हुए परमात्मचिन्तन करना चाहिए। फलतः जब जीवात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित होता है, तब जीवात्मा संसारसागर को पार कर जाता है। अग्रिम मंत्र आसन-सिद्धि के पश्चात् प्राणायाम का विधान कर रहा है, जिससे चित्त एकाग्र होता है-

"प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताऽप्रमत्तः॥" (२।९)

प्राणायाम का विशद निर्देश शांकरभाष्य की मंत्रावतरणिका में है। 'श्रीकृष्णगीता' में इसका सुन्दर वर्णन है-

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

"आसन धरे शुचि भूमिपर अति ऊंच नीच न ठौर हो।
कुश पर बिछा मृगछाल उसपर वस्त्र पावन और हो।

एकाग्र कर मन इन्द्रिय चित्त के व्यापार को।
फिर आत्मशोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को॥
होकर अचल दृढ शीघ्र ग्रीवा और काया सम करे।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासाग्र पर ही दृग धरे॥''

(श्रीकृष्णगीता ६।११-१३)

''यों जो नियत पित्तयुक्त योगाभ्यास मे रस नित्य ही।
मुझमें टिकी निर्वाणपदप्रद शांति पाता है वही॥''

(श्रीकृष्णगीता ६।१५)

ध्यानयोग से साधक का पंच महाभूतों पर अधिकार होता है और उनसे वह पांचों सिद्धियां प्राप्त करता है। जब उसका शरीर योगाग्निमय हो जाता है, तब उसके पास बुढ़ापा, रोग मृत्यु तक नहीं फटकते (श्वेताश्व. २।१२)। लघुता, आरोग्य, अलोलुपता आदि योगसिद्धि के चिह्न साधक में दृष्टिगोचर होते हैं (२। १३)। आत्मतत्त्वज्ञान से ही आत्म-साक्षात्कार सम्भव होता है, जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा हो नहीं सकता। वह कण कण व्याप्त है-''तस्मै देवाय नमो नमः''।

तृतीय अध्याय

परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए महर्षि पतंजलिप्रोक्त अष्टांगयोग साधना की आवश्यकता होती है, जैसा कि योगसूत्र है-'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'-ईश्वर का ध्यान करने से चित्त शक्तियों का निरीध होता है। 'तस्य वाचकः प्रणवः'-उस परमात्मा का वाचक ओंकार है, जिसका जप ध्यान के समय करना चाहिये। ध्यान लगाते समय आसनसिद्धि आवश्यक है और वह ध्यान प्राणायाम के साथ करना चाहिये। प्रणव जप का विधान 'स्वदेहमरणिं कृत्वा' (१। १४) इत्यादि मंत्र में आसनसिद्धि का विधान, 'त्रिरुन्नतं प्राप्य' २। ८) इत्यादि और 'प्राणान् प्रपीड्येह' (२। ९) इत्यादि मंत्र में प्राणायाम का विधान, पूर्वसंकेतित है। ध्यानयोग द्वारा महर्षियों ने परब्रह्म परमात्मा की 'निगूढ' (अव्यक्त) देवात्मशक्ति का साक्षात्कार किया था-'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (१। ३)। इस अध्याय में उसी का उपक्रम है। परब्रह्म परमात्मा अखण्ड-अद्वितीय है, उसके 'ब्रह्मचक्र' में प्राणिमात्र चक्कर लगाता है। 'अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे' (१। ६)। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि परब्रह्म अखण्ड अद्वितीय है, तो उसका ब्रह्मचक्र कैसा है? उसमें 'हंस' (जीव) किस प्रकार भ्रमण करता है? उसमें शासक-शासित इत्यादि भाव कैसे संभव है? उसका उत्तर वेदमाता स्वयं दे रही है-

''य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः'' (३।१)
''य एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँलोकानीशत ईशनीभिः'' (३।२)

पूर्वमंत्र में परम-पुरुष को 'जालवान्' कहा गया है, क्योंकि वह विविधशक्ति-समूह से सम्पन्न है। कोषकार जाल का अर्थ समूह करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में अद्वैत-वेदान्तदर्शन के अनुसार यहां जाल का अर्थ मायाजाल है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता. ७।१४)

अर्थात्-

"यह त्रिगुणमयी दैवी घोर माया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है॥" (श्रीकृष्णगीता ७।१४)

अद्वैत वेदान्तदर्शन के अनुसार परब्रह्म-परमात्मा की शक्ति माया है, सांख्यदर्शन के अनुसार वही पुरुष की प्रकृति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् उसे देवात्मशक्ति कहती है। उसके विविध रूप हैं, जिसे यहां ईशनी कहा गया है, जिनके द्वारा परब्रह्म परमात्मा त्रिभुवन पर शासन करता है। उसका सगुण स्वरूप भगवान् विष्णु हैं, जिसका शासन समस्त ब्रह्माण्डमण्डल पर चलता है। भूमण्डल पर वह राजा के रूप में अवतीर्ण होता है। उसका विवेचन यहां अप्रासंगिक है। प्रथम 'किं कारणं ब्रह्म' यह जिज्ञासा करते हुए जगत् के कारणों में 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या' (१।२) इस प्रकार जगत् के कारणों में 'योनि' (प्रकृति) का भी परिगणन किया गया और उसका निषेध इसलिए किया गया है कि वह स्वतंत्र शक्ति न होकर पुरुष की अधीन शक्ति है। पुरुष की प्रेरणा से ही वह कार्य करती है, स्वतंत्र रूप से नहीं। उसी प्रकृति का वर्णन 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' (४।५) इत्यादि मंत्र में आगे चलकर किया गया है। उसी अध्याय में परब्रह्म-परमेश्वर को मायावी और उसकी शक्ति माया को उसकी प्रकृति-

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥" (४।१०)

उसी से समस्त विश्वसृष्टि हुई है-'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' (४।९)। वही शिव की शक्ति, पुरुष की प्रकृति और ब्रह्म की माया है। दृष्टिभेद से उसके विभिन्न नाम हैं।

'य एको जालवानीशत ईशनीभिः' (३।१) इस मंत्र में प्रयुक्त 'ईशनी' शब्द का अर्थ शंकरानन्द के मत में माया की आवरण और विक्षेपशक्ति है। नारायण के मत में परमा शक्ति की दो शक्तियां ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति हैं। वेदमाता कहती है कि वह उसी मायाजाल से सृष्टि के समय ब्रह्मचक्र का विस्तार और प्रलयकाल में उसका संहार करती है-

"एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः" (५।३)

परब्रह्म परमात्मा ही उसकी सृष्टि और उसके विस्तार में समर्थ है-'य एवैक उद्भवे सम्भवे च' (३।१)। वही सम्पूर्ण विश्व की रचना कर अन्त में उसका संहार

भी करता है–**'संचुकोचाऽन्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा'** (३।२)। और यहीं से निर्गुण निराकार ब्रह्म का सगुण साकाररूप उद्घाटित होने लगता है और यहां से पौराणिक त्रिदेव का उपबृंहण होता है। त्रिदेव के अंतर्गत ब्रह्मदेव के रूप में वे सृष्टि, विष्णु के रूप में पालन–पोषण और शिव के रूप में संहार करते हैं। सृष्टि के क्षण अक्षरब्रह्म को **'रुद्र'** होना पड़ता है।–

''यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो यो रुद्रो महर्षिः'' (३।४)

आचार्य शंकर **'उद्भव'** का अर्थ विभूतियोग करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का दशम अध्याय विभूतियोग ही है। **'प्रभव'** शब्द के विषय में आचार्य शंकर यहां मौन हैं। किन्तु–**'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः'** (गीता १०।२) के अन्तर्गत स्थित **'प्रभव'** शब्द का अर्थ वे **'प्रभुशक्त्यतिशय'** अथवा उत्पत्ति करते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त विश्वरचना भगवत्प्रभाव का प्रतिफल है। अक्षरब्रह्म में रजोगुण से जब विक्षोभ होता है, तब वे **'विश्वाधिप रुद्र महर्षि'** बन जाते हैं, जिन्होंने अपनी संकल्पशक्ति से सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ की रचना की–**'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'** (३।४)।

परब्रह्म परमात्मा की **संकल्पशक्ति** से ही बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा इत्यादि विविध भाव उत्पन्न होते हैं, जो अन्तःकरण के धर्म हैं। भृगु आदि सात महर्षि, सावर्णि आदि सात मनु और परवर्ती प्रजा अक्षरब्रह्म की ही परम्परा प्राप्त रचना है। (द्रष्टव्य–गीता १०।४६)। बृहत्ता (विशालता) और बृंहणशीलता (विस्तारशीलता) के कारण **'ब्रह्म'** की सार्थकता है–**'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेमकम्'** (सिद्धान्त-शिखामणि)। **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः'** (३।३), **'सर्वाननशिरीग्रीवः'** (३।११), **'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः'** (३।१४) **'सर्वतः पाणिपादं तत्'** (३।१६), **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** (३।१५) इत्यादि मंत्र भी परब्रह्म के ब्रह्मचक्र की अनन्त बृंहणशीलता का परिचय देते हैं।

वस्तुतः अक्षरब्रह्म अजन्मा है–**'जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनः'** (३।१९)। जब वह देहधारण करता है, तब जीवात्मा बनकर नवद्वार पुर में रहता है–**'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते'** (३।१८)। मानव की हृदयगुफा में उसका प्रमाण अंगुष्ठ मात्र है–**'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'** (३।१३)। वह सभी बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण से शून्य है। नवद्वार देह में जब वह वास करता है, तब उस पर वे इन्द्रिय प्रतिबिम्बित होते हैं–**'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'** (३।१७)।

इसी दृष्टि से वेदमाता **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'** (३।२०) इस प्रकार अक्षरब्रह्म का वर्णन करती है। एक ओर वह जीवात्मा अंगुष्ठमात्र भी है, दूसरी ओर वह केश के अग्रभाग के सौवे हिस्से के बराबर है–

''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते॥'' (५।९)

जीवात्मा का यह प्रमाण कीट-पतंगादि के देह की दृष्टि से है। अत एव वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम और विशाल से विशालतम है-'**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (३।२०)। उससे न तो कोई उत्कृष्ट है, न कोई अणु है और न कोई विशाल-'**यस्मात् परं नावरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्**' (३।९)।

उसी परब्रह्म का साक्षात्कार कर जीवात्मा मृत्युञ्जय होता है। अमरपद प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है-'**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'(३।८)।

चतुर्थ अध्याय

यतः अक्षरब्रह्म सृष्टिकर्ता है और संहारकर्ता भी है, अतः जगत् उसी का स्वरूप है और उससे अभिन्न है। सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वायु सब कुछ परब्रह्म परमात्मा है। स्त्री-पुरुष, पुत्र-कन्या सभी कुछ वही है। भ्रमर, शुक, मेघ, ऋतु, समुद्र सभी कुछ वही है। समस्त विश्व उसी से उत्पन्न है (४।२-४)।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥" (४।५)

यह मंत्र सांख्यदर्शन का बीज है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्वकौमुदी' नामक 'सांख्यकारिका' व्याख्या का श्रीगणेश इसी मंत्र के मंगलाचरण से किया है। इस मंत्र में प्रकृति, पुरुष और जीव का चित्रण है। प्रकृति के दो भेद हैं-परा और अपरा। अपरा प्रकृति (१) गंधतन्मात्रा, (२) रसतन्मात्रा, (३) रूपतन्मात्रा, (४) स्पर्शतन्मात्रा, (५) शब्दतन्मात्रा, (६) अहंकार, (७) महत्तत्त्व और (८) अविद्यायुक्त अव्यक्त इन आठ प्रकारों में विभक्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता (७।४) में इसका वर्णन है, जिसका पद्यानुवाद इस प्रकार है-

"पृथ्वी, पवन, जल तेज नभ मन अहंकार व बुद्धि भी।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी॥"

(श्रीकृष्णगीता ७।४)

परा प्रकृति भगवद्गीता का जीव (७।५) 'क्षेत्रज्ञ' (१३।१) और 'अक्षर पुरुष' (१५।१६) है। सांख्यदर्शन की सत्वरजस्तमोमयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीन वर्ण हैं-लाल, सफेद और काला। उसी प्रकृति द्वारा समस्त विश्वरचना होती है। अज्ञानी जीव विषयासक्त होकर संसारबन्धन में पड़ता है और महात्मा उसके स्वरूप को जानकर उसे त्याग देता है। जीव वस्तुतः 'अजन्मा' (अज) है। वह अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ता है। सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान से जीव दुःखों से शाश्वत मुक्ति पाता है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥" (४।६)

इस मंत्र में देहधारी प्राणिमात्र की हृदयरूपी गुफा में एकसाथ रहनेवाले जीवात्मा और परमात्मा का पक्षियुगल के रूप में चित्रण किया गया है। जैसा कि ब्रह्मसूत्र है–"गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनाम्"। वे दोनों पक्षी ऐसे 'अश्वत्थ' वृक्ष पर रहते हैं, जो क्षणभंगुर है। उसमें प्रथम जीवात्मा कर्मफलों का भोक्ता है और दूसरा उसका प्रेरक मात्र साक्षी परमात्मा। शरीर को जब तक जीवात्मा स्वस्वरूप समझता है, अर्थात् जब तक उसमें देह-इन्द्रियों का और कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अभिमान रहता है तब तक वह संसार के पाशबन्धों में बंधता है और शोकसागर में डूबता है। शरीर की क्षणभंगुरता का ज्ञान होने पर वह जब अभिमानमुक्त होता है, तब उसे 'जीवन्मुक्ति' मिलती है और अन्त में उसे शाश्वत दुःखमुक्ति मिलती है–

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥" (४।७)

अक्षरब्रह्म अनादि-अनन्त आकाशस्वरूप है, जो सर्वाधिष्ठान है। प्रणवस्वरूप नाद उसी से प्रादुर्भूत है, जिससे वेद प्रकट हुए। इस प्रकार उस अक्षरब्रह्मरूपी अनादि अनन्त आकाश में समस्त वैदिक वाङ्मय अधिष्ठित है। जो ब्रह्मज्ञानी होते हैं, वे वैदिक वाङ्मय का यथोचित विनियोग कर सकते हैं, अन्य नहीं। (४।८)।

उससे ही पुरातन प्रज्ञा का प्रसार हुआ है–'तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी' (४।९) वह प्रज्ञा जो अज्ञानान्धकार का नाश करके केवल ज्ञानमय शिवस्वरूप का अनुभव कराती है। वह परब्रह्म-परमात्मा हमें सुबुद्धि प्रदान करे–'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (४।१२)। वह अक्षरब्रह्म सवितादेवता को भी उपास्य है।

पञ्चम अध्याय

अनन्त अक्षर आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में 'विद्या' और 'अविद्या' दोनों अन्तर्निहित हैं। इन दोनों की परिभाषा उपनिषद्-ब्रह्मयोगी इस प्रकार करते हैं–"या नित्यमोक्षपुरुषार्थप्रापकतया विद्यते सा विद्या। स्वर्गाद्यनित्यफलहेतुकर्म अविद्या।" जो नित्य मोक्ष पुरुषार्थ को प्रदान करती है, वह विद्या है और जो स्वर्ग आदि अनित्य क्षणभंगुर फल प्रदान करती है वह अविद्या है। ये दोनों उस अक्षर परब्रह्म में गुप्त रूप से रहते हैं, जिसका वर्णन 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इस प्रकार किया गया है। जैसा कि अग्रिम मंत्र है–

"द्वे अक्षरे ब्रह्मपदे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे" (५।१) इन दोनों में अविद्या क्षरणयुक्त है और विद्या अमृतस्वरूप। 'क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या'। क्योंकि विद्या से ही अमृत प्राप्त होती है–'विद्ययाऽमृतमश्नुते'। विद्या और विद्या इन दोनों पर नियंत्रण रखनेवाला परमेश्वर इनसे भिन्न है–'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः'। श्रीमद्भगवद्गीता इसी का समर्थन करती है–'उत्तमप्रकृतिस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५।१७)।

इसके अग्रिम मंत्र में यह कहा गया है–'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' अर्थात्

'**योनि योनि कारण कारणके जो हैं एक अधिष्ठाता।**' कपिल महर्षि को सर्वप्रथम उसी ने जन्म दिया और ज्ञानसम्पन्न किया। '**ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्**' (५।२)। इन्हीं कपिल मुनि को महर्षि रुद्र ने 'हिरण्यगर्भ' नाम से जन्म लेते हुए देखा था–'**हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्**' (४।१२)।

महर्षि श्वेताश्वतर आत्मज्ञानसम्पादन के लिए उन्हीं की शरण में गए थे–

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ (६।१८)

इस प्रकार कपिल मुनि '**हिरण्यगर्भ**' अथवा '**ब्रह्मा**' से भिन्न नहीं है, जिनका वर्ण सुवर्ण के समान उज्ज्वल था। जैसा कि शांकरभाष्य है–'**कपिलं कनककपिलवर्णम्**'। पौराणिक श्लोकों में उन्हें भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों में तृतीय अवतार सिद्ध किया है, जिन्होंने महर्षि कर्दम के पुत्ररत्न के रूप में जन्म लेकर जगत् के मोह को दूर किया था–

"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः॥"

वे सांख्यदर्शनप्रवर्तक महर्षि थे–'**सांख्यानां कपिलो देवः**'। टीकाकार शंकरानन्द इससे सहमत नहीं है। वे कहते हैं–'**वासुदेवस्याऽवतारभूतं सगरपुत्राणां दग्धारम्, न तु सांख्यप्रणेता कपिलः**'। शंकरानन्द के अनुसार इस उपनिषद् में संकेतित कपिलमुनि सांख्यदर्शनप्रवर्तक कपिलमुनि नहीं थे, अपितु सगरपुत्रों को भस्मसात् करनेवाले वासुदेवावतार उनसे भिन्न कपिल मुनि थे। इस प्रकार इस मंत्र में उल्लिखित कपिलमुनि के विषय में तीन मत हैं–(१) हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मदेव, जिनका वर्ण सुवर्ण के समान उज्ज्वल था। (२) सांख्यशास्त्रप्रवर्तक और (३) सगरपुत्रों को भस्मसात् करनेवाले वासुदेवावतार कपिलमुनि। महर्षि श्वेताश्वतर ने इन्हीं कपिलमुनि की शरण में जाकर जो विद्या प्राप्त की, जिसके फलस्वरूप उन्हें '**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**' (४।५) इत्यादि मंत्र का साक्षात्कार हुआ। जो सांख्यदर्शन का मुकुटमणि मंत्र है।

परब्रह्म परमात्मा का ही वह सामर्थ्य है कि वह एक एक सांसारिक जाल को छिन्न-विच्छिन्न कर संहार करता है–'**एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः**' (५।३)। विज्ञानभगवान् कहते हैं–'**समष्टिरूपकारणलक्षणानि जालानि पुरुषमत्स्यानां बन्धनत्वाज्जालवज्जालम्**'। जिस प्रकार मछलियां जाल के बन्धन में फंसती हैं, उसी प्रकार जीवमात्र इन्द्रियों के विषयजाल में फंसते हैं। ईश्वर ही वह मछुवारा है, जो अपनी शक्तियों से सभी लोगों का नियमन करता है–'**य एको जालवानीशत ईशनीभिः**' (३।१)।

जीवमात्र के लिए कर्म बन्धनकारक होते हैं–'**गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता**' (५।७), '**कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते**' (५।११) इत्यादि मंत्र इसी की ओर संकेत करते हैं। शिवस्वरूप के

साक्षात्कार से नश्वर देह से मुक्ति मिलती है।

"भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनम्॥" (५।१४)

उसका रहस्य उपनिषदों में अन्तर्निहित है–'तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढम्' (५।६)।

षष्ठ अध्याय

'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' (१।२) इत्यादि मंत्र में काल, स्वभाव इत्यादि को जगत् का कारण मानकर जो खण्डन किया गया था। उसी का समर्थन करते हुए वेदमाता कहती है–

**"स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥"** (६।१)

'ब्रह्मचक्र' (संसारचक्र) ही ब्रह्म का 'विवर्त' है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती इस मंत्र में विवर्तवाद का अन्वेषण करते हैं। टीकाकार शंकरानन्द के अनुसार–**'ब्रह्मैव स्वाऽविद्यया विवर्तं गच्छच्चक्रमेकनेम्यादिगुणकमुक्तं ब्रह्मचक्रम्'**–जीव मात्र को अपने अज्ञान के कारण यह भ्रम होता है कि यह ब्रह्मचक्र (संसारचक्र) है, जिसमें एकनेमि आदि विशेषताएं हैं। वास्तव में यह ब्रह्म का 'विवर्त' भ्रममात्र है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इसके अग्रिम मंत्र में भी विवर्तवाद संकेतित है–**'तेनेशितं कर्म विवर्ततेह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्'** (६।२)। स्थावर-जंगमस्वरूप संसार माया के आवरण से आच्छादित है। समस्त पाञ्चभौतिक रचना ब्रह्म का 'विवर्त' है, वह असत्य है। उसे सत्य समझना ठीक नहीं है। इसका चिन्तन अवश्य होना चाहिए। **'यः कालकारः'**–जो काल का भी महाकाल है। गीता कहती है–**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'**(११।३२)।

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (६।८)

इस मंत्र में शक्तिविशिष्टाद्वैतवादियों को उस पराशक्ति का साक्षात्कार होता है, जिसके बल पर वे इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को जगत् का कारण मानते हुए ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद पर बल देते हैं। इसका पद्यानुवाद इस प्रकार है–

"ज्ञानरूप बलरूप क्रियामय उनकी पराशक्ति भारी।
विविध रूप में सुनी गयी है स्वाभाविक उनमें सारी॥"

विज्ञानभगवान् की दृष्टि में ज्ञानक्रिया और बलक्रिया पराशक्ति के द्विविध स्वाभाविक रूप हैं, जिनमें जाननेयोग्य विषयों की अनुभूति ज्ञानक्रिया तथा परब्रह्म-परमात्मा की अनन्त सत्ता की अनुभूति बलक्रिया है–

ज्ञानबलक्रिया–**"सर्वज्ञेयविषयसर्वलक्षणाऽनुभूतिर्ज्ञानक्रिया, सा सर्वज्ञेया-कार-सर्वसत्वगुणपरिणामरूपक्रिययाऽभिव्यक्तत्वात् क्रियावदवभासत इति 'क्रिये'त्युच्यते। सेश्वरस्य स्वरूपत्वात् स्वाभाविकी नाऽन्यायत्तेति यावत्। 'बलक्रिया' नाम स्वसंनिधिमात्रेण प्रकृतिं कृत्स्नं सर्वं कर्म वशीकृत्य नियमयति।**

सा च सर्व-कल्पनाधिष्ठानभूतस्येश्वरस्य स्वाभाविकी। अथवा बलक्रिया-बलं नामाऽनन्तसत्ता, तया सर्वस्य लब्धात्मकत्वात् सैव धातुवाच्यत्वात् क्रिये'त्युच्यते।''

पूज्यपाद आदिशंकराचार्य के मतानुसार परा शक्ति के द्विविध रूपों में प्रथम ज्ञानक्रिया का अर्थ है सम्पूर्ण विषयों की ज्ञानग्रहण में प्रवृत्ति और बलक्रिया का अर्थ है अपने सान्निध्यमात्र से सब पर नियन्त्रण रखना। ''ज्ञानबलक्रिया–ज्ञानक्रिया बलक्रिया च। ज्ञानक्रिया सर्वविषयज्ञानप्रवृत्तिः। बलक्रिया स्वसन्निधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम्।''

सृष्टि और संहारक्रम के सन्दर्भ में परब्रह्म परमात्मा उस मकड़ी की तरह है जो स्वयं जाला बुनती है और स्वयं में समेट लेती है। चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म-परमात्मा भी उसी प्रकार प्रकृति की सहायता से विश्वरचना करता है और अन्त में उसे अपने में समेट लेता है। संस्कृत में मकडी के लिए दो शब्द है 'तन्तुनाभ' और 'ऊर्णनाभि'। क्योंकि उसकी नाभिकेन्द्र में अव्यक्त तन्तुसूत्र रहता है, जिससे वह अपना जाला बुनती है और उसे अपने में ही समेट लेती है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् (१.१.७) का मन्त्र है– 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्वते च ....तथाऽक्षराद् सम्भवतीह विश्वम्'। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१०) भी इसको इसी प्रकार दुहराती है–

'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः स्वभावजैः
स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोम्।
स नो दधात् ब्रह्माप्ययम्॥'

जीव परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि वह परमेश्वर मुझे ब्रह्मतादात्म्य प्रदान करे।

''न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः?'' (६।१४)–यह श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है। गीता (१५।६) भी इसी का समर्थन करती है–''न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः''।

अर्थात् ''जिनमें न सूर्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है।'' (गीता १५।६)

श्वेताश्वतर उपनिषद् वह ज्ञानराशि है, जिसमें विभिन्न दर्शनानुयायी अपने-अपने रत्न खोजते हैं। क्योंकि अक्षरब्रह्म औपनिषद् परम तत्त्व है–''तद् ब्रह्मौपनिषत्परम्'' (१।१६)। ''तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढम्'' (५।६) वह वेद के उपनिषद् साहित्य में अन्तर्निहित है। ''वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्'' (६।२२)। वेदों के अन्तिम भाग उपनिषत् साहित्य और उससे उपबृंहित वेदान्तदर्शन में वह परमात्मा पूर्वकल्प में ही वर्णित है। श्वेताश्वतर महर्षि स्पष्ट कहते हैं कि सांख्ययोग द्वारा उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होता है–

''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥'' (६।१३)

"चेतन परम चेतनों में नित्यों में भी जो नित्य महान्।
करते एक अनेक जीव के कर्मफलों का भोग-विधान।।
वे सब के कारण हैं, होता सांख्ययोग से उनका ज्ञान।
पाता मोक्ष सभी बन्धन से नर उन परमदेव को जान।।[1]"

उस परब्रह्म निष्कल परमात्मा का ध्यान महर्षि श्वेताश्वतर इस प्रकार कर रहे हैं-

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।"

और यह निर्गुण निराकार अक्षरब्रह्म का साक्षात्कार ध्यानयोग द्वारा संहारक्रम से ही सम्भव है। यह अवश्य ध्यातव्य है कि "**क्रियाद्वैतं न कर्तव्यं भावाद्वैतं समाचरेत्।**" जिसका जो उपासनाक्रम हो, उसको उसी क्रमपद्धति से परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिये। अद्वैत का तात्पर्य यह नहीं है कि उपासना में किसी प्रकार का मिश्रण हो। अपितु इसका तात्पर्य यह है कि भावना में अद्वैतभाव होना चाहिए। समस्त विश्व को परमेश्वर समझना चाहिये और अपने में भी उसकी भावना करनी चाहिए। और अन्त में स्वयं का विलय उस ईश्वर में करना चाहिये। यह जिस प्रकार ईश्वर में श्रद्धाभक्ति से संभव है, उसी प्रकार गुरुभक्ति से सम्भव है। ईश्वर और गुरु दोनों समानभाव से पूज्य हैं।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।"

उसी महात्मा के सम्मुख सभी पदार्थ वास्तविक रूप से प्रस्फुटित होते हैं।

पूज्यपाद आदिशंकराचार्य और उनका शांकरभाष्य—पूज्य श्रीमदादिशंकर भगवत्पाद अद्वैतवेदान्तदर्शन के प्रतिपादक आचार्य हैं। आपकी स्पष्ट घोषणा है-'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**'। इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए आपने 'प्रस्थानत्रयी' का आश्रय लिया। प्रस्थानत्रयी वह पाथेय है, जिसके सहारे चलकर मोक्षमार्ग को पार करना सुकर होता है। प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत (१) उपनिषत्-साहित्य (श्रुति-प्रस्थान), (२) भगवद्गीता (स्मृतिप्रस्थान) और (३) ब्रह्मसूत्र (न्यायप्रस्थान) समाविष्ट है। जैसा कि आचार्यचरण कहते हैं-"**आत्मसमाधानाय आत्मसाक्षात्काराय वा प्रस्थीयतेऽनेनेति प्रस्थानम् उपदेशोपायः गीतोपनिषद्ब्रह्मसूत्ररूपः।**" भगवद्गीता वेदव्यासविरचित महाभारत के भीष्मपर्व में समाविष्ट है। ब्रह्मसूत्र वेदव्यास की स्वतंत्र कृति है। आचार्य शंकरभगवत्पाद ने महाभारत के अनुशासन पर्व में स्थित विष्णु-सहस्रनामस्तोत्र से ही अपनी भाष्यरचना की श्रीगणेश किया था।

दस उपनिषदों के अन्तर्गत प्रसिद्ध माण्डूकोपनिषत् पर गौडपादीयकारिका है। माण्डूकोपनिषत् के साथ ही गौडपादीपकारिका पर भी शांकरभाष्य उपलब्ध है। गौडपादाचार्य के शिष्य गोविन्दयति थे और उनके शिष्य थे आचार्य शंकर। इस प्रकार

१. 'कल्याण' -उपनिषद् अंक।

गौडपादाचार्य आचार्यचरणों के परम गुरु थे। तमिल इतिहास की दृष्टि से गोविन्द यति का समय षष्ठ शतक् का अन्तिम भाग और सप्तम शतक का प्रारंभ है। इस दृष्टि से आचार्य चरणों का वही काल है।

माधवाचार्यकृत 'शंकरविजय' के अनुसार सप्तमशतकवर्ती दण्डी, बाण, मयूर आदि गद्यकवि आचार्यचरणों के समकालिक थे। आचार्य चरणों ने बौद्ध विद्वानों में वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग (पंचम शतक) और आचार्य धर्मकीर्ति (सप्तमशतक) की ग्रन्थपंक्तियों को उद्धृत करते हुए उनका खण्डन किया है। इन सब प्रमाणों के आधार पर लोकमान्य तिलक आचार्य चरणों का काल सप्तमशतक का अन्तिम चरण निर्धारित करते हैं।

"अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥"

इस एक श्लोक में आचार्य चरणों की अवतारलीला वर्णित है।

मुण्डकोपनिषद्भाष्य—आचार्यचरणों ने इस उपनिषद् का रहस्योद्घाटन ब्रह्म-जिज्ञासुओं को सुकरता से हो इसलिए संक्षिप्त भूमिका के रूप में सम्बन्धभाष्य लिखा है। आप स्पष्ट घोषणा करते हैं कि अविद्या के कारण ही परमात्मा के चिदानन्दस्वरूप पर आवरण पड़ता है, जिससे वह अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचानता। फलतः वह देहाभिमान से ग्रस्त होकर इन्द्रियजन्य वैषयिक सुखों में आसक्त होता है, जो नश्वर होते हैं और नश्वर सुखादि की कामना करता है। फलतः वह जन्म-मरणचक्र में पड़ता है। वह अविद्या आत्मा के स्वाभाविक सम्पूर्ण धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष स्वरूप चतुर्विध पुरुषार्थ का अवरोध करती है। अविद्या की निवृत्ति विद्या के अधीन है। उसके लिए गुरुकृपा आवश्यक है। अधिकारी गुरु योग्य शिष्य को वेदान्तदर्शन का उपदेश देते हैं और कहते हैं **'तत् त्वम् असि'** तुम (जीव) वही परमात्मा हो। तब शिष्य यह अनुभव करता है—**'अहं ब्रह्माऽस्मि'** मैं जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप ही हूँ, मैं उससे भिन्न नहीं हूँ अपितु उसी का अंश हूँ। ब्रह्मसाक्षात्कार की फलश्रुति अमृतत्वप्राप्ति है। इसमें श्रुति-स्मृति-इतिहास आदि ग्रन्थों के विभिन्न वचन प्रमाण हैं। 'उपनिषत्' शब्द निर्वचन भी इसका प्रकाशक है। ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है अथवा कर्म? यह प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्य शंकर कहते हैं कि कर्म को मोक्षसाधन मानना वेदविरुद्ध है। सकाम कर्म बन्धनकारक हैं। भगवान् को अर्पित कर्म बन्धनकारक नहीं होते। ब्रह्मविद्या मोक्षदायिनी होती है। ब्रह्मविद्या के अधिकारी देहाभिमानमुक्त संन्यासी होते हैं, गृहस्थ नहीं। सर्वसंगपरित्याग और सर्व-कर्मपरित्याग संन्यासियों को करना चाहिये, गृहस्थों को नहीं। इस दृष्टि से ज्ञानमार्ग संन्यासियों के लिए और कर्ममार्ग अन्य त्रैवर्णिकों के लिए है यही शंकरभगवत्पाद का सन्देश है।

विषयसूची

श्वेताश्वतरोपनिषद्

विषयः पृष्ठम्

तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः



॥ ॐ ॥

॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(शाङ्करभाष्य–तात्पर्यदीपिका-(हिन्दी) व्याख्यासंवलिता)

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

तात्पर्यदीपिका

प्रत्येक उपनिषद् के आदि अन्त में शान्तिपाठ का विधान है। मंत्रद्रष्टा ऋषि हमारे संकल्पित और प्रारब्ध कर्मों को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए शान्तिमंत्र के पाठ का विधान करते हैं।

भगवान् रामचन्द्रजी ने 'मुक्तिकोपनिषद्' में यह बतलाया है कि किस वेद में कितनी उपनिषदें हैं और उनके शान्तिपाठ का कौन मंत्र है? वह विवरण इस प्रकार है–

(१) ऋग्वेदगतानां दशसंख्याकानाम् उपनिषदां 'वाङ् मे मनःस्वि'ति शान्तिः।

(२) शुक्लयजुर्वेदगतानाम् एकोनविंशतिसंख्याकानाम् उपनिषदां 'पूर्णमद' इति शान्तिः।

(३) कृष्णयजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानाम् उपनिषदाम् 'सह नाववत्वि'ति शान्तिः।

(४) सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानाम् उपनिषदाम् 'आप्यायस्व' इति शान्तिः।

(५) अथर्ववेदगतानाम् एकत्रिंशत्संख्याकानाम् उपनिषदां 'भद्रं कर्णेभिः' इति शान्तिः।

इस विवरण के अनुसार ऋग्वेद के उपनिषदों की संख्या दस (१०) है, जिसका शान्तिमंत्र है–'वाङ् मे मनःसु' इत्यादि।

शुक्ल यजुर्वेद के उपनिषदों की संख्या उन्नीस (१९) है, जिसका शान्तिमंत्र है–'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि।

कृष्णयजुर्वेद के उपनिषदों की संख्या बत्तीस (३२) है, जिसका शान्तिमंत्र है–'सह नाववतु' इत्यादि।

सामवेद के उपनिषदों की संख्या सोलह (१६) है, जिसका शान्तिमंत्र है–'आप्यायस्व' इत्यादि।

अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या एकतीस (३१) है, जिसका शांन्तिमंत्र है–'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि।

इसप्रकार 'मुक्तिकोपनिषद्' में एक सौ आठ (१०८) उपनिषदों की गणना की गयी है।

यतः मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार कृष्णयजुर्वेद के बत्तीस (३२) उपनिषदों के आदि-अंत में 'सह नाववतु' इत्यादि शान्तिमंत्र के पाठ का विधान है और इस उपनिषद् के आदि-अन्त में वह उल्लिखित है, अतः श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद में समाविष्ट है।

ॐ (ओंकार) से शान्तिमंत्र का प्रारम्भ है, वेदारंभ ओंकार-जप से किया जाता है, क्योंकि ओंकार से ही वेदों की सृष्टि हुई है–'ओंकारप्रभवा वेदाः'। यह एकाक्षर मन्त्र परब्रह्म-परमात्मा का मंत्रशरीर है।

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के तारक ब्रह्मयोग नामक अष्टम अध्याय में अर्जुन की ब्रह्म-जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार करते हैं।–

ओमिस्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ (गीता ८।१३)

प्रयाणकाल में ब्रह्मस्वरूप ओंकार-मंत्र का जप करते हुए परमात्मा का ध्यान करने वाला जीव परमगति प्राप्त करता है, यह इस एकाक्षर मंत्रजप की महिमा है।

अन्वयपूर्वक शब्दार्थ

ॐ = ओंकारमंत्रस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, **नौ** = हम दोनों गुरु और शिष्य की, **सह** = साथ-साथ, **अवतु** = रक्षा करें।

नौ = हम दोनों गुरु और शिष्य का, **सह** = साथ-साथ, **भुनक्तु** = पालन-पोषण करें। (**आवां** = हम दोनों) **सह** = साथ-साथ, **वीर्यम्** = पराक्रम, **करवावहै** = प्रदर्शित करें।

नौ = हम दोनों गुरु और शिष्य का, **अधीतम्** = अध्ययन, **तेजस्वि** = तेजोमय, **अस्तु** = हो। (**आवां** = हम दोनों) **मा विद्विषावहै** = एक दूसरे से द्वेषभाव न रखें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः–वह ओंकारस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हम सब के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुःखों का शमन करे।

अथवा–इसकी दूसरी व्याख्या भी की जा सकती है। परब्रह्म परमात्मा सृष्टि करने के लिए शरीर धारण करता है। समष्टिशरीर में अवस्थित आत्मचैतन्य जीव कहलाता है। अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंचविध कोषों में वास करने

वाले जीव को सुख और दुःख की अनुभूति होती है। जब वह जीव स्थूलशरीर में रहता है, तब विश्वसंज्ञक होता है तथा अज्ञानपाशस्वरूप कर्ममल से आक्रांत रहता है। सूक्ष्म शरीर में रहने वाला जीव तैजस कहलाता है और वह आणवमल से ग्रस्त रहता है। इसी प्रकार कारणशरीर में विद्यमान जीव प्राज्ञ कहलाता है और वह मायीय मल (अज्ञान पाश) से आबद्ध रहता है। प्रणवस्वरूप परमात्मा इन त्रिविध मलों का परिशमन करे।

मन्त्रार्थ—ओंकारस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हम दोनों गुरु और शिष्य की एक साथ रक्षा करे। वह हम दोनों का साथ-साथ पालन-पोषण करे। हम दोनों गुरु और शिष्य समवेत रूप से शारीरिक और आध्यात्मिक बल प्राप्त करें और साथ-साथ उसका प्रदर्शन करें। हम दोनों की अर्जित विद्याएँ चारों दिशाओं में आलोकित हों। हम दोनों कभी भी द्वेष न करें। हमारे त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) तापों का शमन हो। हमारे त्रिविध अज्ञान मलपाशों का उच्छेद हो।



सम्बन्धभाष्यम्

शाङ्करभाष्यम्

ग्रन्थारम्भप्रयोजनम्—श्वेताश्वतरोपनिषद इदं विवरणमल्पग्रन्थं ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायाऽऽरभ्यते। चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषययाऽविद्यया स्वानुभवगम्यया साभासया प्रतिबद्धस्वाभाविकाशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषानर्थोऽविद्यापरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिं चाऽपुरुषार्थं पुरुषार्थं मन्यमानो मोक्षार्थमलभमानो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणः सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभेदितनानायोनिषु सञ्चरन् केनाऽपि सुकृतकर्मणा ब्राह्मणाद्यधिकारिशरीरं प्राप्त ईश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनाऽपगतरागादिमलोऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थभोगविराग उपेत्याऽऽचार्यमाचार्यद्वारेण वेदान्तश्रवणादिना 'ऽहं ब्रह्मास्मी'ति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोको भवति। अविद्यानिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य विद्याधीनत्वाद् युज्यते च तदर्थोपनिषदारम्भः।

तात्पर्यदीपिका

[आचार्य श्रीमान् आदिशङ्कर भगवत्पाद द्वारा विरचित भाष्य का सम्बन्धभाष्य संक्षिप्त भूमिका के रूप में है, जो ब्रह्म-जिज्ञासुओं को श्वेताश्वतरोपनिषद् का रहस्योद्घाटन सुगमता से हो, इसलिये प्रारम्भ में दिया गया है। इस का आशय इस प्रकार है—]

ग्रन्थप्रयोजन—यद्यपि आत्मा चित्स्वरूप, सत्स्वरूप और आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म के रूप में रहता है, तथापि उसका आश्रय लेकर और उसी को विषय बनाकर उसमें जो अविद्या रहती है और जो केवल अनुभव से जानी जाती है अर्थात् जीवात्मा को जो उसके अज्ञान का बोध कराती है, जिसका केवल चैतन्यस्वरूप आभास होता है, वह अविद्या उस आत्मा के स्वाभाविक सम्पूर्ण धर्म-अर्थ-काम-मोक्षस्वरूप चतुर्विध पुरुषार्थ का अवरोध करती है, फलतः उस आत्मा के सम्मुख सम्पूर्ण अनर्थ उपस्थित होते हैं, अविद्या द्वारा कल्पित साधनों से ही वह जो कामना करता है, वह वस्तुतः पुरुषार्थ नहीं होता और उसी को वह पुरुषार्थ समझ लेता है। क्योंकि चतुर्विध पुरुषार्थों में मोक्ष परम पुरुषार्थ है और अनिष्ट के पीछे भागने के कारण वह मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार समुद्र में मकर आदि जलचर उसे अपनी ओर खींचते हैं, उसी प्रकार राग-द्वेष आदि विकारों से वह इधर उधर खींचा जाता है। फलतः देव-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि नानाविध योनियों में विचरण करते हुए जब वह जीवात्मा किसी पुण्य प्रभाव से ब्रह्मविद्या

के अधिकारी ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ शरीर को प्राप्त करता है, तब ईश्वर (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए धर्म-कर्म करता है, जिससे उसमें अवस्थित राग-द्वेष आदि विकारों से उत्पन्न अज्ञान-मल दूर होते हैं, जीवात्मा संसार की अनित्यता आदि का साक्षात्कार करता है, जिससे उसके अन्तःकरण में ऐहिक और पारलौकिक वैषयिक भोगों के प्रति विराग उत्पन्न होता है। तब वह आचार्य-चरणों के निकट उपस्थित होता है और शिष्य के रूप में उपस्थित वह जीवात्मा वेदान्तदर्शन अथवा उपनिषद्-दर्शन के रहस्यों का श्रवण करता है, जिससे वह यह अनुभव करता है-'अहं ब्रह्माऽस्मि', मैं (जीव) ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मेरे से पृथक् नहीं है, मैं उस पूर्ण ब्रह्म का ही अंश हूँ। इस प्रकार ब्रह्म (परमात्मा) और जीवात्मा के तात्विक ज्ञान को समझ कर उसके अन्तःकरण का अज्ञान दूर होता है और वह अज्ञानतामूलक कार्यो से निवृत्त होता है।

परम पुरुषार्थ मोक्ष ही जीवन का परम लक्ष्य है। मोक्ष क्या है? अविद्या का आवरण दूर होना ही मोक्ष है और वह मोक्ष तब प्राप्त होता है, जब परा विद्या अर्जित की जाती है, इस प्रकार मोक्ष परा विद्या के अधीन है। और उसकी प्राप्ति के लिए उपनिषदों की सृष्टि युक्तियुक्त ही है।

शाङ्करभाष्यम्

"तथा तद्विज्ञानादमृतत्वम्। ....

एवं श्रुतिस्मृतीहासादिषु ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमाद् युज्यत एवोपनिषदारम्भः।"

तात्पर्यदीपिका

[शाङ्करभाष्य में "तथा तद् विज्ञानादमृतत्वम्" से लेकर "युज्यत एवोपनिषदारम्भः" तक अग्रिम प्रमाणवचनों द्वारा श्रुति, स्मृति, पुराणेतिहास आदि में ब्रह्मज्ञान को ही मुक्तिसाधन स्वीकार करते हुए आत्मज्ञान की महत्ता प्रतिपादित है, वह इस प्रकार है।]

आत्मज्ञान की महत्ता

तथा तद्विज्ञानादमृतत्वम्-उस परब्रह्म परमात्मा के परम तत्त्व ज्ञान से मनुष्य को अमरत्व की प्राप्ति होती है अर्थात् वह पुनः जन्म-मरणचक्र में नहीं पड़ता। (उसमें श्रुति-स्मृति-इतिहास आदि के विभिन्न वचन प्रमाण है।)

'नृसिंह पूर्वतापिनी' (१।६) कहती हैं-'तमेवं विद्वानमृत इह भवति', उस ब्रह्म तत्त्व को जानने वाला अमर, मुक्त होता है। (इसी उपनिषद् में कहा गया है-) 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ६।१५)। मोक्षमार्ग जाने के लिए ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। केनोपनिषद् (२।५) कहती है- 'न चेदिहाऽवेदीन्महती विनष्टिः'।

यदि उसे अच्छी तरह नहीं पहचाना, तो बड़ी भारी हानि होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१४ के अनुसार 'य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति' जो उस परब्रह्म परमात्मा को समझ लेते हैं, वे अमर, मुक्त होते हैं। पुनश्च वह उपनिषद् प्रश्न करती है– 'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्' (बृ. उ., ४।४।१२) क्या इच्छा करते हुए, किस कामना के लिए शरीर को तापदग्ध करें। क्योंकि 'तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' (बृ. उ. ४।४।२३), उस परमात्मतत्त्व को जानने पर कोई पापकर्म में लिप्त नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषत् (७।१।३) कहती है–'तरति शोकमात्मवित्', परब्रह्म-परमात्मा का तत्त्वज्ञानी शोकसागर को पार कर जाता है। कठोपनिषत् (१।३।१५ कहती है–'निचाय्य तन्मृत्यु-मुखात् प्रमुच्यते', ब्रह्मतत्त्वज्ञानी मृत्यु के मुख से छूट जाता है। 'मुण्डकोपनिषद्' (२।१।१०) कहती है–"एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य!", 'हे सौम्यस्वभाव के शिष्य! हृदयरूपी गुफा में अवस्थित इस चित्स्वरूप परमात्मा का जो साक्षात्कार करता है, वह अविद्यारूप ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न करता है।' वही उपनिषद् आगे कहती है–

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥" (२।२।८)

परावरे = ब्रह्मादि देवों में भी सर्वश्रेष्ठ, तस्मिन् = उस तुरीय परब्रह्म-परमात्मा का, दृष्टे (सति)= साक्षात्कार करने पर, हृदयग्रन्थिः = अन्तःकरण का अज्ञानरूप-बन्धन, भिद्यते = कट जाता है, सर्वसंशयाः = सभी प्रकार के संशय, छिद्यन्ते = मिट जाते हैं। अस्य च = और उस जीव के, कर्माणि = पाप-पुण्य कर्म, क्षीयन्ते= नष्ट हो जाते हैं।

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥" (मु. उ. ३।२।८)

यथा = जिस प्रकार, स्यन्दमानाः = प्रवाहित होने वाली, नद्यः = नदियां, नामरूपे = अपना नाम और रूप, विहाय = छोड़कर, समुद्रे = समुद्रप्रवाह में, अस्तं गच्छन्ति = विलीन होती हैं, तथा = उसी प्रकार, विद्वान् = ब्रह्मज्ञानी, नामरूपात् = अपने नाम और रूप के बन्धन से, विमुक्तः = छूटकर, परात्परम् = परात्पर, सर्वोच्च, दिव्यं पुरुषम् = दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा को, उपैति = प्राप्त करता है।

"स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति" (मु. उ. ३।२।९),

और जो उस तुरीय परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, वह स्वयं ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है।

प्रश्नोपनिषद् (४।१०) कहती है–"स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य!, स सर्वमवैति।"

'हे सौम्य! वह परब्रह्म परमात्मा छायारहित है, उसका कोई शरीर नहीं है, उसका वर्ण रक्त नहीं है, वह शुभ्र वर्ण है और क्षरणहीन है, उसका जो साक्षात्कार करता है, वह सर्वज्ञ होता है।'

वही उपनिषद् आगे कहती है–"तं वेद्यं पुरुषं वेद, यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः" (प्र. उ. ६।६)। 'वही परम-पुरुष साक्षात्कारयोग्य है, उसी का साक्षात्कार करो, जिससे मृत्यु-कष्ट प्राप्त न हो।'

ईशावास्योपनिषद् (७) कहती है–"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"। 'जो जीव परब्रह्म परमात्मा से एकात्मता का अनुभव करता है, उसके लिए क्या मोह है और क्या शोक है?'

विद्ययाऽमृतमश्नुते (ईशा उ. ११)–'क्योंकि वह जीव पराविद्या प्राप्ति से अमृत का उपभोग करता है, अमर, मुक्त हो जाता है।'

केनोपनिषद् (२।५) कहती है–"भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्ति,"–'धैर्यशाली ब्रह्मज्ञानी सभी प्राणियों में उस परम तत्त्व का साक्षात्कार कर परलोक-प्रयाण करने पर अमर, मुक्त हो जाते हैं।'

"अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति" (के. उ. ४।९), 'जो परा विद्या को जानता है, वह पापकर्मों से मुक्त होकर अन्तरहित श्रेष्ठ स्वर्गलोक (स्वयं प्रकाश परब्रह्म) में प्रतिष्ठित होता है।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है–"तन्मया अमृता वै बभूवुः" (श्वेता. उ. ५-६), 'ब्रह्म साक्षात्कार में लीन ब्रह्मज्ञानी अमृत, मुक्त हो गए।'

"तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः" (श्वेता. उ. २।१४)-शरीर का आश्रय लेने वाला जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न, एक है। इस तत्त्व का चिन्तन कर जीवात्मा कृतकृत्य और शोकमुक्त होता है।'

"ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति".... "तदेवोपयन्ति" (श्वेता. उ. ३।७)-उस परमात्मा का साक्षात्कार करने पर जीव अमर, मुक्त होते हैं।

"तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति" (श्वेता. उ. ४।१५) उस परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान करने पर जीवात्मा मृत्यु के पाशबन्धनों की काट डालता है।

"ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तं विदुः" (श्वेता. उ. ५।६) पहले जिन देवताओं और ऋषियों ने ब्रह्मसाक्षात्कार किया, वे मुक्त हो गए।

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।१४) यही कहती है–जो इस ब्रह्मतत्त्व को जानते हैं, वे अमृत, जरा-मरणरहित, मुक्त हो जाते हैं।

कठोपनिषद् (१।१।१७) कहती है–"निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति"। परब्रह्म-परमात्मा को हृदयंगम करने पर जीवात्मा परमशान्ति की प्राप्ति करता है।

"तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्" (क. उ. २।२।१३) "ब्रह्मज्ञानियों को ही शाश्वत शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।"

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है–

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते"(२।५०) जो समता की बुद्धि रखता है, वह जीवात्मा इसी लोक में पाप और पुण्य दोनों कर्मफल छोड़ देता है।

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम्॥" (२।५१)

समत्व-बुद्धि-सम्पन्न मनीषी जीव पाप-पुण्य कर्मों से उत्पन्न फल को छोड़कर, जन्म-बन्धन से मुक्त होते हैं और उस परम पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ कोई विकार (रोग) नहीं रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि"–अर्जुन, तुम ज्ञानरूपी नौका से समस्त पापों को पार करोगे।'

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।" (४।३६-३७)–ज्ञानरूपी प्रज्वलित अग्नि जीव के समस्त संचित और क्रियमाण पाप-पुण्य कर्मों के फलों को राख कर देता है।

"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत!" (१५।२०)–अर्जुन! इस रहस्य को समझ कर मनुष्य को ब्रह्मज्ञानसम्पन्न और कृतकृत्य होना चाहिए।

"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।" (१८।५५) जो जीव मुझे (परम-परमात्मतत्त्व को) जानता है, उसका मेरे में ही (परब्रह्म में ही) विलय होता है।

(अन्य पुराण-वचन भी ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा जीवात्मा के अमृतत्वप्राप्ति का समर्थन करते हैं। वे इस प्रकार हैं–)

"सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं यतः॥"

सभी प्रकार के ज्ञानों में आत्मसाक्षात्कारविषयक ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है, वह सभी विद्याओं में अग्रगण्य है, क्योंकि उस पराविद्या से अमृतत्त्वप्राप्ति होती है।

"एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति सनातनम्॥"

इस प्रकार जो सभी प्राणियों में स्वयं परमात्मसाक्षात्कार करता है, स्वयं एकात्मकता का अनुभव करता है, वह जीवात्मा सभी प्राणियों में समत्त्वबुद्धि स्थापित करते हुए सनातन ब्रह्मपद प्राप्त करता है।

''सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥''

सम्यक् दृष्टि से युक्त मनुष्य कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता और जो सम्यक्दृष्टि से शून्य होता है, वह सांसारिक बन्धन में पड़ता है।

''कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥''

जन्म लेने वाला प्राणी कर्म के पाश से बँध जाता है और परा विद्या के द्वारा वह उस पाशबन्धन से मुक्त होता है। इसलिए उस परम तत्त्व के पारदर्शी यम-नियमों का पालन करने वाले संन्यासी सांसारिक कर्मों से विरत रहते हैं।

ज्ञानं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वपातकैः॥

परमात्मतत्त्व का निश्चयात्मक ज्ञान रखने वाले वृद्ध आचार्य ज्ञान को ही निःश्रेयस (मोक्ष-साधन) कहते हैं, और जीव शुद्ध ज्ञान के द्वारा सर्वविध पातकों से छूट जाता है।

''एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यम्।
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था-
स्तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः॥''

इस प्रकार मृत्यु की अवश्यंभाविता को समझकर ज्ञानी विद्वान् उस विशुद्ध ज्ञान से नित्य ब्रह्मतेज को प्राप्त करता है। उसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य मार्ग नहीं होता। ब्रह्मसाक्षात्कार करने पर क्रान्तद्रष्टा (कवि) अत्यन्त प्रसन्न निर्मल-अन्तःकरण-सम्पन्न होता है।

''क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद् विशुद्धिः परमा मता''—देहधारी जीवात्मा को जब परमात्मा का साक्षात्कार होता है, तब उस आत्मसाक्षात्कार से उसकी आत्यन्तिक शुद्धि होती है।

''अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥''—समाधियोग से आत्म-साक्षात्कार करना जीवात्मा का परम धर्म है।

''आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो न बिभेति कुतश्चन।
मृत्योः सकाशान्मरणादथवाऽन्यकृताद् भयात्॥''

ब्रह्मज्ञानी जीव जब शोकसागर को पार करता है, काल की निकटता से, मृत्यु से अथवा अन्य कारण से उत्पन्न भय से, किसी भी कारण से भयभीत नहीं होता।

''न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः।
न वध्यो बन्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः॥
पुरुषः परमात्मा तु यदतोऽन्यदसच्च तत्।''

जीवात्मा परम पुरुष परमात्मा का अंश है, उसका न तो जन्म होता है और न मृत्यु। वह किसी के द्वारा न तो बाँधा जा सकता है और न किसी को बन्धन में डालता है। न तो वह मुक्त है और न किसी को मोक्ष प्रदान करता है। परम-पुरुष परब्रह्म परमात्मा मात्र सत्स्वरूप है, उससे भिन्न जो कुछ अन्य है, वह असत् है।

''एवं श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमाद् युज्यत एवोपनिषदारम्भः।''

इस प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराणेतिहास आदि विषयक ग्रन्थों में परा विद्या के द्वारा ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष का साधन समझा जाता है, अतः उपनिषदों का उपक्रम युक्तियुक्त ही है।

शाङ्करभाष्यम्

उपनिषत्समाख्ययाऽपि ज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनत्वम्-**किंचोपनिषत्समाख्ययैव ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थसाधनत्वमवगम्यते। तथाहि—उपनिषदित्युपनिपूर्वस्य सदेर्विशरणगत्यवसादनार्थस्य रूपमाचक्षते। उपनिषच्छब्देन व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। तादर्थ्याद् ग्रन्थोऽप्युपनिषत्। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दितविद्यां तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद् विनाशात् परब्रह्मगमयितृत्वाद् गर्भजन्मजरामरणाद्युपद्रवावसादयितृत्वादुपनिषत्समाख्ययाऽप्यन्यकृतात् परं श्रेय इति ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते।**

तात्पर्यदीपिका

उपनिषद्-नामनिर्वचनः—पुनश्च, 'उपनिषद्' इस नाम से भी उसके योगलभ्य अर्थ का प्रकाशन होता है और उसके द्वारा ब्रह्मज्ञान को ही परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन समझा जाता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए। 'उपनिषद्' शब्द उप और नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से निष्पन्न है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण (काटना), गति और अवसादन (अन्त)। 'उपनिषद्' शब्द द्वारा उस परा विद्या का प्रतिपादन होता है, जो इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है और निबन्धकार जिसकी व्याख्या आगे करना चाहता है।

यतः उस परा विद्या का प्रतिपादन ही ग्रन्थनिर्माण का प्रयोजन है, अतः वह ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाताहै। जो मोक्ष की इच्छा रखने वाले जीव प्रथम प्रत्यक्ष-विषयों में और अनन्तर आनुश्रविक-वैदिक यज्ञ-यागादि में मोक्ष का अन्वेषण करते हैं और उनसे मोक्ष न प्रास होने पर 'उपनिषद्' शब्द से संकेतित ब्रह्मविद्या का निष्ठापूर्वक अनुशीलन करते हैं। फलतः उन्हें यह ज्ञान होता है कि संसार का मूलबीज अविद्या है। इस प्रकार 'उपनिषद्' संसार के बीजस्वरूप अविद्या का विशरण अर्थात् विनाश करती है। वह

उपनिषद् उन्हें (मोक्षकामियों को) परब्रह्म तक पहुँचाती है, उनके गर्भजन्य, जन्म से उत्पन्न, वृद्धावस्था से प्रकट तथा मृत्युजनित बाधाओं का अवसादन करती है। इस प्रकार नामनिर्वचन की दृष्टि से 'उपनिषद्' नाम सार्थक है एवं अन्य साधनों से श्रेष्ठ है इसलिए ब्रह्मविद्या को 'उपनिषद्' कहते हैं, जो युक्तियुक्त ही है।

शाङ्करभाष्यम्

कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वमित्याक्षेपः—**ननु भवेदेवमुपनिषदारम्भो यदि विज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं भवेत्। न चैतदस्ति, कर्मणामपि मोक्ष-संाधनत्वावगमात्—''अपाम सोमममृता अभूम।'' ''अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'' इत्यादिना।**

तात्पर्यदीपिका

पूर्वपक्ष—'ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है अथवा कर्म मोक्ष का साधन है?' यह प्रश्न उपस्थित होने पर कुछ लोग कर्म को ही मोक्ष का साधन मानते हैं, ज्ञान को नहीं। वे कहते हैं—उपनिषदों की उपादेयता तभी है, जब केवल ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का साधन हो। क्योंकि उपनिषद् ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करती हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। 'कर्म भी मोक्ष-साधन है' ऐसा श्रुति कहती है।

एक श्रुतिवचन है—**''अपाम सोमममृता अभूम''** एक श्रौतयाग (सोमयाग) में अमृतपान का विधान है। इस श्रुतिवचन का अर्थ है—'यतः हमने सोमपान किया, अतः हम अमर हो गए।'

दूसरा श्रुतिवचन है—**''अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति''**। इसका अर्थ है—चातुर्मास्येष्टि याग करने वाले को अक्षय पुण्यफल प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेक श्रुतिवचन कर्मों को भी मोक्षसाधन स्वीकार करते हैं, केवल ब्रह्मज्ञान को नहीं। अतः उपनिषदों का उपक्रम व्यर्थ है।

शाङ्करभाष्यम्

उक्ताक्षेपनिरासः—**''न त्वेतदस्ति .... येन त्यजसि तत् त्यज।''**

तात्पर्यदीपिका

सिद्धान्तपक्ष—न त्वेतदस्ति, श्रुतिस्मृतिविरोधान्न्यायविरोधाच्च। श्रुतिविरोध-स्तावत्—परन्तु ऐसा नहीं है, कर्मों को मोक्ष साधन स्वीकार करना वेद-विरुद्ध है और यह युक्तिसङ्गत भी नहीं है। जो श्रुतिवचन इसका विरोध करते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(छान्दोग्य उपनिषद् कहती है-)''तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते'' (छा. उ. ८।१।६)।

जिस प्रकार यह कर्मों द्वारा अर्जित लोक नष्ट होता है, उसी प्रकार पुण्यों द्वारा अर्जित लोक भी नष्ट होता है।

(नृसिंह पूर्वतापिनी उपनिषद् कहती है)–"तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (नृसिंह पूर्व १।१६)।

'ब्रह्म साक्षात्कार करनेवाला विद्वान् इस लोक में अमर, मुक्त होता है।'

(श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है)–"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता उ. ६।१५)।

'ज्ञानमार्ग के अतिरिक्त मोक्षप्राप्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है।'

(कैवल्य उपनिषद् कहती है)–"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कै. ३)।

'कई लोगों ने जो अमरत्व का उपभोग किया है, वह न तो कर्म से किया है, न सन्ततिप्राप्ति द्वारा किया है और न धनार्जन से किया है, उन्होंने केवल त्याग से अमरत्व का उपभोग किया है।'

(मुण्डकोपनिषद् कहती है)–

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपियन्ति॥"
(मु. उ. १।२।७)

यज्ञरूपी वे नौकाएँ अत्यन्त कमजोर हैं, जिनका अनुष्ठान सोलह ऋत्विक्, यजमान और यजमान पत्नी सम्मिलित रूप से करते हैं। अठारह (१८) लोगों द्वारा अनुष्ठित यह कर्म अस्थिर होने के कारण निकृष्ट है। जो मूर्ख यज्ञानुष्ठान को ही श्रेयस्कर मानकर आनन्दित होते हैं, वे पुनः जरा-मरणचक्र में पड़ते हैं।

"नास्त्यकृतः कृतेन" (मु. उ. १।२।१२)। 'संसार और उसके सभी पदार्थ अनित्य हैं, कर्मानुष्ठान अनित्य फल प्रदान करते हैं। ब्रह्म नित्य है, उसकी प्राप्ति के लिए कर्मानुष्ठान की क्या आवश्यकता है?'

(स्मृतिवचन भी कर्ममार्ग से मोक्षप्राप्ति का विरोध करते हैं। वे वचन इस प्रकार है)–

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥"

'सांसारिक कर्मानुष्ठान से जीव बन्धन में पड़ता है और परा विद्या के द्वारा मुक्त होता है। अत एव ब्रह्मज्ञानी सांसारिक कर्मानुष्ठान नहीं करते।'

"अज्ञानमलपूर्णत्वात् पुराणो मलिनः स्मृतः।
तत्क्षयाद् वै भवेन्मुक्तिर्नाऽन्यथा कर्मकोटिभिः॥"

जीव जब अज्ञानमल से आवृत होता है, उसके कारण पुराना और मलिन माना जाता है। अज्ञानमल का आवरण हटने से ही जीव की मुक्ति होती है और वह आवरण परा विद्या के द्वारा हटता है। नानाविध करोड़ो कर्मों द्वारा जीव की मुक्ति नहीं होती।

"प्रजया कर्मणा मुक्तिर्धनेन च सतां न हि।
त्यागेनैकेन मुक्तिः स्यात्तदभावे भ्रमन्त्यहो!॥"

सत्पुरुषों को मोक्षप्राप्ति न संतति द्वारा होती है और न कर्मानुष्ठान से होती है और न धनार्जन से होती है। केवल त्याग करने से ही उनकी मुक्ति होती है और त्याग के अभाव में वे पुनः संसार में भटकते रहते हैं।

"कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तथानुयन्ति न तरन्ति मृत्युम्।"

सांसारिक कर्मों के अनुष्ठान से सांसारिक अनित्य फल की प्राप्ति होती है, फलस्वरूप उन कर्मों के प्रति आसक्ति बढ़ती है और वे उन्हीं का अनुसरण करते हैं तथा जन्म-मरणचक्र में पड़ते हैं और मृत्यु को पार नहीं कर सकते। उन्हें अमरत्व (मोक्ष) प्राप्ति नहीं होती।

"ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः।"

ब्रह्मज्ञानी विद्वान् अपने ज्ञान के बल से नित्य तेजःपुञ्ज को प्राप्त करता है। उसके सम्मुख मोक्षप्राप्ति का अन्यमार्ग नहीं होता।

"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।" (गीता ९।२१)

इस प्रकार केवल वैदिक कर्मानुष्ठान में आसक्त सकाम जीव संसार में आवागमन करते हैं, उन्हें मोक्ष नहीं मिलता।

"श्रमार्थमाश्रमाश्चापि वर्णानां परमार्थतः॥"

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वर्णों के लिए विहित ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये भी केवल परिश्रम के लिए हैं। अर्थात् वेदसम्मत वर्णाश्रमधर्म में विहित कर्मानुष्ठान मोक्ष का साधन नहीं होते, परा विद्या मोक्ष का साधन होती है।

"आश्रमैर्न च वेदैश्च यज्ञैः सांख्यैर्व्रतैस्तथा।
उग्रैस्तपोभिर्विविधैर्दानै - र्नानाविधैरपि।
न लभन्ते तमात्मानं लभन्ते ज्ञानिनः स्वयम्॥"

देहधारी जीवात्मा ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्मपालन, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान सांख्यदर्शन-सम्मत प्रकृति-पुरुषविवेचन, नानाविध व्रताचरण, उग्र तपश्चरण अथवा विभिन्न दानों के द्वारा परम पुरुष का साक्षात्कार नहीं कर सकते। केवल ब्रह्मज्ञानी ही उस परमतत्त्व को प्राप्त करते हैं।

"त्रयीधर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसंनिभम्।
नास्ति तात! सुखं किञ्चिदत्र दुःखशताकुले॥
तस्मात् मोक्षाय सतता कथं सेव्या मया त्रयी?॥"

केवल त्रयीधर्म (वैदिक कर्मानुष्ठान) अधर्म का कारण होता है। वह उस किंपाक (सेमर) के फल के समान होता है, जो ऊपर से सुन्दर होता है, परन्तु उसमें कोई सार नहीं होता। हे तात! यह कर्मकाण्ड सैकड़ों दुःखों से भरा हुआ है, इसमें जरा भी सुख नहीं है। मैं मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हूँ, अतः केवल वैदिक कर्ममार्ग का मैं किस प्रकार आश्रय ले सकता हूँ?

"अज्ञानपाशबद्धत्वादमुक्तः पुरुषः स्मृतः।
ज्ञानात् तस्य निवृत्तिः स्यात् प्रकाशात् तमसो यथा।
तस्माज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यादज्ञानस्य परिक्षयात्॥"

यतः जीव अज्ञानपाश के बन्धन में पड़ा रहता है, अतः उसे मुक्त नहीं माना जाता। उस अज्ञानपाश से छुटकारा उसे ज्ञानप्राप्ति से ही मिलता है। जिस प्रकार अंधेरा प्रकाश से दूर होता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान दूर होता है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने के कारण ही मुक्ति मिलती है। (कर्ममार्ग से अज्ञानमल का क्षय नहीं होता।)

"व्रतानि दानानि तपांसि यज्ञाः सत्यं च तीर्थाश्रमकर्मयोगाः।
स्वर्गार्थमेवाऽशुभमध्रुवं च ज्ञानं ध्रुवं शान्तिकरं महार्थम्॥"

व्रत, दान, तपश्चरण, यज्ञानुष्ठान, सत्य, तीर्थाटन, आश्रम आदि सकाम कर्मयोग मात्र स्वर्गप्राप्ति के साधन हैं। यतः स्वर्ग अनित्य है, अतः ये सभी अशुभ और अनित्य हैं। केवल एक ज्ञान ही परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन और परम शान्तिकर है।

"यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति तपोभिर्ब्रह्मणः पदम्।
दानेन विविधान् भोगान् ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्॥"

मनुष्य यज्ञों द्वारा देवत्व प्राप्त करता है, यज्ञानुष्ठान से ब्रह्मपद प्राप्त करता है, दान द्वारा विविध उपभोग करता है और ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है।

"धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः।
द्वयं ज्ञानासिना छित्त्वा विदेहः शान्तिमृच्छति॥"

मनुष्य धर्म के पाश से ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है और पाप के पाश से अधोगति। जो देहाभिमान से मुक्त होता है, वह विदेह ज्ञान की तलवार से धर्म और अधर्म (पाप) दोनों पाश काट डालता है और शान्ति पाता है।

"त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥"

देहाभिमानी जीव! तुम धर्म-अधर्म दोनों का परित्याग करो, सत्य असत्य दोनों की अभिमानभावना का परित्याग करो। जिस त्याग के अभिमान से जो छोड़ते ही, उसे भी छोड़ दो। अर्थात् सर्वकर्मपरित्यागपूर्वक ब्रह्मज्ञान में लीन हो जाओ।

शाङ्करभाष्यम्

एवं श्रुतिस्मृतिविरोधान्न कर्मसाधनममृतत्वं न्यायविरोधाच्च। कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विधक्रियान्तर्भावादनित्यत्वं स्यात्। ''यत्कृतकं तदनित्यमि''ति कर्मसाध्यस्य नित्यत्वादर्शनात्। नित्यश्च मोक्षः सर्ववादिभिरभ्युपगम्यते। तथा च श्रुतिश्चातुर्मास्यप्रकरणे–'प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतमि'ति। किंच, सुकृतमिति सुकृतस्याऽक्षयत्वमुच्यते। सुकृतशब्दश्च कर्मणि। नन्वेवं तर्हि कर्मणां देवादिप्राप्तिहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वमेव। सत्यम्, स्वतो बन्धहेतुत्वमेव।

तात्पर्यदीपिका

इस प्रकार श्रुति और स्मृतियों के वचन कर्मों के अमृतत्व साधन के प्रतिकूल है। न्याय अर्थात् युक्तियां भी इसके अनुकूल नहीं हैं। यदि मोक्ष को कर्मसाध्य स्वीकार करते हैं, तो मोक्ष को चतुर्विध क्रियाओं में अन्यतम क्रिया का फल स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि चार प्रकार के क्रियाफल होते हैं–(१) उत्पाद्य, (२) विकार्य, (३) संस्कार्य और (४) प्राप्य।

(१) उत्पाद्य– जो वस्तु अपनी नहीं होती उसे उत्पत्ति के योग्य बनाना उत्पाद्य क्रियाफल है। जैसे–मिट्टी से घडे का बनाना। घड़ा पहले नहीं रहता, उसे मिट्टी से बनाना यह उत्पाद्य क्रियाफल है।

(२) विकार्य–एक वस्तु को दूसरे वस्तु के रूप में बदलना विकार्य क्रियाफल है। जैसे–सुवर्ण से जो हार बनता है, उस हार को तोड़कर, सोना गला कर फिर उससे कंगन बनाना विकार्य क्रियाफल है।

(३) संस्कार्य–मूलतः अपरिष्कृत वस्तुओं को परिष्कृत करना संस्कार्य क्रियाफल है। जैसे–यदि दर्पण में मैल जमा हो, तो उसकी गंदगी दूरकर उसे स्वच्छ, निर्मल करना संस्कार्य क्रियाफल है।

(४) प्राप्य–जो वस्तु प्राप्त न हो उसे क्रिया द्वारा प्राप्त करना प्राप्य क्रियाफल है। मोक्ष को कर्मसाध्य मानने पर मोक्ष को क्रिया का फल मानना होगा और उसे अनित्य स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि क्रियासाध्य वस्तु नित्य दृष्टिगोचर नहीं होती, जब सभी दार्शनिक मोक्ष को नित्य मानते हैं।

चातुर्मास्ययाग के प्रसंग में मोक्ष को नित्य माननेवाला श्रुतिवचन भी इसमें प्रमाण है–

''प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्याऽमृतम्''–'हे मर्त्य! तुम पुनः पुत्ररूप में उत्पन्न होते हो, यही तुम्हारा अमरत्व है।'

'सुकृतम्' इत्यादि द्वितीय श्रुतिवचन भी इसका समर्थन करता है, जो इस प्रकार है–"अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।" इस श्रुतिवचन में 'सुकृत' शब्द का अर्थ समीचीन क्रिया है। इस श्रुति का आशय इस प्रकार है–'चातुर्मास्य इष्टि करने वाले यजमान का सुकृत समीचीन कर्मानुष्ठान अक्षय होता है, वह कभी क्षीण नहीं होता।' इस श्रुतिवचन में 'सुकृत' की 'अक्षयता' स्वीकार करते हुए 'सुकृत' शब्द का प्रयोग 'समीचीन कर्म' अर्थ में किया गया है। इस प्रकार अब वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'सभी कर्म देव आदि के साक्षात्कारसाधन होते हैं, अतः बन्धनकारक हैं।' और यह ठीक ही है। कर्म वास्तव में बन्धनकारण है और इसमें विविध श्रुतिवचन प्रणाम भी हैं।

शाङ्करभाष्यम्

"तथा च श्रुतिः.........................गतागतं कामकामा लभन्ते"

तात्पर्यदीपिका

जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है–"तथा च श्रुतिः कर्मणा पितृलोकः" (बृ. उ. १।५।१६)– "कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है।"

छान्दोग्य उपनिषद् कहती है–"सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा. उ. २।२३।१)– "ये सभी पुण्यलोकों के अधिकारी होते हैं।"

मुण्डकोपनिषद् कहती है–

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नाऽन्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥"

(मु. उ. १।२।१०)

जो लोग अग्निहोत्र, तपश्चरण, सत्य, वेदाध्ययन, अतिथिसत्कार और वैश्वदेव इन वेदविहित 'इष्ट' कर्मों को वापी-कूप तडागादि निर्माण, अन्नदान आदि स्मृतिप्रतिपादित 'पूर्त' कर्मों को श्रेयस्कर मानते हैं और आत्मसाक्षात्कार को श्रेयस्कर नहीं मानते, वे मूढ-अज्ञानी होते हैं। वे अपने-अपने सुकृत-पुण्यकर्म के अनुसार स्वर्गफल प्राप्त करते हैं और वह फल क्षीण होने पर पुनः अत्यंत निम्न योनियों में जन्म लेते हैं अथवा नरकयातना सहते हैं।

"एवं कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः"–इस प्रकार कर्मफलों के प्रति जो आसक्ति नहीं रखते, वे ही पारदर्शी, ब्रह्मसाक्षात्कारकर्ता होते हैं।

"विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः।"–परब्रह्म-परमात्मा परा-विद्या-स्वरूप है, कर्मस्वरूप नहीं है।

गीता कहती है–"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते" (गीता ९।२१) इति।

इस प्रकार केवल वेदसम्मत धर्म (कर्ममार्ग) का आश्रय लेने वाले सकाम जीवात्मा जन्म-मरणचक्र में पड़ कर संसार में आवागमन करते रहते हैं।

(इस प्रकार सकाम कर्म मोक्ष साधन नहीं होता यह अनेक श्रुति-स्मृतिवचनों से प्रमाणित है।)

शाङ्करभाष्यम्

"यदा पुनः फलनिरपेक्षम् ....विमुक्तो मामुपैष्यसि॥" (गीता ९। २७-२८) इति।

तात्पर्यदीपिका

"यदा पुनः फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्माऽनुतिष्ठन्ति तदा मोक्षसाधनज्ञान-साधनान्तःकरणशुद्धिसाधनपारम्पर्येण मोक्षसाधनं भवति।"

और जब कोई देहधारी जीव बिना कर्मफल की अपेक्षा रखे केवल ईश्वर-परब्रह्म परमात्मा के लिए निष्काम कर्मानुष्ठान सम्पन्न करते हैं, तब वे कर्मपरम्परा से मोक्षसाधन होते हैं। क्योंकि प्रधानरूप में मोक्ष का साधन ज्ञान है, वह ज्ञान तभी होता है जब अन्तःकरण शुद्ध निर्मल हो। इस प्रकार अन्तःकरण की शुचिता ब्रह्मज्ञान का साधन है। इस प्रकार जब ज्ञानप्राप्ति से अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब वह परम्परा से निष्काम कर्म मोक्ष का साधन बनता है।

तथाऽऽह भगवान्-

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाऽम्भसा॥" (गीता ५।१०)

इसी प्रकार भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के बहाने जीवमात्र को यह उपदेश देते हैं-जो जीवात्मा अपने समस्त कर्मों के फलों को परमात्मा को निवेदित कर सर्व-कर्मफल परित्याग कर अनासक्त भाव से निष्काम कर्म करता है, वह उसी प्रकार पापलिप्त नहीं होता, जिस प्रकार जल में रहने वाला कमल का पत्र जल में रहने पर भी जलबिन्दु से अलग रहता है।

"कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥" (गीता ५।११)

समाधियोग में निरत संन्यासी शरीर, मन, बुद्धि अथवा केवल पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रियों द्वारा आसक्ति का परित्याग कर अन्तःकरण को निर्मल करने के लिए निष्काम कर्म करते रहते हैं।

"यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥" (गीता ९।२७)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! (जीव!) तुम जो भी कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते-पीते हो, जो कुछ यज्ञानुष्ठान अथवा देवपूजन आदि करते हो, जो कुछ तपश्चरण करते हो, वह सब मुझे (परब्रह्म परमात्मा को) समर्पित करो, (जो जीवात्मा के रूप में प्राणिमात्र के अन्तःकरण-गुफा में सतत वास करता है।)

"शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥" (गीता ९।२८)इति।

जीव! इस प्रकार सभी कुछ मुझे (परब्रह्म-परमात्मा) को समर्पित करने से तुम समस्त शुभ (पुण्य)-अशुभ (पाप) कर्मों के बन्धनों से मुक्त होगे। समाधियोग द्वारा अपने अन्तःकरण को एकाग्र करते हुए जीवित अवस्था में ही विदेहस्थिति प्राप्त करोगे, जीवन्मुक्त, विदेह बन जाओगे। देहपात के पश्चात् जन्म-मरणचक्र से मुक्त होकर केवल मुझे (परब्रह्म) को ही प्राप्त करोगे। (क्योंकि अनासक्त योगी जीवन्मुक्त रहता है और देहपात होने पर परब्रह्म-परमात्मतेज में उसका विलय होता है।)

इस प्रकार निष्काम कर्म भी परम्परया मोक्षसाधन है और श्रुति-स्मृति-वचन इस तथ्य का समर्थन करते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

"तथा च मोक्षे ....
.... आत्मज्ञानस्य न क्षमः॥"

तात्पर्यदीपिका

तथा च मोक्षे क्रमं शुद्ध्यभावे मोक्षाभावं कर्ममिश्रं तच्छुद्धिं दर्शयति श्रीविष्णुधर्मे-

इसी प्रकार श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण में मोक्ष में क्रम को प्रदर्शित किया गया है। साथ ही अन्तःकरण की निर्मलता न होने पर मोक्ष प्राप्त नहीं होता और अन्तःकरण की निर्मलता निष्काम कर्म से होती है यह भी प्रदर्शित किया गया है।

"अनूचानस्ततो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम्।
ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत्॥"

इस पद्य में क्रमशः मोक्ष प्राप्ति को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए पाँच प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करना चाहिए।

(१) अनूचानः-'अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती गुरोस्तु यः' इस परिभाषा के अनुसार गुरुजनों से जो वेद का उसके छः अङ्गों के साथ अध्ययन करता है, वह शिष्य 'अनूचान' कहलाता है।

(२) यज्वा-'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इस परिभाषा के अनुसार जो विधिपूर्वक यज्ञ-याग सम्पन्न करता है, वह 'यज्वा' कहलाता है।

(३) कर्मसंन्यासी-सांसारिक कर्मफलों को अनित्य समझ कर सकाम कर्मों का परित्याग करने वाला 'कर्मसंन्यासी' कहलाता है।

(४) ब्रह्मज्ञानी-उक्त तीन स्तरों को पार करने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है और वही परा विद्या के मर्म को समझता है।

(५) योगी–परा-विद्या (मंत्रविद्या) को अपने वश में कर फिर वह समाधियोग लगाता है।

इस प्रकार पांच सोपानों को चढ़कर योगी को क्रमशः मोक्ष प्राप्त होता है।

"अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये।
नाऽक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः॥"

देहधारी जीव अनेक योनियों में जन्म लेते हैं और देहासक्त होकर नानाविध पापकर्म करते हैं। वह पापराशि जब तक नष्ट नहीं होती, तब तक परब्रह्म परमात्मा की उपासना में उनकी बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती।

"जन्मान्तरसहस्त्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥"

जब वे जीव हजारों जन्म लेकर देह धारण करते हैं और उन जन्मों में विविध तपश्चरणों से उन्हें ब्रह्मज्ञान होता है और वे समाधिलीन होते हैं। उन तप, ज्ञान और समाधि के द्वारा जिन मनुष्यों के पाप नष्ट होते हैं, उन मनुष्यों की बुद्धि कृष्णभक्ति में लगती है, सामान्य मनुष्यों की नहीं।

"पापकर्माशयो ह्यत्र महामुक्तिविरोधकृत्।
तस्यैव शमने यत्नः कार्यः संसारभीरुणा॥"

यतः पापकर्मों का संस्कार ही इस संसार में मोक्ष के प्रतिकूल, उसमें बाधक होता है, अतः जो अनित्य संसार में विचरण करने से भयभीत हो, उसे उन पापों का शमन करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

"सुवर्णादिमहादान - पुण्यतीर्थावगाहनैः।
शारीरैश्च महाक्लेशैः शास्त्रोक्तैस्तच्छमो भवेत्॥"

उन पापों का शमन करने के अनेक उपाय हैं–(१) सुवर्ण, रजत आदि का महादान, (२) पुण्यतीर्थों में स्नान, (३) शास्त्रों में वर्णित शारीरिक कष्टों को सहन करना। इन उपायों से उस पापराशि का शमन होता है।

"देवता-श्रुति-सच्छास्त्रश्रवणैः पुण्यदर्शनैः।
गुरुशुश्रूषणैश्चैव पापबन्धः प्रशाम्यति॥"

पूर्व उपायों के अतिरिक्त इन उपायों से भी मानव के पापबन्धन कटते हैं–(१) देवताराधन, (२) वेदाध्ययन या वेदश्रवण, (३) सच्छास्त्र अध्ययन या उसका श्रवण, (४) पवित्र तीर्थों का दर्शन, (५) गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा आदि। इन उपायों से पापों का बन्धन कट जाता है।

याज्ञवल्क्योऽपि शुद्ध्यपेक्षां तत्साधनं च दर्शयति–महर्षि याज्ञवल्क्य भी अन्तःकरणों में अवस्थित पापों का शोधन और उसके उपायों को इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं–(यतिधर्म का विवेचन करते हुए वे कहते हैं)–

कर्तव्याऽऽशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् स्वतन्त्रीकरणाय च॥
(याज्ञ. यतिधर्म. ६२)

भिक्षाटन करनेवाला संन्यासी भिक्षु होता है। उसके जीवन का लक्ष्य स्वतन्त्रीकरण, स्वयं को स्वतन्त्र करना, परतन्त्रता से छुटकारा पाना अथवा मोक्ष होता है। वह मोक्ष तभी मिलता है, जब ब्रह्मज्ञान हो। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन है। वह ब्रह्मज्ञान भी तभी होता है, जब अन्तःकरण निर्मल हो, उसका अज्ञानमल हटे। अतः अन्तःकरण की पवित्रता ब्रह्मज्ञान का हेतु होती है। यतः मानवजीवन का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष, विशेष रूप से भिक्षुक संन्यासी के जीवन का लक्ष्य यही होता है, अतः उसे ब्रह्मज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अन्तःकरण को अवश्य निर्मल करना चाहिए।

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः।
तथा विपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः॥
(याज्ञ. यतिधर्म १४१)

जिस प्रकार मटमैला दर्पण किसी को उसका प्रतिबिम्ब दिखाने में समर्थ नहीं होता अर्थात् जिसप्रकार अस्वच्छ दर्पण में अपना रूप देखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार जो अन्तःकरण अपरिपक्व, वासनायुक्त होता है, उस अन्तःकरण में आत्मसाक्षात्कार नहीं होता।

शाङ्करभाष्यम्

आचार्योपासनं वेदशास्त्रार्थस्य विवेकिता।
सत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम्।
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम्॥
विषयेन्द्रिय - संरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम्।
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम्॥
नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निःस्पृहता शमः।
एतैरुपायैः संशुद्धसत्त्वयोग्यमृती भवेत्॥
(याज्ञ. यतिधर्म. १५६-१५९)

तात्पर्यदीपिका

'आचार्योपासनम्' इत्यादि—अन्तःकरण को निर्मल, अज्ञानमलरहित बनाने के ये उपाय हैं, जिनसे चित्त शुद्ध होता है और जिस योगी का चित्त इन उपायों से शुद्ध होता है, वह अमृती, मुक्त होता है। वे उपाय इस प्रकार हैं—

(१) आचार्योपासनम्—गुरुजनों की सेवा, (२) वेदशास्त्रार्थस्य विवेकिता—वेद और शास्त्रों के तात्पर्य को समझ कर सत्-असत् का विवेक करना, (३) सत्कर्मणाम् अनुष्ठानम्—सत्कर्मों का आचरण, (४) सद्भिः सङ्गः—सत्पुरुषों के साथ सङ्गति करना, (५) शुभा:गिरः—शुभ वाणी को व्यवहार में लाना, (६) स्त्र्यालोकालम्भविगमः—स्त्रियों के दर्शन और स्पर्श से अलग रहना, (७) सर्वभूतात्मदर्शनम्—सभी प्राणियों में आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति करना, (८) परिग्रहाणां त्यागः—अपरिग्रह, दान न लेना, (९) जीर्णकाषायधारणम्—जीर्ण-शीर्ण फटे-पुराने गेरुए कपड़ों को पहनना, (१०) विषयेन्द्रियसंरोधः—इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ने न देना, उन्हें रोकना, (११) तन्द्रालस्यविवर्जनम्—तन्द्रा और आलस्य छोड़ देना, (१२) शरीरपरिसंख्यानम्—देह का तात्त्विक अनुशीलन, (१३) प्रवृत्तिष्वघदर्शनम्—सांसारिक प्रवृत्तियों में दोष निकालना, (१४) नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिः—अपने राजस और तामस विकारों को दूर करते हुए सत्वगुण की वृद्धि, (१५) निःस्पृहता—किसी भी प्रकार की कोई भी इच्छा न करना, (१६) शमः—मन को शान्त रखना।

इन सोलह (१६) उपायों से जो अपने अन्तःकरण के अज्ञानमल को दूर करता है, अपने चित्त को पवित्र करता है, वह योगी अमृतत्व प्राप्त करता है, अमर बन जाता है।

शाङ्करभाष्यम्

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित्॥
वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः॥

(याज्ञ. यति. १८९-१९०)

तात्पर्यदीपिका

क्योंकि चार वेद, अठारह पुराण और उतने ही उपपुराण, पराविद्याप्रतिपादक उपनिषत्-साहित्य, श्लोक, सूत्र, भाष्य और अन्य अवशिष्ट सभी वाङ्मय, उसी प्रकार वेद-पाठ, यज्ञ-याग, ब्रह्मचर्यपालन, तप, इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना, श्रद्धा-विश्वास, उपवास रखना और स्वावलम्बन (स्वतन्त्रता) ये सभी आत्मज्ञान के साधन (कारण) होते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

तथा चाऽऽथर्वणे विशुद्ध्यपेक्षमात्मज्ञानं दर्शयति—

जन्मान्तरसहस्त्रेषु यदा क्षीणास्तु किल्बिषाः।
तदा पश्यन्ति योगेन संसारोच्छेदनं महत्॥

(योगशिखा १।७८-७९)

"यस्मिन्विशुद्धे विरजे च चित्ते य आत्मवत्पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" (बृ. उ. ४। ४। २२) इति बृहदारण्यके विविदिषाहेतुत्वं यज्ञादीनां दर्शयति।

तात्पर्यदीपिका

जो आत्मज्ञान अन्तःकरण की निर्मलता की अपेक्षा रखता है, उसे अथर्ववेदीय उपनिषद् में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है–

'जन्मान्तरसहस्रेषु' इत्यादि योगशिखा उपनिषद् (१। ७८-७९) के वचन का अर्थ यह है कि 'जब हजारों बार जन्म लेने पर समस्त पाप नष्ट होते हैं, तब योगी समाधियोग द्वारा उस ज्ञान का साक्षात्कार करते हैं, जो सांसारिक प्रपञ्चों का विच्छेदन करता है।'

'यस्मिन् विशुद्धे विरजे'–जो शुद्ध-स्वच्छ और निर्मल-पापरहित होता है, उस अन्तःकरण में वे संयमशील संन्यासी सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप देखते हैं, जिनके समस्त पाप का क्षय होता है।

'तमेतं वेदानुवचनेन'–इस बृहदारण्यक उपनिषत्-वचन में यज्ञ-याग आदि को जिज्ञासा का कारण प्रदर्शित किया गया है। इसका आशय इस प्रकार है–'ब्रह्मवादी योगी यज्ञ-यागादि अनुष्ठान, तपश्चरण, विविध दान और व्रतोपवास द्वारा आत्मा के स्वरूप को समझना चाहते हैं।'

शाङ्करभाष्यम्

कर्मणामप्यमृतत्वहेतुत्वम्–ननु "विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभय्ँसह" (ईशा. उ. ११)। "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्।" इत्यादिना कर्मणामप्यमृतत्वप्राप्तिहेतुत्वमवगम्यते।

तात्पर्यदीपिका

पूर्वपक्षी यह प्रश्न करते हैं कि अनेक प्रमाणवचन कर्ममार्ग को भी मोक्षमार्ग का हेतु प्रतिपादित करते हैं। जैसे–'विद्यां चाऽविद्यां च,' 'तपो विद्या च विप्रस्य' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य।

'विद्यां चाऽविद्या च' इत्यादि ईशावाक्योपनिषद् मंत्र का आशय यह है कि जो विद्या (परा विद्या) और अविद्या दोनों को साथ-साथ समझता है। परा विद्या ज्ञानमार्ग की प्रतिपादिका है और अविद्या कर्ममार्ग की दोनों ही अमृततत्व प्राप्ति के हेतु हैं, यही इस वाक्य का निष्कर्ष है।

'तपो विद्या च'–तपस्यां का अनुष्ठान और परा विद्याप्राप्ति दोनों ही निःश्रेयस (मोक्ष) को प्रदान करने वाले हैं।

शाङ्करभाष्यम्

तच्च तदपेक्षित शुद्धिद्वारेण, न साक्षात्–सत्यम्, अवगम्यत एव तदपेक्षितशुद्धिद्वारेण न च साक्षात्। तथा हि–"विद्यां चाऽविद्यां च" (ईशा. उ. ११), "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्," इत्यादिना ज्ञानकर्मणोर्निःश्रेयसहेतुत्वमभिधाय कथमनयोस्तद्धेतुत्वमित्याकाङ्क्षायां "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते", "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ईशा. उ. ११) इति वाक्यशेषेण कर्मणः कल्मष-क्षयहेतुत्वं विद्याया अमृतप्राप्तिहेतुत्वं प्रदर्शितम्। यत्र तु शुद्ध्याद्य-वान्तरकार्यानुपदेशस्तत्रापि शाखान्तरोपसंहारन्यायेनोपसंहारः कर्तव्यः।

तात्पर्यदीपिका

अद्वैत वेदान्ती इसका इस प्रकार उत्तर देते हैं–"आपका यह कथन ठीक है कि कर्म भी मोक्षहेतु होते हैं। किन्तु वे साक्षात् मोक्षहेतु नहीं होते, परम्परा से होते हैं। जब अन्तःकरण अज्ञानमल से अथवा पापों से मुक्त होता है, तब चित्तशुद्धि द्वारा कर्म भी मोक्षहेतु होते हैं, साक्षात् नहीं।"

क्योंकि प्रथम 'विद्यां चा ऽविद्यां च' और 'तपो विद्या च' इत्यादि वचनों द्वारा ज्ञान और कर्म दोनों को मोक्षप्राप्ति का हेतु प्रतिपादित किया गया है और अनन्तर 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादि और 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' इत्यादि अवशिष्ट वचनों द्वारा ज्ञान और कर्म दोनों को क्रमशः मोक्ष और पापक्षय का कारण प्रदर्शित किया गया है।

'तपसा कल्मषं हन्ति'–प्राणी तपश्चरण द्वारा अपने पापों को दूर करता है तथा परा विद्या द्वारा अमृतत्व (मोक्ष) का उपभोग करता है।

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'–प्राणी प्रथम अविद्या अर्थात् वेदविहित कर्मानुष्ठान से संसारसागर पार करता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। पश्चात् परा विद्या के द्वारा अमृतत्व का उपभोग करता है, अमर बन जाता है, मुक्त हो जाता है।

जहाँ चित्त की निर्मलता आदि कर्मानुष्ठान का उपदेश दृष्टिगोचर न हो, वहाँ 'शाखान्तरोपसंहारन्याय' से उसे समझना चाहिए।

'शाखान्तरोपसंहारन्याय' का अर्थ यह है कि एक ही जाति के कर्म अथवा उपासना का वर्णन वेद की विभिन्न शाखाओं में मिलता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्वत्र उपलब्ध हो, अतः जहाँ जो कर्मानुष्ठान उस शाखा में उपलब्ध न हो और भिन्न शाखा में उपलब्ध (वर्णित) हो, वहाँ भिन्न शाखा से उस कर्मानुष्ठानविधि को समझना चाहिए और उसे कार्यान्वित करना चाहिए।

शाङ्करभाष्यम्

विद्याया मोक्षसाधनत्वमाक्षिपति–ननु ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँसमाः'' (ईशा. उ. २) इति यावज्जीवकर्मानुष्ठाननियमे सति कथं विद्याया मोक्षसाधनत्वम्?

आक्षेपं परिहरति–उच्यते–कर्मण्यधिकृतस्याऽयं नियमो नाऽनधिकृतस्याऽनियोज्यस्य ब्रह्मवादिनः।

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईशावास्योपनिषद् आजीवन कर्मानुष्ठान आदेश देती है–

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि। अर्थात् मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में विद्या (ज्ञान) कैसे मोक्ष प्राप्ति का साधन है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि सभी ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं होते। कुछ लोग कर्म के अधिकारी होते हैं और कुछ ब्रह्मविद्या के। जो कर्म के अधिकारी होते हैं, उनके लिए आजीवन कर्मोपदेश किया जाता है, क्योंकि वे ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं होते, वे केवल कर्माधिकारी ही होते हैं। जो कर्म के अधिकारी नहीं हैं, केवल ब्रह्मवादी हैं, उनके लिए यह उपदेश नहीं है, उन्हें कर्मानुष्ठान में नियुक्त नहीं किया जाता, वे उसके योग्य ही नहीं होते।

शाङ्करभाष्यम्

तथा च विदुषः कर्मानधिकारं दर्शयति श्रुतिः–

''नैतद्विद्वानृषिणा विधेयो न रुध्यते विधिना शब्दचारः।''

''एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे॥''

''एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।'' (बृ. उ. ३।५।१)

''एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुःऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे? किमर्था वयं यक्ष्यामहे? स ब्राह्मणः केन स्याद् येन स्यात्तेनेदृश एवेति।''

तात्पर्यदीपिका

वेदमाता ब्रह्मज्ञानी को कर्माधिकारी नहीं मानती, वह उसे अनधिकारी कहती है। जैसा कि इस प्रकार के प्रमाणवचन हैं–

''नैतद् विद्वान् ऋषिणा विधेयो न रुध्यते विधिना शब्दचारः''

ब्रह्मज्ञानी मन्त्रद्रष्टा ऋषि द्वारा उपदिष्ट कर्मविधान को मानने के लिए बाध्य नहीं है। शास्त्रवचन कर्म के बन्धन द्वारा उसे रोक नहीं सकते, वह शास्त्र का अनुयायी नहीं हो सकता।

"एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे।"

अत एव पूर्ववर्ती ब्रह्मज्ञानी (शास्त्र-वचनों के बन्धन में न पड़कर) अग्निहोत्र का अनुष्ठान नहीं करते थे।

"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ. उ. ३।५।१)।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है-ब्रह्मवादी ब्राह्मण जब हृदयगुफा में अवस्थित इस चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के तत्त्व का बोध कर लेते हैं, तव वे त्रिविध एषणाओं (कामनाओं)-पुत्रैषणा (पुत्रकामना), वित्तैषणा (धनकामना) और लोकैषणा (लोकों से समादर की कामना) का परित्याग करते हैं और अनन्तर शरीरयात्रा के लिए देहाभिमान छोड़कर मात्र भिक्षाटन करते हैं।

"एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुःऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे? किमर्था वयं यक्ष्यामहे? स ब्राह्मणः केन स्याद्? येन स्यात् तेनेदृश एवेति।"

ब्रह्मज्ञानी ऋषिवरेण्य कावषेय भी यही कहते हैं-किस प्रयोजन से हमलोग वेदादि का अध्ययन करें और किस निमित्त यज्ञयागादि का सम्पादन करें? वह किस उपाय से ब्रह्मज्ञानी होगा? जिस उपाय के द्वारा हो उस उपाय से, ऐसा (सर्वकर्मपरित्याग) करनेवाला ही होगा।

शाङ्करभाष्यम्

यथाऽऽह भगवान्-

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥"

(गीता. ३।१७-१८)

तात्पर्यदीपिका

जैसा कि (गीता-३।१७-१८) में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के व्याज से जीवमात्र को यह उपदेश देते हैं-

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'- जो मनुष्य हृदयगुफा में अवस्थित चित्स्वरूप परब्रह्म-परमात्मा से ही अनुराग करता है, उसी में तृप्त और अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, उस मनुष्य का सांसारिक कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। वह कर्म के लिए अधिकृत नहीं है।

'नैव तस्य कृतेनाऽर्थः'-उस मनुष्य का कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है। यदि वह कोई कर्म न करे तो भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता। इसका कारण यह है कि ब्रह्मदेव से लेकर स्थावरपर्यन्त प्राणियों तक से उसे कोई प्रयोजन, कोई लेना-देना नहीं होता, जिस के लिए उसे कर्म का सहारा लेना पड़े।

शाङ्करभाष्यम्

तथा चाऽऽह भगवान् परमेश्वरो लैङ्गे कालकूटोपाख्याने–

"ज्ञानेनैतेन विप्रस्य त्यक्तसङ्गस्य देहिनः।
कर्तव्यं नास्ति विप्रेन्द्रा! अस्ति चेत्तत्त्वविन्न च॥
इह लोके परे चैव कर्तव्यं नास्ति तस्य वै।
जीवन्मुक्तो यतस्तु स्याद् ब्रह्मवित् परमार्थतः॥
ज्ञानाभ्यासरतो नित्यं विरक्तो ह्यर्थवित् स्वयम्।
कर्तव्यभावमुत्सृज्य ज्ञानमेवाऽधिगच्छति॥
वर्णाश्रमाभिमानी यस्त्यक्त्वा ज्ञानं द्विजोत्तमाः!।
अन्यत्र रमते मूढः सोऽज्ञानी नाऽत्र संशयः॥
क्रोधो भयं तथा लोभो मोहो भेदो मदस्तमः।
धर्माधर्मौ च तेषां हि तद्वशाच्च तनुग्रहः॥
शरीरे सति वै क्लेशः सोऽविद्यां संत्यजेत्ततः।
अविद्यां विद्यया हित्वा स्थितस्यैवेह योगिनः॥
क्रोधाद्या नाशमायान्ति धर्माधर्मौ च नश्यतः।
तत्क्षयाच्च शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते॥
स एव मुक्तः संसाराद् दुःखत्रयविवर्जितः॥"

तात्पर्यदीपिका

परमैश्वर्यसंपन्न भगवान् शंकर भी लिङ्गपुराण के अन्तर्गत कालकूटोपाख्यान में ब्रह्मज्ञानसम्पन्न ब्राह्मण के लिए सांसारिक कर्मबन्धन से अलग रहने का उपदेश इस प्रकार देते हैं–

'ज्ञानेनैतेन'–हे ब्राह्मणश्रेष्ठों! जिस को ब्रह्मज्ञान होता है, वह देहधारी जीवात्मा उस ज्ञान के कारण सांसारिक संसर्ग से अलिप्त रहता है और उसे कर्तव्यकर्म से प्रयोजन नहीं रहता। जो सांसारिक प्रपञ्च में लिप्त होता है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है।

'इह लोके परे चैव'–उस देहधारी जीवात्मा को न तो इस लोक में कर्तव्य-कर्म की आवश्यकता होती है, और न परलोक में। क्योंकि वह वास्तविक रूप में 'जीवन्मुक्त' अर्थात् देहाभिमान से रहित रहकर सदा आत्मसाक्षात्कार करता रहता है।

'ज्ञानाभ्यासरतो नित्यम्'–वह सदा ज्ञान अर्थात् परा विद्या द्वारा समाधियोग से पुनः पुनः परमात्मा का अनुशीलन करते हुए समस्त कर्तव्यभाव को छोड़ देता है और ब्रह्मचिन्तन ही करता है।

'वर्णाश्रमाभिमानी यः'–हे विप्रश्रेष्ठों! जो वैदिक केवल वर्णाश्रमधर्म को ही साध्य समझता है और उसका अभिमान करता है, और ब्रह्मचिन्तन को छोड़ कर कर्तव्य-कर्मों में ही रम जाता है, मोहग्रस्त वह अज्ञानी (ब्रह्मज्ञानशून्य) होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'क्रोधो भयम्'–ऐसे अज्ञानी जीवों को क्रोध आता है, भय लगता है, वे लोभ-ग्रस्त, मोहग्रस्त तथा भेददृष्टि-सम्पन्न, मदान्ध और तामस प्रकृति के होते हैं। धर्म-अधर्म पुण्य-पाप आदि को महत्व देते हैं। यतः वे इन विकारों से ग्रस्त होते हैं, अतः ऐसे जीवों को बार बार जन्म लेकर विभिन्न योनियों में देहधारण करना पड़ता है।

'शरीरे सति'–यतः शरीर के रहने पर उसे कष्ट अवश्य होता है, अतः उस जीवात्मा को उस अविद्या (सांसारिक कर्तव्यलिप्तता) का पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए।

'अविद्यां विद्यया'–समाधियोग द्वारा ब्रह्मचिन्तन में मग्न जो परा विद्या के द्वारा अपनी अविद्या (अज्ञानमल) का मार्जन करते हैं, उस ब्रह्मज्ञानी के क्रोध, भय आदि विकार नष्ट होते हैं। वे कर्तव्याकर्तव्य भावना से मुक्त होते हैं।

'तत्क्षयाच्च शरीरेण'–और उन विकारों के नष्ट होने पर जो जीव पुनः उस शरीर के सम्बन्ध का अनुभव नहीं करते। जीवित होने पर भी जो देहाभिमान नहीं करते, वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। देहपात होने पर जन्म-मरणचक्र से मुक्त होकर सांसारिक बन्धनों से मुक्त होते हैं और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुःखों से उन्हें सदा के लिए छुटकारा मिलता है।

शाङ्करभाष्यम्

तथा शिवधर्मोत्तरे–

''ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥
लोकद्वयेऽपि कर्तव्यं किञ्चिदस्य न विद्यते।
इहैव स विमुक्तः स्यात् सम्पूर्णः समदर्शनः॥''

तात्पर्यदीपिका

शिवधर्मोत्तरपुराण भी इसका इस प्रकार समर्थन करता है–

'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य'–समाधियोग में लीन जो योगी ब्रह्मज्ञान के अमृतपान से तृप्त होता है, उसका जन्म सफल होता है। ऐसे योगी के लिए किसी भी सांसारिक कर्मबन्धन में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। और जो कर्तव्यकर्म को ही प्रमुख साध्य समझता है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं होता।

'लोकद्वयेऽपि कर्तव्यम्'–उसके लिए इहलोक और परलोक दोनों में कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं होता। वह तो इहलोक में ही जीवितावस्था में मुक्त हो जाता है।

क्योंकि सभी प्राणियों में वह समत्वबुद्धि रखता है, भेदबुद्धि नहीं रखता। अतः सर्वत्र समान रूप से परमात्मा का दर्शन करता है।

शाङ्करभाष्यम्

तस्माद्विदुषः कर्तव्याभावादविद्यावद्विषय एवायं कुर्वन्नेवेत्यादिकर्मनियमः। 'कुर्वन्नेवे'ति च नायं कर्मनियमः, किन्तु विद्यामाहात्म्यं दर्शयितुं यथाकामं कर्मानुष्ठानमेव द्रष्टव्यम्। एतदुक्तं भवति—यावज्जीवं यथाकामं पुण्य-पापादिकं कुर्वत्यपि विदुषि न कर्मलेपो भवति विद्यासामर्थ्यादिति। तथा हि—''ईशावास्यमिदँ्सर्वम्'' (ईशा. उ. १) इत्यारभ्य ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'' (ईशा. उ. १) इति विदुषः सर्वकर्मत्यागेनाऽऽत्मपालनमुक्त्वा नियोज्ये ब्रह्मविदि त्यागकर्तव्यतोक्तिरप्ययुक्तैवोक्तेति मत्वा चकितः सन् वेदो विदुषस्त्यागकर्तव्यतामपि नोक्तवान्। कुर्वन्नेवेह लोके विद्यमानं पुण्यपापादिकं कर्म यावज्जीवं जिजीविषेत्। न पुण्यादिबन्धभयात् पुण्यादिकं त्यक्त्वा तूष्णीमवतिष्ठेत। एवं तावत् कर्माणि कुर्वत्यपि विदुषि त्वयीतो यावज्जीवानुष्ठानादन्यथाभावः स्वरूपात् प्रच्युतिः पुण्यादिनिमित्तसंसारान्वयो नास्ति। अथवेतः कर्मानुष्ठानोत्तरकालभाव्यन्यथाभावः संसारान्वयो नास्ति। यस्मात्त्वयि विन्यस्तं न कर्म लिप्यते।

तात्पर्यदीपिका

इसलिए ब्रह्मज्ञानी को किसी कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि उपनिषद्वाक्यों द्वारा कर्मोपदेश उसके लिए है, जो ब्रह्मज्ञानी नहीं है। उन वाक्यों में कर्मोपदेश ब्रह्मज्ञानी के लिए कर्म का नियामक नहीं होता। वह कर्म कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता। इसके लिए वह बाध्य नहीं। ये वचन केवल परा विद्या (ब्रह्मज्ञान) की महिमा प्रदर्शित करने के लिए हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो ब्रह्मज्ञानी होता है, वह आजीवन स्वेच्छया पुण्य-पाप कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता। और यह उसके ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से ही होता है। देखिए—'ईशावास्यमिदं सर्वम्' से आरम्भ करते हुए 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' तक ईशावास्योपनिषद् ब्रह्मज्ञानी के लिए सर्वकर्मों का त्याग करते हुए आत्मरक्षा का विधान करती है। वस्तुतः ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिए सर्वकर्मपरित्याग का उपदेश भी अनुचित है। दुनिया में पाप-पुण्य दोनों रहते हैं। ब्रह्मज्ञानी उन्हें अनासक्त भाव से आजीवन करता हुआ जीवन-कामना करे। उसे पुण्यफल और पापफल के बन्धन में नहीं पड़ना चाहिए और उसे बन्धनभय से चुपचाप भी नहीं बैठना चाहिए।

इस प्रकार अनासक्त भाव से आजीवन कर्म करते रहने पर वह अपने मूल स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) से च्युत नहीं होता। (ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा यह समझता है कि मैं परमात्मा से अभिन्न और उसी का अंश हूँ।) फलतः संसार का सम्बन्ध भी उस जीव से नहीं रहता। क्योंकि जीव का संसार से सम्बन्ध तभी रहता है, जब वह पुण्य आदि की कामना से कर्म करे। क्योंकि कर्म करने के पश्चात् उसे संसार में अवश्य आना पड़ता है। जिसे फल की कामना ही नहीं रहती, उस ब्रह्मज्ञानी जीव को कर्म प्रभावित ही नहीं करता, उसे 'कर्मलेप' नहीं होता, वह ब्रह्मज्ञानी जन्ममरणचक्र में नहीं पड़ता।

शाङ्करभाष्यम्

तथा च श्रुत्यन्तरम्–

''न लिप्यते कर्मणा पापकेन'' (बृ. उ. ४। ४। २३)।

''एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'' (छा. उ. ४। १४।३)।

''नैनं कृताकृते तपतः'' (बृ. उ. ४। ४।२२)।

''एवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'' (छा. उ. ५। २४।३)।

तात्पर्यदीपिका

अन्य वेदवचन भी इसे प्रमाणित करते हैं–

''न लिप्यते कर्मणा पापकेन''–ब्रह्मज्ञानी पापकर्मों में लिप्त नहीं रहता।

''एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते''–आत्मतत्त्व के अनुशीलनकर्ता को पापकर्म प्रभावित नहीं करता। (छा. उ. ४। १४।३)।

''नैनं कृताकृते तपतः''–'कृत' अर्थात् करने योग्य पुण्यकर्म और 'अकृत' अकरणीय पापकर्म उसे दुख नहीं देते। (बृ. उ. ४। ४।२२)।

''एवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते''–इस प्रकार उसके सभी पाप नष्ट होते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

लैङ्गे–

''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
ज्ञानिनः सर्वकर्माणि जीर्यन्ते नाऽत्र संशयः।
क्रीडन्नपि न लिप्यते पापैर्नानाविधैरपि॥''

शिवधर्मोत्तरेऽपि–

''तस्माज्ज्ञानासिना तूर्णमशेषं कर्मबन्धनम्।
कामाकामकृतं छित्त्वा शुद्धश्चाऽऽत्मनि तिष्ठति॥
यथा वह्निर्महान् दीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्।
तथा शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात्॥

पद्मपत्रं यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते।
शब्दादिविषयाम्भोभिस्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते॥
यद्वन्मन्त्रबलोपेतः क्रीडन् सर्पैर्न दश्यते।
क्रीडन्नपि न लिप्येत तद्वदिन्द्रियपन्नगैः॥
मन्त्रौषधिबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम्।
तद्वत् सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात्॥''

तात्पर्यदीपिका

अन्य पुराणवचन भी इसमें प्रमाण हैं। लिङ्गपुराण में यह वचन उपलब्ध है–

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इत्यादि–अर्थात् ब्रह्मज्ञान का तेज सभी कर्मफलों को राख कर देता है। इस में कोई संशय नहीं है कि ब्रह्मज्ञानी के सम्पूर्ण कर्मफल नष्ट होते हैं। यतः वह अनासक्त भाव से पाप-पुण्य कर्म करता रहता है, उसे ब्रह्मलीन होने के कारण यह पता ही नहीं चलता कि मैं क्या कर रहा हूँ। अतः नानाविध पाप पुण्य कर्म भी उसे बन्धन में नहीं डालते।

शिवधर्मोत्तरपुराण में ब्रह्मज्ञान का प्रभाव इस प्रकार वर्णित है–

'तस्माज्ज्ञानासिना तूर्णम्' इत्यादि–जिसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है वह जीव अपने ज्ञानरूपी तलवार से उन समस्त कर्म-बन्धनों को काट डालता है, चाहे वे कामना से किये गये हों अथवा बिना कामना के। उन बन्धनों को काटकर वह जीवात्मा जब निर्मल, अज्ञानमलरहित हो जाता है, तब अपने पूर्ण-स्वरूप में, परब्रह्म-परमात्मस्वरूप में विलीन, एकाकार हो जाता है।

'यथा वह्निर्महान् दीप्तः'–जिस प्रकार प्रज्वलित आग सूखी अथवा गीली सभी प्रकार की प्रज्वलनसामग्री (इन्धन) को राख कर डालती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान की आग क्षणभर में सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मों को जला डालती है।

'पद्मपत्रं यथा तोयैः'–जिस प्रकार कमल पत्र के ऊपर जलबिन्दु उसे प्रभावित नहीं करते, उसी प्रकार शब्द-रूप-रस-गन्ध आदि विषयरूपी जल ब्रह्मज्ञानी को प्रभावित नहीं करते, उनसे वह पृथक् ही रहता है।

'यद्वन्मन्त्रबलोपेतः'–जिस प्रकार मन्त्रशक्तिसम्पन्न संपेरे को सांपों से खेलते रहने पर भी सांप नहीं डसते, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानसम्पन्न योगी को इन्द्रियरूपी सर्प उनसे खेलते रहने पर भी दंश नहीं करते।

'मन्त्रौषधिबलैर्यद्वत्'–जिस प्रकार मन्त्र और औषधि के प्रभाव से उदरस्थित विष पच जाता है, कोई हानि नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानसम्पन्न योगी के समस्त पाप (उसके ज्ञानतेज से) क्षणभर में नष्ट होते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

स्वाभिमतसूत्रकृन्मतोपन्यासः-तथा च सूत्रकारः-''पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'' (ब्र. सू. ३।४।१) इति ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थ-हेतुत्वमभिधाय ''शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथा....'' (ब्र. सू. ३।४।२) इत्यादिना कर्मापेक्षितकर्तृप्रतिपादकत्वेन विद्यायाः कर्मशेषत्वमाशङ्क्य ''अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्य....''(ब्र. सू. ३।४।८) इत्यादिना कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहितापहतपाप्मादिरूपब्रह्मोपदेशात् तद्विज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं त्वाशासानस्य कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफल-लक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याऽविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात् स्वरूपोपमर्द-दर्शनात् कर्माधिकारोच्छित्तिप्रसङ्गाद् भिन्नप्रकरणत्वाद्भिन्नकार्यत्वाच्च परस्परविकल्पः समुच्चयोऽङ्गाङ्गिभावो वा नास्तीति प्रतिपाद्य ''अत एव चाऽग्नीन्धनाद्यनपेक्षा''(ब्र. सू. ३।४।२५) इति विद्याया एव परम-पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनाद्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नाऽपेक्षित-व्यानीति पूर्वोक्तस्याऽधिकरणस्य फलमुपसंहृत्याऽत्यन्तमेवाऽनपेक्षायां प्राप्तायां ''सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'' (ब्र. सू. ३।४।२६) इति नाऽत्यन्त-मनपेक्षा। उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षते। उत्पत्तिं प्रत्यपेक्षत एव। ''विविदिषन्ति यज्ञेन'' इति श्रुतेरिति विविदिषासाधनत्वेन कर्मणामुपयोगं दर्शितवान्। तथा च ''नाऽविशेषात्'' (ब्र. सू. ३।४।१३), ''स्तुतयेऽनुमतिर्वा'' (ब्र. सू. ३।४।१४) इति सूत्रद्वयेन 'कुर्वन्नेवे'ति मन्त्रस्याऽविद्वद्विषयत्वेन विद्यास्तुतित्वेन चाऽर्थद्वयं दर्शितवान्। अत उक्तेन प्रकारेण ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वाद् युक्तः परोपनिषदारम्भः।

तात्पर्यदीपिका

''पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः'' (ब्र. सू. ३।४।१) इस सूत्र द्वारा सूत्रकार बादरायण अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मविद्या) ही परम पुरुषार्थ का हेतु है। इसमें 'उपनिषद्' शब्द ही प्रमाण है।

[इस सूत्र का शाङ्करभाष्य इस प्रकार है-

'अस्माद् वेदान्तविहितादात्मज्ञानात् स्वतन्त्रात् पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते। कुत एतदवगम्यते? शब्दादित्याह।'

इसका आशय इस प्रकार है-सूत्रकार बादरायण वेदव्यास का यह मत है कि उपनिषदों में प्रतिपादित परमात्मविषयक ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, उससे परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि होती है। इसमें क्या प्रमान है? इसे कैसे समझा

जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं–'शब्द' अर्थात् विभिन्न श्रुतियां ही इसमें प्रमाण है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में छान्दोग्य, मुण्डक आदि उपनिषदों के उद्धरणों का उपन्यास करते हुए लिखा है कि इस प्रकार के वेदवचन ही केवल ब्रह्मविद्या को पुरुषार्थ का हेतु सिद्ध कर सकती है।

अपने मत को दृढ़ करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में आचार्य जैमिनि के मत को वे इस प्रकार सूत्रबद्ध करते हैं–]

'शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः' (ब्र. सू. ३।४।२)–(जिस प्रकार अन्यान्य कर्मों में फलश्रुति अर्थवाद अर्थात् प्रशंसापरक है, उसी प्रकार विभिन्न श्रुतिवचन पुरुष (परमात्मा) की प्रशंसा के लिए अर्थवाद मात्र हैं।)

इस प्रकार आचार्य जैमिनि के मत में ब्रह्मविद्या कर्ता के रूप में उस परमात्मा का प्रतिपादन करती है, जो कर्म की अपेक्षा रखता है। वहाँ आत्मज्ञान-प्रतिपादिका ब्रह्मविद्या यज्ञादि कर्म का अङ्ग हो जाती ही, वहां वह कर्मशेष बन जाती है, और कर्मकाण्ड प्रधान हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में आचार्य जैमिनि के मत का उपन्यास कर रहे हैं।

[इस सूत्र पर आचार्य शङ्कर का भाष्य इस प्रकार है–"(शेषत्वात्) **कर्तृत्वेनाऽत्मनः कर्मशेषत्वात् तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद् विषयद्वारेण कर्म-सम्बन्ध्येव। इत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु।**"

आचार्य बादरायण का सिद्धान्तपक्ष ज्ञानप्रधान है। वे कहते हैं–आत्मसाक्षात्कार करना जीवात्मा का प्रधान लक्ष्य होता है। क्योंकि उसी से मुक्ति मिलती है, अतः आत्म-ज्ञान ही मुक्ति का हेतु और प्रधान लक्ष्य है। आचार्य जैमिनि इसके ठीक विपरीत आत्म-विज्ञान को कर्म का अङ्ग प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–जीवात्मा ही परमात्मा है। जब तक वह शरीर में रहते हुए यज्ञादिकर्म करता है, तब तक जीवात्मा कहलाता है, शरीर छूटने पर वही परमात्मा हो जाता है। शरीर में रहते हुए जीवात्मा यज्ञयागादि कर्म करता है, उस विधि में कतिपय गौण कर्म भी होते हैं। उदाहरणार्थ **'व्रीहिभिर्यजेत'** इस विधि-वाक्य के अनुसार व्रीहि (चावल) से याग का विधान है, व्रीहियाग के पूर्व उसका प्रोक्षण भी आवश्यक है। अतः वह व्रीहियाग का कर्मभूत अंग है। यज्ञानुष्ठान में कुछ श्रुतियां अर्थवादपरक होती हैं। जैसे–**'यस्य पर्णमयी जुहूर्न भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति'**। (यज्ञ में पलाश की जुहू का प्रयोग करना चाहिये। जिसकी पलाश की जुहू (स्रुक्-यज्ञपात्र) नहीं होती, वह अपकीर्ति को नहीं सुनता।) यह श्रुतिवचन जुहू की प्रशंसा के लिये है, मात्र अर्थवादपरक है। उसी प्रकार **'तरति शोकमात्मावित्'** (छा. उ. ७।१।३), **'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** (मु. उ. ३।२।९) इत्यादि

श्रुति-वचन अर्थवादमात्र, परमात्मप्रशंसापरक है। यज्ञ-यागादि अनुष्ठान ही प्रधान होता है और उसके द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार होता है। इस प्रकार यज्ञ यागादि कर्म प्रधान (अङ्गी) होता है और कर्ता (पुरुष) उसका अङ्ग। अतः ज्ञान और कर्म का अङ्गाङ्गिभाव अथवा समुच्चय ही मुक्ति का कारण है केवल आत्मज्ञान नहीं। यह आचार्य जैमिनि का पूर्वपक्ष है। संक्षेप में-]

'शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनि' (ब्र. सू. ३।४।२) इस सूत्र से बादरायण ने आचार्य जैमिनि के पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए उनकी यह आशङ्का प्रकट की है कि यज्ञयागादि कर्ता और भोक्ता जीवात्मा ही है, ब्रह्मविद्या या आत्मज्ञान उसके द्वारा किये गये कर्म का अङ्ग ही है।

उनके इस मत का वे इस प्रकार खण्डन करते हैं-**'अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्'** (ब्र. सू. ३।४।८)। इस सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि सांसारिक धर्मों से तथा पाप-पुण्यादि फलों से मुक्त होता है, वह जीवात्मा ब्रह्मोपदेश का अधिकारी होता है। सांसारिक प्रपञ्चों में पड़ने वाला जीवात्मा ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं होता, वह आश्रमकर्मों का अधिकारी होता है। (यतः समस्त सांसारिक प्रपञ्च अविद्यानिर्मित और उसके कारक फलों का परिणाम है, अतः) जो आत्मज्ञानपूर्वक कर्माधिकार की कामना करता है, ब्रह्मविद्या के प्रभाव से समस्त संसार के स्वरूप के साथ ही उसके कर्माधिकार के उच्छेद का प्रसंग उपस्थित होगा।

[इस सूत्र का आशय यह है कि **'तरति शोकमात्मवित्'** (छा. उ. ७।१।३) इत्यादि श्रुतिवचन अर्थवादपरक नहीं हैं। परमात्म-साक्षात्कार ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। शरीरधारी जीवात्मा यज्ञ-यागादि आश्रम कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी होताहै, जिससे उसे स्वर्गादिफल प्राप्त होते हैं। पुण्यफल क्षीण होने पर वह पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करता है। निष्काम कर्मयोगी ही ब्रह्मोपदेश का अधिकारी होता है, सभी जीवात्मा नहीं। दोनों के फल भी भिन्न-भिन्न हैं। सकाम कर्मकर्ता को स्वर्गादिफल और निष्काम कर्मयोगी को मुक्ति मिलती है। अतः ज्ञान और कर्म दोनों के अधिकारी, कार्य और विषय भिन्न-भिन्न होने के कारण उनका परस्पर विकल्प, समुच्चय अथवा अङ्गाङ्गीभाव सम्भव नहीं है। ब्रह्मविद्या ही परम पुरुषार्थ का हेतु है। मोक्षप्राप्ति ज्ञानसापेक्ष होती है, कर्मसापेक्ष नहीं। **'अत एव चाऽग्नीन्धनाद्यनपेक्षा'** (ब्र. सू. ३।४।२५) ब्रह्मविद्या परमात्मसाक्षात्कार का मूल हेतु है, वह अग्नि-इन्धन इत्यादि साधनों से निष्पन्न यज्ञादि आश्रमकर्मों की अपेक्षा नहीं रखती।]

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह आश्रमकर्मों की विलकुल अपेक्षा नहीं रखती।

सूत्रकार कहते हैं–'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र. सू. ३।४।२६), ब्रह्मविद्या सभी आश्रमकर्मों की अपेक्षा रखती है। ब्रह्मजिज्ञासा तभी होती है, जब आश्रमकर्म किये जाते हैं। श्रुति कहती है–'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'। इस प्रकार ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में आश्रमकर्मों की अपेक्षा रखती है। जिस प्रकार अश्व का उपयोग रथ में होता है, उसी प्रकार आश्रमकर्मों का उपयोग ब्रह्मजिज्ञासा में होता है। वे परमात्म-साक्षात्कार के परम्परया साधन हैं और ब्रह्मजिज्ञासा के साक्षात् साधन है।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः"–ईशावास्योपनिषद् के इस मन्त्र का सामान्य अर्थ यह है–आश्रम कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए। किन्तु 'ब्रह्मसूत्र'कार कहते हैं–"नाऽविशेषात्" (ब्र. सू. ३।४।१३), इसमें किसी प्रकार के विशेषण का प्रयोग नहीं है, अतः तत्त्वज्ञानी के लिये यह विधान नहीं किया गया है, अपितु अज्ञानी के लिए ही इसका विधान है। वे अपना द्वितीय विकल्प भी सूत्रबद्ध करते हैं–"स्तुतयेऽनुमतिर्वा" (ब्र. सू. ३।४।१४)। यह अर्थवाद है, इसके द्वारा ब्रह्मविद्या की प्रशंसा की गयी है, क्योंकि ईशावास्योपनिषद् के उसी मंत्र में आगे कहा गया है–"न कर्म लिप्यते नरे"–तत्त्व ज्ञानी पर आश्रमकर्मों का कोई प्रभाव नहीं होता, वह तालाब में रहने वाले कमलपत्र के समान निर्लिप्त रहता है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है, आश्रमकर्म नहीं। इसी उद्देश्य से महर्षि श्वेताश्वतर का उपक्रम समुचित ही है।

शाङ्करभाष्यम्

ज्ञानादमृतत्वेऽनुपपत्तिदर्शनम्–ननु बन्धस्य मिथ्यात्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वेन ज्ञानादमृतत्वं स्यात्। न त्वेतदस्ति; प्रतिपन्नत्वाद् बाधाभावाद् युष्मदादि-स्वरूपत्वेनाऽऽत्मनो विलक्षणत्वे सादृश्याद्यभावादध्यासासम्भवाच्च।

तात्पर्यदीपिका

पूर्वपक्ष–ब्रह्मज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है अथवा नहीं यह प्रश्न उपस्थित होने पर पुनश्च यह आशङ्का उपस्थित होती है कि शरीरधारी जीवात्मा का संसार के बन्धन में पड़ना यदि असत्य होता तो ब्रह्मसाक्षात्कार से बन्धनमुक्त होने पर जीव को अमृतत्व की प्राप्ति होती, किन्तु जीव बन्धन में पड़ता है, यह असत्य नहीं है। अपितु प्रत्यक्षसिद्ध है। इसमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती, हम जीवात्मा को 'युष्मत्' (तुम), 'अस्मत्' (मैं) आदि के रूप में पहिचानते हैं, अतः उसका स्वरूप सबसे विलक्षण है। ऐसी स्थिति में उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती, अतः उस पर अन्य वस्तु का अध्यास भी सम्भव नहीं है। (अतः ब्रह्मज्ञान से अमृतत्वप्राप्ति सम्भव प्रतीत नहीं होती।)

शाङ्करभाष्यम्

उक्तानुपपत्तिपरिहारः-उच्यते-न तावत् प्रतिपन्नत्वेन सत्यत्वं वक्तुं शक्यते, प्रतिपत्तेः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समानत्वात्। नाऽपि बाधाभावात् सत्यत्वम्, विधिमुखेन कारणमुखेन च बाधसम्भवात्। तथाहि श्रुतिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं मायाकारणत्वं च दर्शयति-''न तु तद्द्वितीयमस्ति'' (बृ. उ. ४। ३। २३)। ''एकत्वम्'', ''नास्ति द्वैतम्,'' ''कुतो विदिते वेद्यं नास्ति।'' ''एकमेवाऽद्वितीयम्''(छा. उ. ६।२।१), ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'' (छा. उ. ६।१।४), ''एकमेव सत्,'' ''नेह नानास्ति किञ्चन'' (बृ. उ. ४।४।१९), ''एकधैवाऽनुद्रष्टव्यम्''(बृ. उ. ४।४।२०), ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्''(श्वेता. उ. ४।१०), ''मायी सृजते विश्वमेतत्''(श्वेता. उ. ४।९), ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते''(बृ. उ. २।५।१९) इत्यादिभिर्वाक्यैः।

तात्पर्यदीपिका

सिद्धान्तपक्ष-इसका उत्तर यह है कि केवल जीव का बन्धन प्रत्यक्षसिद्ध होने पर उसे सत्य के रूप में प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। क्योंकि सत्य और असत्य दोनों को समान रूप से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। साथ ही उसे इसलिये सत्य नहीं कहा जा सकता कि उसके प्रत्यक्ष करने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। शास्त्रविधि और अनेक कारण जीव के बन्धन की सत्यता में बाधक होते हैं। इसमें विभिन्न श्रुतिवचन संसार की असत्यता और उसके मूल में माया को कारण प्रतिपादित करते हैं। वे वचन इस प्रकार हैं-

''न तु तद्द्वितीयमस्ति'' (बृ. उ. ४। ३। २३)-उस परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है।

''एकत्वम्''-परमात्मा और जीवात्मा में एकता है।

''नास्ति द्वैतम्''-परमात्मा और जीवात्मा में द्वैतभाव नहीं है।

''कुतो विदिते वेद्यं नास्ति''-क्योंकि परमात्मा का पूर्ण रूप से ज्ञान होने पर ऐसा कोई विषय नहीं बचता, जिसका ज्ञान होना चाहिए।

''एकमेवाऽद्वितीयम्'' (छा. उ. ६।२।१)-परमात्मा एक ही है, उसके अतिरिक्त द्वितीय कुछ भी नहीं। वह अद्वितीय है।

''एकमेव सत्''-जिसकी सत्ता है, वह एक ही (परमात्मा) है।

''नेह नानास्ति किञ्चन''(बृ. उ. ४।४।१९)-इस संसार में कुछ भी विभिन्न, नानाप्रकार का नहीं है।

"एकधैवाऽनुद्रष्टव्यम्" (बृ. उ. ४।४।२०)–समस्त संसार को एक स्वरूप से, परमात्मा के रूप में ही देखना चाहिए।

"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता. उ. ४।१०)–माया को प्रकृति के रूप में देखना चाहिए।

"मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता. उ. ४।९)–माया की उपाधि से युक्त परमात्मा इस प्रत्यक्षगोचर विश्व की सृष्टि करता है।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ. उ. २।५।१९)–इन्द्र अर्थात् निर्गुण परब्रह्म-परमात्मा अपनी नानारूप धारण करने वाली माया से नाना प्रकार के रूप में प्रकट होकर विभिन्न लीला करता है।

इन श्रुतिवचनों और इसी प्रकार के अन्य श्रुतिवचनों से यह सिद्ध होता है कि प्रपञ्च सत्य न होकर मिथ्या है और उसके मूल में माया है।

शाङ्करभाष्यम्

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥" (गीता ४।६)
"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।" (गीता. १३।१६)

तात्पर्यदीपिका

[श्रुतिवचनों के अतिरिक्त गीता, ब्रह्मपुराण आदि पुराण और विभिन्न स्मृतियां भी संसार की असत्यता और उसके मूल में माया को कारण मानती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को निमित्त बनाकर जीवमात्र को अपने वास्तविक स्वरूप से इस प्रकार परिचित कराते हैं–]

'अजोऽपि सन्'–मैं (परब्रह्म-परमात्मा) यद्यपि अजन्मा हूँ, मेरा जन्म नहीं होता, अव्ययात्मा हूँ, मेरा स्वरूप अविनाशी है, मैं समस्त चर-अचर जीवों का स्वामी हूँ, तथापि यह सब मैं स्वयं नहीं करता, अपितु अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया से ही बार बार अवतार-ग्रहण करता हूँ। (गीता ४।६)

'अविभक्तं विभक्तेषु'–समस्त प्राणियों में विद्यमान वह चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व वस्तुतः अविभक्त, अखण्ड है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक शरीर में चैतन्यस्वरूप वह पृथक्-पृथक् रहता है। (गीता १३।१६)

शाङ्करभाष्यम्

तथा च ब्राह्मे पुराणे–

"धर्माधर्मौ जन्ममृत्यू सुखदुःखेषु कल्पना।
वर्णाश्रमास्तथा वासः स्वर्गो नरक एव च॥
पुरुषस्य न सन्त्येते परमार्थस्य कुत्रचित्।

तात्पर्यदीपिका

उसी प्रकार ब्रह्मपुराण में परब्रह्म-परमात्मा के सत्यस्वरूप और संसार के मिथ्यास्वरूप का इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है-

'धर्म-अधर्म, जन्म-मृत्यु और सुख-दु:खों के विषय में कल्पना, वर्णधर्म और आश्रमधर्म तथा स्वर्ग और नरक में निवास ये सब सत्स्वरूप परब्रह्म-परमात्मा में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते, (ये सब शरीरधारी जीवात्मा के साथ सम्बद्ध है)।'

शाङ्करभाष्यम्

दृश्यते च जगद्रूपमसत्यं सत्यवन्मृषा॥
तोयवन्मृगतृष्णा तु यथा मरुमरीचिका।
रौप्यवत् कीकसं भूतं कीकसं शुक्तिरेव च॥
सर्पवद् रज्जुखण्डश्च निशायां वेश्ममध्यग:।

तात्पर्यदीपिका

जो यह समस्त संसार दृष्टिगोचर होता है, उसकी वास्तविक शाश्वत सत्ता (अस्तित्व) ही नहीं है। मिथ्या होने के कारण वह सत्य के समान प्रतिभासित होता है। इसके अनेक उदाहरण हैं-

हिरन को जब प्यास लगती है वे मरुभूमि में विचरण करते हैं, उस मरुभूमि में सूर्य के किरणों के संक्रमण से उन्हें जल का भान होता है। जिसे 'मरुमरीचिका' अथवा 'मृगतृष्णा' कहते हैं। किन्तु वहाँ जल की सत्ता ही नहीं रहती, उसकी मिथ्या प्रतीति होती है। उसी प्रकार रात्रि में घर के बीच में पड़ी हुई सींप जब चमकती है, रुपहली चांदी के समान दिखती है, किन्तु वह चांदी नहीं होती। उसी प्रकार वहाँ पड़ा हुआ रस्सी का टुकड़ा लोगों को सांप जैसा लगता है, जब कि वह मात्र रस्सी का टुकड़ा ही होता है, सांप नहीं।

शाङ्करभाष्यम्

एक एवेन्दुर्द्वौ व्योम्नि तिमिराहतचक्षुष:॥
आकाशस्य घनीभावो नीलत्वं स्निग्धता तथा।
एकश्च सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते॥
आभाति परमात्माऽपि सर्वोपाधिषु संस्थित:।
द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या विकल्पो न च तत् तथा॥

तात्पर्यदीपिका

रतौंधी रोग का रोगी आकाश में एक ही चाँद को दो समझ बैठता है, जब कि वहाँ एक ही चाँद होता है, दो नहीं।

वस्तुतः आकाश शून्य अथवा रिक्तता का ही स्वरूप है, किन्तु लोग उसमें घनीभाव, नीलरूप और स्निग्धता देखते हैं।

सूर्य एक ही होता है, परन्तु विभिन्न जलाशयों में उसके अनेक प्रतिबिम्बों को देखकर लोग उसे अनेक सूर्य समझते हैं।

उसी प्रकार परब्रह्म-परमात्मा भी निरुपाधिक और एक-अद्वितीय है। जब वह विभिन्न उपाधियों में रहता है, तब अनेक जैसा प्रतीत होता है। द्वैत की यह भ्रान्ति (भ्रम) 'अविद्या' नाम से जानी जाती है। यह मात्र 'विकल्प' है। किन्तु वास्तविकता वैसी नहीं है।

['विकल्प' का अर्थ है केवल शब्द का ज्ञान होना, वहाँ शब्दसंकेतित अर्थ (वस्तु) का न होना। जैसा कि 'योगसूत्र' है-'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (१।९)-'आकाश-कुसुम', 'शशशृंग', 'वन्ध्यापुत्र' आदि सब शब्दमात्र ही हैं, उन वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं है।]

शाङ्करभाष्यम्

परत्र बन्धागारः स्यात् तेषामात्माभिमानिनाम्।
आत्मभावनया भ्रान्त्या देहं भावयतां सदा॥
आप्रज्ञमादिमध्यान्तैर्भ्रमभूतैस्त्रिभिः सदा।
जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तैस्तु च्छादितं विश्वतैजसम्॥
स्वमायया स्वमात्मानं मोहयेद् द्वैतरूपया।
गुहागतं स्वमात्मानं लभते च स्वयं हरिम्॥
व्योम्नि वज्रानलज्वालाकलापो विविधाकृतिः।
आभाति विष्णोः सृष्टिश्च स्वभावो द्वैतविस्तरः॥
शान्ते मनसि शान्तश्च घोरे मूढे च तादृशः।
ईश्वरो दृश्यते नित्यं सर्वत्र न तु तत्त्वतः॥

तात्पर्यदीपिका

"परत्र बन्धागारः स्यात्"-जो सदा सर्वदा भ्रमवश देह को ही आत्मा समझते हैं, इस लोक में शरीर छूटने पर भी उन देहाभिमानी जीवात्माओं को परलोक में बन्धनागार (जेल) मिलता है। (अर्थात् परलोक में भी उन्हें पुनश्च देह के बन्धन में रहना पड़ता है, शरीर धारण करना पड़ता है।)

"आप्रज्ञमादिमध्यान्तैः"-जीव सदा भ्रम में पड़ा रहता है, उसकी तीन भ्रमात्मक स्थितियाँ होती हैं-(१) जाग्रत्, (२) स्वप्न और (३) सुषुप्ति। इनमें आदि में प्राज्ञ जाग्रत् अवस्था से आच्छादित होता है। मध्य और अन्त में तैजस जीव सुषुप्ति अवस्था से आच्छादित होता है।

"स्वमायया स्वमात्मानम्"–परब्रह्म-परमात्मा की अपनी माया ही जीवात्मा को मोहग्रस्त करती है। यद्यपि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है, माया उसमें द्वैतभाव उत्पन्न करती है, क्योंकि वह स्वयं द्वैतरूपा है। उस माया के चक्कर में पड़कर जीवात्मा स्वयं को परमात्मा से पृथक् समझता है। जो शरीरधारी जीवात्मा केवल अपनी अन्तःकरणरूपी गुफा में अपने से अभिन्न परब्रह्म-परमात्मा श्रीहरि का साक्षात्कार करता है, वह उसे प्राप्त करता है।

"व्योम्नि व्रजानलज्वाला"–यद्यपि आकाशीय वैद्युत अग्नि एक ही होती है, तथापि उसकी ज्वालाएँ विभिन्न स्वरूपों से विभिन्न प्रतीत होती है। ठीक उसी प्रकार सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा श्रीविष्णु एक ही है, किन्तु उसका स्वभाव द्विधा विभक्त होकर सर्वत्र सृष्टि करना है, जो अनेक रूपों में परिलक्षित होता है।

"शान्ते मनसि शान्तश्च"–जो जीव सात्विक प्रकृति का होता है, उसका मन शान्त होता है और सर्वत्र शान्ति का अनुभव करता है। परमात्मा का यह शान्त स्वरूप है। जो राजस प्रकृति का होता है, वह सदा अशान्ति का अनुभव करता है, यह परमात्मा का घोर स्वरूप है और जो तामस प्रकृति का होता है, उसका चित्त सदा मोहग्रस्त रहता है। यह परमात्मा का मूढ स्वरूप है। परन्तु परमात्मा का वास्तविक स्वरूप वैसा नहीं है, वह गुणातीत, निर्गुण अरूप-रूपहीन है।

शाङ्करभाष्यम्

लोहमृत्पिण्डहेम्नां च विकारो न च विद्यते।
चराचराणां भूतानां द्वैतता न च सत्यतः॥
सर्वगे तु निराधारे चैतन्यात्मनि संस्थिता।
अविद्या द्विगुणां सृष्टिं करोत्यात्मावलम्बनात्॥
सर्पस्य रज्जुता नास्ति नास्ति रज्जौ भुजङ्गता।
उत्पत्तिनाशयोर्नास्ति कारणं जगतोऽपि च॥
लोकानां व्यवहारार्थमविद्येयं विनिर्मिता।
एषा विमोहिनीत्युक्ता द्वैताद्वैतस्वरूपिणी॥
अद्वैतं भावयेद् ब्रह्म सकलं निष्कलं सदा।
आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो न बिभेति कुतश्चन॥
मृत्योः सकाशान्मरणादथवाऽन्यकृताद् भयात्।

तात्पर्यदीपिका

लोहमृत्पिण्डहेम्नां च–जिस प्रकार लोहा, मिट्टी का गोला अथवा सोना इनमें किसी प्रकार का विकार दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार स्थावर-जङ्गम प्राणियों में पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं होता।

सर्वगे तु निराधारे—चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा बिना किसी का आधार लेकर सर्वत्र व्याप्त रहता है। उस परमात्मा में विद्यमान अविद्या परमात्मा की आश्रय लेकर द्विगुणित सृष्टि करती है।

सर्पस्य रज्जुता नास्ति—जिस प्रकार सांप से रस्सी का धर्म नहीं रहता, जिस प्रकार रस्सी में सर्प का धर्म नहीं रहता, उसी प्रकारं संसार की सृष्टि और उसके संहार का कोई कारण नहीं है।

लोकानां व्यवहारार्थम्—इस अविद्या की रचना लोकव्यवहार चलाने के लिये हुई है। इसका स्वरूप द्वैत भी है और अद्वैत भी। संसार को मोह में डालने के कारण इसे 'विमोहिनी' कहते हैं।

अद्वैतं भावयेद् ब्रह्म—आत्मज्ञानी को चाहिये कि वह परब्रह्म परमात्मा का ध्यान अद्वैतभाव से करे, जो निष्कल कलारहित होने पर भी सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित हैं। फलतः आत्मज्ञानी जीव आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी दुखों को पार कर जाता है। इसलिये वह न तो मृत्यु से भयभीत होता है, और न साक्षात् उपस्थित मृत्यु के सहवास से डरता है और न अन्य किसी के द्वारा उत्पन्न भय से भयभीत होता है।

शाङ्करभाष्यम्

न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः॥
न बद्धो बन्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः।
पुरुषः परमात्मा तु यदतोऽन्यदसच्च तत्॥
एवं बुद्ध्वा जगद्रूपं विष्णोर्मायामयं मृषा।
भोगासङ्गाद् भवेन्मुक्तस्त्यक्त्वा सर्वविकल्पनाम्॥
त्यक्तसर्वविकल्पश्च स्वात्मस्थं निश्चलं मनः।
कृत्वा शान्तो भवेद् योगी दग्धेन्धन इवाऽनलः॥

तात्पर्यदीपिका

पुरुषः परमात्मा तु—परम पुरुष परब्रह्म-परमात्मा का न तो जन्म होता है और न मृत्यु। उसकी मृत्यु किसीके द्वारा सम्भव नहीं है और उसके द्वारा भी किसी की मृत्यु नहीं होती। दूसरे शब्दों में—वह न तो वध्य है और न घातक। न तो वह किसी के द्वारा बन्धन में पड़ता है और न किसी को बन्धन में डालता है। उसकी मुक्ति किसी से नहीं होती और न वह किसी को मोक्ष देता है। उस परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त जो कुछ भासमान है, वह असत् (अस्तित्वहीन-नश्वर) है।

एवं बुद्ध्वा जगद्रूपम्—इस प्रकार सर्वव्यापी श्रीहरि के विश्वरूप को माया-निर्मित तथा असत्य समझकर भोग से अलिप्त रहते हुए मुक्त होकर सभी प्रकार की कल्पनाओं (विकल्पों) का त्याग करते हुए भोग की आसक्ति से जीव को मुक्त हो जाना चाहिये।

त्यक्तसर्वविकल्पश्च–जिस प्रकार इन्धन सामग्री के अच्छी तरह जल जाने पर अग्नि शान्त हो जाता है, उसी प्रकार समस्त संकल्प-विकल्पों का परित्याग करने पर जिसका मन परमात्मसाक्षात्कार करने में स्थिर होता है, वह योगी शान्त हो जाता है।

शाङ्करभाष्यम्

एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ भयं च विषादशोकौ च विकल्पजालम्॥
धर्माधर्मौ सुखदुःखे च सृष्टिर्विनाशपाकौ नरके गतिश्च।
वासः स्वर्गे जातयश्चाऽऽश्रमाश्च रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च॥
कौमार - तारुण्य - जरा - वियोग - संयोग - भोगाऽनशनव्रतानि।
इतीदमीदृग्विदयं निधाय तूष्णीमासीनः सुमतिं विविद्धि॥

तात्पर्यदीपिका

एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना–(स्थावर-जंगमस्वरूप विश्व की सृष्टि का मूल) यही परा प्रकृति माया है, जो चौबीस भेदों से अनेकरूपा है। उसी से काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय, विषाद-शोक तथा अन्य विकल्प उत्पन्न हुए हैं।

धर्माधर्मौ सुखदुःखे च–उसी मूल-प्रकृतिस्वरूपा माया से धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, सृष्टि-संहार (जो धर्म-अधर्म के परिणाम हैं) नरक और स्वर्ग में स्थिति, वर्ण और जाति, (ब्रह्मचर्य आदि) आश्रम, राग-द्वेष तथा विविध रोग उत्पन्न हुए हैं।

कौमार-तारुण्य–बाल्यावस्था, तारुण्य, वृद्धावस्था, वियोग, संयोग, उपभोग, वास और व्रत-वैकल्य, ये सब माया की ही सृष्टि हैं। हे जीव! तुम इस प्रकार परब्रह्म-परमात्मा की माया-लीला को अच्छी तरह से समझो और पुनः प्रकृति में ही इसका विलय करते हुए मौन रहकर सुमति (सर्वज्ञ) उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करो।

शाङ्करभाष्यम्

तथा च श्रीविष्णुधर्मे षडध्याय्याम्–

"अनादिसम्बन्धवत्या क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया।
युक्तः पश्यति भेदेन ब्रह्म तत्त्वात्मनि स्थितम्॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च यावद् वै परमात्मनः।
तावत् संभ्राम्यते जन्तुर्मोहितो निजकर्मणा॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु परं ब्रह्म प्रपश्यति।
अभेदेनाऽऽत्मनः शुद्धं शुद्धत्वादक्षयो भवेत्॥
अविद्या च क्रियाः सर्वा विद्या ज्ञानं प्रचक्षते।
कर्मणा जायते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते॥

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भिन्न उच्यते।
पशु-तिर्यङ्-मनुष्याख्यं तथैव नृप! नारकम्॥
चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः।
अहमन्योऽपरश्चाऽयममी चाऽत्र तथाऽपरे॥
अज्ञानमेतद् द्वैताख्यमद्वैतं श्रूयतां परम्।
मम त्वहमिति प्रज्ञावियुक्तमविकल्पवत्॥
अविकार्यमनाख्येय - मद्वैतमनुभूयते।
मनोवृत्तिमयं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥
मनसो वृत्तयस्तस्माद् धर्माधर्मनिमित्तजाः।
निरोद्धव्यास्तन्निरोधे द्वैतं नैवोपपद्यते॥
मनोदृष्टमिदं सर्वं यत् किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावेऽद्वैतभावं तदाप्नुयात्॥
कर्मणा भावना येयं सा ब्रह्मपरिपन्थिनी।
कर्मभावनया तुल्यं विज्ञानमुपजायते॥
तादृग् भवति विज्ञप्तिर्यादृशी खलु भावना।
क्षये तस्याः परं ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशते॥
परात्मनोर्मनुष्येन्द्र! विभागोऽज्ञानकल्पितः।
क्षये तस्याऽऽत्मपरयोरविभागोऽत एव हि॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञो हि संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव विगतः शुद्धः परमात्मा निगद्यते॥''

तात्पर्यदीपिका

श्रीविष्णुधर्मोत्तर पुराण के छः अध्यायों में भी अविद्या के प्रभाव का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है–

अनादिसम्बन्धवत्या–अनादिकाल से क्षेत्रज्ञ (जीव) और अविद्या (माया) का सम्बन्ध है। चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा शरीरधारी प्राणी के अन्तःकरण में ही रहता है, जो जीव से अभिन्न है। तथापि माया से आवृत होने के कारण वह जीव परब्रह्म-परमात्मा को अपने से भिन्न समझता है।

पश्यत्यात्मानमन्यच्च–जब तक जीवात्मा स्वयं और अन्य जीवों को परमात्मा से भिन्न देखता है, तब तक वह भ्रम में पड़कर अपने कर्मफलों के द्वारा संसार में भटकाया जाता है।

संक्षीणाशेषकर्मा तु—जब उसके समस्त पाप-पुण्य कर्मों का क्षय होता है, तब वह विशुद्ध (उपाधिमुक्त) परब्रह्म परमात्मा को स्वयं में अभेद दृष्टि से देखता है और स्वयं शुद्ध-उपाधिमुक्त होने के कारण अक्षय-अविनाशी हो जाता है।

अविद्या च क्रिया सर्वा—सभी क्रियाकलाप अविद्यास्वरूप हैं और (विशुद्ध) ज्ञान विद्या कहलाता है। जीव क्रियाकलाप के द्वारा बार बार जन्म लेता है और विद्या के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है।

अद्वैतं परमार्थो हि—क्योंकि द्वैतदृष्टि न रखना अथवा अभेददृष्टि रखना जीव का परम प्रयोजन होता है तथा उससे भिन्न द्वैतदृष्टि रखना जीव का परम प्रयोजन नहीं कहलाता, गौण प्रयोजन (अपरमार्थ) कहलाता है।

चतुर्विधोऽपि भेदोऽयम्—मिथ्या-ज्ञान के कारण जीव चार प्रकार की भेददृष्टि रखता है-(१) मैं उससे भिन्न हूँ, (२) वह मुझसे भिन्न है, (३) सामने जो खड़े हैं वे मुझसे भिन्न हैं और (४) दूसरे लोग भी मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार जीवात्मा जो चार प्रकार का अनुभव करता है, वह मिथ्याज्ञान के कारण ही करता है। यह मिथ्याज्ञान द्वैतज्ञान है, अब अद्वैतमूलक परम ज्ञान के विषय में सुनो।

मम त्वहमिति प्रज्ञा—जो जीव अभेददृष्टि रखता है, अद्वैत का अनुभव करता है, उस जीव की बुद्धि 'मैं हूँ, यह मेरा है' इत्यादि प्रकार की नहीं होती। अद्वैतज्ञान विकल्परहित, और विकाररहित रहता है। उसकी अनुभूति को वाणी द्वारा व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

मनोवृत्तिमयं द्वैतम्—भेददृष्टि मन का खेल है, परमार्थ दृष्टि से सभी अद्वैत-द्वैतरहित, एक-अद्वितीय है। यतः मन की संकल्प-विकल्पस्वरूप वृत्तियां धर्म-अधर्म के कारण उत्पन्न होती है, अतः उनका निरोध करना चाहिए। उनका निरोध करने पर द्वैत निष्पन्न ही नहीं होता।

मनोदृष्टमिदं सर्वम्—यह जो कुछ स्थावर जङ्गमस्वरूप जगत् है, उसे मन देखता है। जब मन की इन वृत्तियों का नाश होता है, तब जीवात्मा अद्वैतभाव को प्राप्त करता है।

कर्मणां भावना ह्येयम्—धर्म-अधर्ममूलक कर्माचरण की यह भावना ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रतिकूल होती है। क्योंकि जैसी कर्मों की भावना (विषयवासना) होती है, हम वैसा ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, हमें वैसी ही बुद्धि होती है।

तादृग् भवति विज्ञप्तिः—जैसी जीव की भावना होती है, वैसा ही वह ज्ञान प्राप्त करता है। उस भावना (विषयवासना) का नाश होने पर परब्रह्म परमात्मा स्वयं ही प्रकाशमान होता है।

परात्मनोर्मनुष्येन्द्र!—हे मानवेन्द्र! जीवात्मा और परमात्मा का भेद अज्ञान के द्वारा कल्पित है। उस का नाश होने पर जीवात्मा और परमात्मा दोनों का अभेद निश्चित है।

आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञो हि–(जब आत्मा (जीव) शरीरधारण करता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, और जिस शरीर को धारण करता है उसे क्षेत्र कहते हैं।) वह 'क्षेत्रज्ञ' नामक आत्मा प्रकृति (माया) के गुणों से आच्छादित रहता है, और जब वह उनसे मुक्त, निर्मल-विशुद्ध होता है, तब परमात्मा कहलाता है।

शाङ्करभाष्यम्

तथा च श्रीविष्णुपुराणे–

"परमात्मा त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते!।
तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम्॥
यदेतद् दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः॥
ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं पारमेश्वरम्॥"

(१।४।३८-४१)

"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति॥"

(१।२२।८७)

"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थतः।
तदेवाऽर्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥"

(१।२।६)

"ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदाञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥"

(२।१२।३९)

"वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपम्।
यच्चाऽन्यथात्वं द्विज! याति भूमौ न तत्तथा तत्र कुतो हि तत्त्वम्॥
मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु॥
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचिद् द्विज! वस्तुजातम्।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम्॥

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥
सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं तथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतत्तु यत् संव्यवहारभूतं तत्राऽपि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥"

(२।१२।४१-४५)

"अविद्यासंचितं कर्म तच्चाऽशेषेषु जन्तुषु॥
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रवृद्ध्यपचयौ न स्त एकस्याऽखिलजन्तुषु॥"

(२।१३।७०-७१)

"यत्तु कालान्तरेणाऽपि नाऽन्यसंज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसंभूतां तद् वस्तु नृप! तच्च किम्॥"

(२।१३।१००)

"यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम!।
तदैषोऽहमयं चाऽन्यो वक्तुमेवमपीष्यते॥
यदा समस्तदेहेषु पुमान् ह्येको व्यवस्थितः।
तदा हि को भवान् सोऽहमित्येतद् विप्रलम्भनम्॥
त्वं राजा शिबिका चेयं वयं वाहाः पुरःसराः।
अयं च भवतो लोको न सदेतत् त्वयोच्यते॥"

(२।१३।९०-९२)

"वस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजभटात्मकम्।
तथाऽन्ये च नृपत्वं च तत् तत् सङ्कल्पनामयम्॥"

(२।१३।९९)

"अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते।"

(२।१४।२४)

"परमार्थस्तु भूपाल! संक्षेपाच्छ्रूयतां मम॥
एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः॥
परज्ञानमयः सद्भिर्नामजात्यादिभिः प्रभुः॥
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव! योक्ष्यते॥

तस्याऽऽत्मपरदेहेषु संयोगो ह्येक एव यत्।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः॥"

(२।१४।२८-३१)

"एवमेकमिदं विद्धन्नभेदि सकलं जगत्।
वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः॥"

(२।१५।३५)

"निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाऽद्वैतपरोऽभवत्॥
सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श तदात्मनः।
तथा ब्रह्म ततो मुक्तिमवाप परमां द्विजः॥
सितनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः।
भ्रान्तदृष्टिभिरात्माऽपि तथैकः सन् पृथक्पृथक्॥"

(२।१६।१९-२०)

"एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित् तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥
इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः।
स चाऽपि जातिस्मरणाप्तबोधस्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप॥"

(२।१६।२२-२६)

तात्पर्यदीपिका

उसी प्रकार श्रीविष्णुपुराण में भी यह प्रतिपादित किया गया है–

'परमात्मा त्वमेवैको'–'हे जगत् के स्वामी! परब्रह्म परमात्मा तुम्हीं हो और एक हो। तुमसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है। यह सब तुम्हारी ही महिमा है, जिसके द्वारा यह स्थावर-जंगम जगत् व्याप्त है।' (१।४।३८)

'यदेतद् दृश्यते मूर्तम्'–(भगवन्! तुम सत्य-ज्ञानस्वरूप हो और) यह आकार ग्रहण करने वाला मूर्तिमान् जगत् जो प्रत्यक्षगोचर हो रहा है, ज्ञानस्वरूप तुम्हारा ही स्वरूप है। (उसका साक्षात्कार योगी करते हैं।) जो योगी नहीं होते, वे संसारी जीव अपने मिथ्याज्ञान से जगत् को सत्य समझते हैं। (१।४।३९)

'ज्ञानस्वरूपमखिलम्'–जो बुद्धिहीन होते हैं, वे जीव पदार्थस्वरूप इस संसार को वास्तविक ज्ञानस्वरूप से समझते हुए मोहरूपी सागर में भटकते रहते हैं। (१।४।४०)

'ये तु ज्ञानविदः शुद्ध'–जो ज्ञानी ओर निर्मल अन्तःकरण के होते हैं, वे सम्पूर्ण चराचर जगत् का साक्षात्कार तुम्हारे (परब्रह्म परमात्मा के) रूप में ही करते हैं, जो सत्य और ज्ञानमय है। (१।४।४१)

'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः'-जो अपने मन में यह निश्चयात्मक ज्ञान रखता है कि मैं (जीव), परब्रह्म परमात्मा तथा यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् सभी जनार्दन-श्रीहरि स्वरूप ही हैं, तीनों परात्पर अभिन्न और अद्वितीय हैं, उस जीव को पुनश्च संसार में उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषादि द्वन्द्वमूलक रोग नहीं होते। (१।२२।८७)

'ज्ञानस्वरूपमत्यन्तम्'-वास्तविक दृष्टि से परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप अत्यन्त निर्मल और ज्ञानस्वरूप है जो मिथ्या अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान के कारण पदार्थ के रूप में भासित होता है। (१।२।६)

'ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसौ'-चूंकि परब्रह्म परमात्मा अखण्डाकार और केवल ज्ञानस्वरूप है, पदार्थस्वरूप नहीं है, (यतः वह निराकार है, अतः हे जीव! तुम उसके) पर्वत, समुद्र, पृथ्वी इत्यादि भेदों को भ्रमात्मक ज्ञान का ही विलास समझो। (२।१२।३९)

'वस्त्वस्ति किं कुत्रचि०'-क्या कोई भी कहीं भी ऐसा (घट-पट आदि) पदार्थ है, जिसका न तो आदि होता है, न मध्य और न अन्त। जो सदा एकरूप रहता है? हे द्विज! पृथ्वी पर जो वस्तु प्रतिपल बदलती है, पूर्ववत् नहीं रहती, उसका वास्तविक सत्यस्वरूप कैसे स्थिर हो सकता है? (२।१२।४१)

'मही घटत्वं घटतः कपालिका'-देखो, मिट्टी घड़े के रूप में बदलती है। (फूटने के बाद) वही घड़ा दो कपालों के रूप में बदलता है। उसके बाद वह चूर होता है और केवल धूलिकणों में बदल जाता है। पश्चात् वह सूक्ष्मतम अणु का स्वरूप ग्रहण करता है। (हे जीव!) जो लोग पाप-पुण्य कर्मों के चक्कर में पड़कर परब्रह्म परमात्मा के सत्यस्वरूप का निश्चय नहीं कर पाते, वे उसमें किस सत्यस्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं? तुम्हीं कहो। (२।१२।४२)

'तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्'-इसलिए हे द्विज! विज्ञान (ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा) को छोड़कर कहीं भी कुछ भी पदार्थों की समष्टि नहीं है। (जो कुछ है, चित्स्वरूप ज्ञानमय परब्रह्म परमात्मा है।) उसी एक अद्वितीय विज्ञान को विभिन्न चित्तवृत्तियों के जीवात्मा जब अपने भिन्न-कर्मों के कारण विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं, तब वह विभिन्न स्वरूपों में सबको प्रतिभासित होता है। (३।१२।४३)

'ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकम्'-परमार्थ ज्ञान वस्तुतः अत्यन्त शुद्ध आणव-कार्मिक तथा मायीय मलों से रहित और (क्षणिक सुख और) दुःख से रहित लोभ-क्रोध-भय आदि सम्पूर्ण विकारों से मुक्त होता है। वह परमार्थ ज्ञान अद्वितीय और सदा एकरूप रहता है और वह है परब्रह्म परमात्मा वासुदेव। और उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। (३।१२।४४)

'सद्भाव एवं भवतो मयोक्तः'–इस प्रकार सत्यस्वरूप जो परमात्मतत्त्व है, मैंने तुम्हें उसका प्रतिपादन कर दिया है। (जिसका शाश्वत अस्तित्व है वही सत्य है और) ज्ञान ही सत्य का वास्तविक रूप है। उससे भिन्न जो कुछ है, वह क्षणभंगुर और असत्य है। वह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। वह व्यावहारिक सत्य त्रिभुवन में व्याप्त है और मैंने आपसे उसका भी निरूपण किया है। (३।१२।४५)

'अविद्यासञ्चितं कर्म'–सम्पूर्ण क्रिया-कलाप अज्ञान-(अविद्या)-मूलक होते हैं और वे सम्पूर्ण जीवों में दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु परमात्मा (आणव-कार्मिक-मायीय मलों से मुक्त होने के कारण) विशुद्ध क्षरणहीन, शान्त, सत्व, रज और तम तीन गुणों से रहित तथा प्रकृति से परे है। सम्पूर्ण प्राणियों में वह अद्वितीय-एक चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा अवस्थित रहता है, न तो उसकी वृद्धि होती है और न उसका क्षय होता है। (२।१३।७०-७१)

'यत्तु कालान्तरेणाऽपि'–राजन्! (प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। समय के साथ उसमें परिवर्तन आता है। साथ ही परिणाम अथवा विवर्त के कारण उसका नाम भी बदलता है।) ऐसी कोन सी वस्तु है, जो वह समय बीतने पर और दूसरा समय आने पर भी (न बदलती हो और) परिणाम, विवर्त आदि के कारण उसको दूसरे नाम से सम्बोधित न करते हों? (वह एकमात्र परब्रह्म परमात्मा है, जो किसी काल में भी नहीं बदलता, परिणाम , विवर्त आदि से वह प्रभावित नहीं होता, इसीलिए उसका नाम भी नहीं बदलता।) (उसके सिवा) कौन और अन्य वस्तु है, जो समय के साथ परिणामादि के कारण दूसरे नाम से सम्बोधित होती हो। और वह परब्रह्म परमात्मा मैं हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। (२।१३।१००)

'यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि'–श्रेष्ठ राजन्! मुझसे-परब्रह्म परमात्मा से भिन्न यदि कोई वस्तु हो, तो उसे (भिन्न नाम से सम्बोधित करना ठीक हो सकता है तथा) 'यह मैं हूँ और यह मुझसे भिन्न है' इस प्रकार उसकी (भिन्नता) प्रदर्शित की जा सकती है। (२।१३।९०)

'यदा समस्तदेहेषु'–समस्त शरीरों में एकमात्र परम पुरुष परब्रह्म परमात्मा का वास रहता है। ऐसी स्थिति में 'आप कौन हैं?', 'मैं यह हूँ' इस प्रकार का व्यवहार वञ्चनामात्र है। (२।१३।९१)

'त्वं राजा शिबिका चेयम्'–'तुम राजा हो, यह पालकी है, हम इस पालकी के वाहक हैं, जो तुम्हारे सामने चलते हैं, और यह समस्त लोक (जनता) आपका है' इस प्रकार का तुम्हारा कथन सत्य नहीं है। (क्योंकि सत्य वही होता है, जिसका सदा अस्तित्व रहता है, उसका किसी भी काल में नाश नहीं होता। और उपर्युक्त सभी नश्वर हैं)। (२।१३।९३)

'वस्तु राजेति यल्लोके'–दुनिया में किसी को देखकर राजा कहते हैं, अन्य को देखकर राजसेवक कहते हैं, तथा इतर वस्तु का भिन्न नामकरण भी करते हैं। राजा में राजधर्म का और उसके सेवक में सेवाधर्म की कल्पना करते हैं। वस्तुतः यह सब व्यवहार हमारे संकल्प का परिणाम है, वास्तव में यह सब कुछ असत्य, नश्वर है। (२। १३। ९९)

'अनाशी परमार्थश्च'–जो प्रज्ञासम्पन्न होते हैं, जिन्हें सत्य-असत्य की पहचान होती है, केवल वे ही उस परम तत्व को प्राप्त करते हैं, जो कभी नष्ट नहीं होता। वही जीव मात्र का परम प्रयोजन–परम पुरुषार्थ होता है। उसका अन्तिम लक्ष्य होता है परमात्मा का साक्षात्कार और मुक्ति। (२। १४। २४)

'परमार्थस्तु भूपाल'–राजन्! मुझसे तुम संक्षेप में परमार्थतत्व का श्रवण करो। वह एक–अद्वितीय है, सर्वत्र व्यापक है, समभाव में स्थित है, शुद्ध–निर्मल है, निर्गुण-(सत्व–रज–तमोगुण से मुक्त) है, प्रकृति से भिन्न है। न उसका जन्म होता है और न वृद्धि। वह इन सबसे रहित है। वह सभी प्राणियों में, सभी वस्तुओं में रहता है। उसका व्यय कभी नहीं होता। (२। १४। २८–२९)

'परज्ञानमयः सद्भिः'–वह परब्रह्म परमात्मा मात्र ज्ञानस्वरूप है, प्रभु सर्वसमर्थ है, वर्तमान में नाम–ज्योति आदि से न उसका संयोग होता है, न भूतकाल में हुआ है और न भविष्यकाल में होगा। (२। १४। ३०)

'तस्याऽऽत्मपरदेहेषु'–उस (चैतन्यस्वरूप ज्ञानमय) परब्रह्म–परमात्मा का अपने और दूसरे शरीरों में जो संयोग होता है, वह एक ही होता है, भिन्न नहीं। वही वास्तविक विशिष्ट ज्ञान और परम तत्व–परम पुरुषार्थ है। जो द्वैतवादी होते हैं, वे तथ्यदर्शी नहीं होते। वे परम तत्व का साक्षात्कार नहीं करते। (२। १४। ३१)

'एवमेकमिदं विद्वन्'–परमार्थ तत्वज्ञानी हे विद्वान्! इस प्रकार यह सम्पूर्ण स्थावर–जंगमात्मक चराचर जगत् (परब्रह्म परमात्मा से) अभिन्न है। यह समस्त विश्व उस परब्रह्म परमात्मा का अभिन्न स्वरूप ही है, जिसे वासुदेव कहते हैं। (२। १५। ३५)

'निदाघोऽप्युपदेशेन'–(गुरुवर ऋभु का निदाघ नामक एक शिष्य था। वह) निदाघ भी गुरुद्वारा प्राप्त दीक्षोपदेश से अद्वैतवादी हो गया। तब वह सभी प्राणियों को परमात्मा के रूप में ही देखने लगा, भिन्न दृष्टि से नहीं। फलस्वरूप उसे परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो गया और उस ब्राह्मण ने वास्तविक मुक्ति प्राप्त कर ली। (२। १६। १९)

'सितनीलादिभेदेन'–(वस्तुतः आकाश का कोई रंग नहीं होता।) जिनकी दृष्टि भ्रम में पड़ी रहती है, वे आकाश को सफेद, नीला आदि विभिन्न रंगों में देखते हैं और उसे अलग–अलग समझते हैं, यद्यपि वह एक ही होता है। उसी प्रकार जो भ्रम में पड़े रहते हैं, उन्हें परमात्मा अलग–अलग दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः वह एक ही है, भिन्न–भिन्न नहीं। (२। १३। २०)

'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्'–इस विश्व में समष्टिस्वरूप एक–अखण्ड–अद्वितीय जो कुछ है, वह एकमात्र अच्युत (कभी च्युत न होने वाले) परब्रह्म परमात्मा ही हैं, उनसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है। वही मैं हूँ और वही तुम हो। जो कुछ है वह परमात्मस्वरूप ही है, तुम भेदभाव और मोह को छोड़ दो। (२। १६। २२-२३)

'इतीरितस्तेन स राजवर्यः'–(यह समस्त तत्त्वोपदेश जब अवधूत ने सौवीर नरेश को किया, तब) उसने अपनी भेददृष्टि का परित्याग किया। वह सर्वत्र परम प्रयोजनस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का ही दर्शन करने लगा। उसकी दृष्टि परमार्थमयी हो गयी और अपने पूर्वजन्म का स्मरण होने के कारण उस ब्राह्मण को भी परमात्मस्वरूप का ज्ञान हो गया। फलतः उसी जन्म में उसे मुक्ति मिली। (२। १६। २४)

इस प्रकार विष्णुपुराण में अद्वैतदृष्टि का विचार किया गया है।

शाङ्करभाष्यम्

तथा लैङ्गे–

"तस्मादज्ञानमूलो हि संसारः सर्वदेहिनाम्।
परतन्त्रे स्वतन्त्रे च भिदाभावाद् विचारतः॥
एकत्वमपि नाऽस्त्येव द्वैतं तत्र कुतोऽस्त्यहो!।
एकं नास्त्यथ मर्त्यं च कुतो मृतसमुद्भवः?॥
नाऽन्तःप्रज्ञो बहिष्प्रज्ञो न चोभयत एव च।
न प्रज्ञानघनस्त्वेवं न प्रज्ञोऽप्रज्ञ एव सः॥
विदिते नास्ति वेद्यं च निर्वाणं परमार्थतः।
अज्ञानतिमिरात् सर्वं नाऽत्र कार्या विचारणा॥
ज्ञानं च बन्धनं चैव मोक्षो नाऽप्यात्मनो द्विजाः!।
न ह्येषा प्रकृतिर्जीवो विकृतिश्च विकारतः।
विकारो नैव मायैषा सदसद्व्यक्तिवर्जिता॥"

तात्पर्यदीपिका

लिङ्गपुराण में भी इसी प्रकार परमात्म-तत्व का प्रकाशन किया गया है–

'तस्मादज्ञानमूलो हि'–(सभी जीव विविध देहों का आश्रय लेकर जो करते हैं, वह सब संसरण अज्ञान के कारण ही करते हैं। दूसरे शब्दों में) संसरण अर्थात् परिवर्तनशीलता ही संसार है, जो समस्त देहधारी जीवों के अज्ञान का कारण है। विचार करने पर यह समझ में आता है कि (देह, देश, काल आदि के बन्धन में पड़कर) जीव परतन्त्र होता है। बद्ध परतन्त्र जीव और बन्धनमुक्त स्वतन्त्र परमात्मा दोनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

'एकत्वमपि नास्त्येव'–इतना ही नहीं, उस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र परमात्मा में एकत्व भी नहीं है, (वहाँ एकत्व आदि संख्या का भी विचार नहीं है, वहाँ एकत्व संख्या धर्म-की द्योतक न होकर अखण्डता की बोधक होती है। ऐसी स्थिति में) वहाँ द्वैतभावना का विचार किस प्रकार सम्भव है? जब वहाँ एकत्व और देहधारी मरणशील जीव का मृत्युधर्म (मर्त्य) भी नहीं है, तब मृत की पुनः उत्पत्ति की कल्पना करना किस प्रकार सम्भव है?

'नाऽन्तःप्रज्ञो बहिष्प्रज्ञो'–(जो अन्तर्मुखी होता है, उस प्रज्ञाशील को 'अन्तप्रज्ञ' कहते हैं, जो बहिर्मुखी होता है, उस प्रज्ञाशील को 'बहिष्प्रज्ञ' कहते हैं।) परब्रह्म परमात्मा इन सबसे भिन्न है। वह न तो अन्तःप्रज्ञ (अन्तर्मुख प्रज्ञासम्पन्न) हैं और न बहिष्प्रज्ञ (बहिर्मुख प्रतिभासम्पन्न)। वह उभयप्रज्ञासम्पन्न भी नहीं है। वह प्रज्ञानधन भी नहीं है। वह न तो प्रज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञानशील) है और न अज्ञ (ज्ञानरहित, अज्ञानी)।

'विदिते नास्ति वेद्यं च'–(वस्तुतः वह ज्ञानस्वरूप है और उसका) ज्ञान होने पर किसी अन्य वस्तु के ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती, कोई ज्ञेय नहीं रहता। जीवन के परम प्रयोजन का विचार करने पर हमारा परम प्रयोजन परम पुरुषार्थ–मोक्ष है, उसी का पर्याय है निर्वाण। परब्रह्म परमात्मा निर्वाणस्वरूप ही है। हमारे चारो ओर जो अज्ञान का अन्धेरा छाया रहता है, उसके कारण हम किसी को ज्ञेय, किसी को ज्ञाता आदि समझते हैं। वस्तुतः इस विषय में कोई विचार नहीं करना चाहिए।

'ज्ञानं च बन्धनं चैव'–(द्विज वह होता है, जिसका दुबारा जन्म होता है, जिसकी ज्ञानदृष्टि खुलती है। ऐसे) हे द्विजों! न तो परब्रह्म परमात्मा को कोई ज्ञान होता है, न वह बन्धन में पड़ता है और न उसका मोक्ष होता है। जीवात्मा न तो प्रकृतिस्वरूप है और न विकृतिस्वरूप। वह विकार का विकार भी नहीं है। उपर्युक्त सभी अनुभव उसकी माया, उसकी लीला है, जिसे न तो सत् कहा जा सकता है और न असत्। वह माया इन दोनों अभिव्यक्तियों से परे विलक्षण है।

शाङ्करभाष्यम्

तथाऽऽह भगवान् पराशरः–

"अस्माद्धि जायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते।
स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः॥
न चाऽऽत्रैवं संसरति न च संसारयेत् परम्।
न कर्ता नैव भोक्ता च न च प्रकृतिपूरुषौ॥
न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः।
तस्मादज्ञानमूलो हि संसारः सर्वदेहिनाम्॥

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥
तस्मादद्वैतमेवाऽऽहुर्मुनयः परमार्थतः।
ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद् विचक्षणाः॥
अर्थस्वरूपमज्ञानात् पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः।
कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः॥
दृश्यते ह्यर्थरूपेण पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः।
यदा पश्यति चाऽऽत्मानं केवलं परमार्थतः॥
मायामात्रमिदं द्वैतं तदा भवति निर्वृतः।
तस्माद् विज्ञानमेवाऽस्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः॥"

तात्पर्यदीपिका

उसी प्रकार भगवान् महर्षि पराशर मुनि ने (अपनी स्मृति में) यह प्रतिपादन किया है–

अस्माद्धि जायते विश्वम्–इसी परब्रह्म परमेश्वर से चराचर विश्व की सृष्टि होती है और इसी से उसका विलय भी होता है। वह परब्रह्म परमात्मा माया से सम्पन्न मायी है और जब उस माया के बन्धन में पड़ता है, तब नाना प्रकार की मूर्तियों, आकारों का निर्माण करता रहता है।

न चात्रैवं संसरति–(इस प्रकार उसकी सभी सृष्टि संसरणशील, परिवर्तनशील है। किन्तु) वह परब्रह्म परमात्मा उस संसरणशील संसार में उस प्रकार संसरण नहीं करता, (जिस प्रकार उसके द्वारा सृष्ट अन्य जीव करते हैं।) और न दूसरे जीवों को संसरण करने के लिए प्रवृत्त करता है। क्योंकि वह न तो कर्ता है और न भोक्ता। न प्रकृति है और न पुरुष। (कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म उसमें नहीं है। प्रकृति और पुरुष से विलक्षण उनसे भी परे परब्रह्म-परमात्मा की स्थिति है, वह तुरीय (चतुर्थ) स्थिति में रहता है।)

न माया नैव च प्राणः–वह परब्रह्म परमात्मा न माया है और न पञ्चप्राणस्वरूप प्राणवायु है। परमार्थ दृष्टि से वह अखण्ड चैतन्य है। इसलिए यह समस्त परिवर्तनशील संसार सभी देहधारी जीवों को उनके अज्ञान के कारण ही प्राप्त होता है।

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा–वह परब्रह्म परमात्मा नित्य–सदा वर्तमान, सर्वगत–सर्वव्यापी, कूटस्थ और दोषवर्जित अर्थात् आणव, मायीय और कार्म त्रिविध मलों से मुक्त है। वह एक अखण्ड होने पर भी अपनी माया शक्ति के द्वारा भिन्न–खण्ड–खण्ड प्रतीत होता है। वस्तुतः वह भिन्न नहीं होता।

तस्माददैतमेवाऽऽहुः–अत एव मननशील मन्त्रद्रष्टा ऋषिमुनियों ने परमार्थदृष्टि से अद्वैत-तत्त्व का ही प्रतिपादन किया है और विद्वानों ने समस्त परिवर्तनशील स्थावर-जंगमात्मक जगत् को ज्ञानस्वरूप कहा है।

अर्थस्वरूपमज्ञानाम्–जिनकी दृष्टि दूषित भ्रान्त है, वे दूसरे लोग जगत् को परमार्थस्वरूप सत्य समझते हैं। चैतन्यमय परब्रह्म स्वभावत: कूटस्थ, सत्व-रज-तम त्रिगुणदोषवर्जित और सर्वव्यापक है।

दृश्यते ह्यर्थरूपेण–जो भ्रम में पड़े रहते हैं, वे परब्रह्म-परमात्मा को वस्तु (पदार्थ) के रूप में देखते हैं। (वे उसके चैतन्यस्वरूप को नहीं पहचानते, उनकी दृष्टि केवल भौतिक होती है।)

यदा पश्यति चाऽऽत्मानम्–जब जीव परमार्थ दृष्टि से मात्र परब्रह्म-परमात्मा के चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार करता है और इस द्वैतप्रपञ्च को माया की लीला मात्र समझता है, तब वह निर्वृत अर्थात् निर्वाण को प्राप्त होता है, उसे मुक्ति मिलती है। अत: परमार्थ दृष्टि से जो कुछ सत्य है, वह चैतन्यस्वरूप ज्ञानमय परब्रह्म परमेश्वर ही है, प्रपञ्च अथवा संसार सत्य नहीं है। (क्योंकि सत्य वही होता है, जो सदा शाश्वत होता है, अनित्य-नश्वर नहीं। संसार नश्वर-अनित्य है अत: वह असत्य है।)

शाङ्करभाष्यम्

प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम्–**एवं श्रुत्यादिना नामादिकारणोपन्यासमुखेन स्वरूपेण च बाधितत्वात् प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमवगम्यते। अस्थूलादिलक्षणस्य ब्रह्मणस्तद्विपरीतस्थूलाकारो मिथ्या भवितुमर्हति। यथैकस्य चन्द्रमसस्त-द्विपरीतद्वितीयाकारस्तद्वत्।**

तात्पर्यदीपिका

इस प्रकार विविध श्रुतियों, विविध उपनिषद् ग्रन्थों, नानाविध स्मृतियों, अनेक पुराणों और उपपुराणों तथा अन्य वेदानुमोदित आध्यात्मिक ग्रन्थों द्वारा नाम-रूप आदि कारणों का प्रमाणदिग्दर्शनपूर्वक और अपने स्वरूप से बाधित होने के कारण संसार की असत्यता (अस्तित्वशून्यता) सिद्ध होती है। क्योंकि जहाँ ब्रह्म अपने स्वरूप से स्थूल न होकर सूक्ष्म आदि लक्षणों से सम्पन्न है, वहाँ प्रपञ्च (संसार) ठीक उसके विपरीत स्थूल आदि लक्षणों से युक्त है। ऐसी स्थिति में वह असत्य-मिथ्या ही सिद्ध होगा, सत्य नहीं।

जिस प्रकार चन्द्रमा एक ही है और उसका आकार भी एक ही है। उसके विपरीत चन्द्र के प्रतिबिम्ब को, जो उसके आकार का प्रतीत होता है, उसे दूसरा चन्द्रमा नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् दोनों सत्य नहीं हो सकते, ब्रह्म सत्य है और जगत् असत्य।

शाङ्करभाष्यम्

सूत्रकृन्मतोपन्यासपूर्वकं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वसमर्थनम्-तथा च सूत्रकारो ''न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि'' (ब्र. सू. ३। २। ११) इति स्वरूपत उपाधितश्च विरुद्धरूपद्वयासंभवान्निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य ''न भेदात्''....(ब्र. सू. ३। २। १२)इति भेदश्रुतिबलात्किमिति सविशेषमपि ब्रह्म नाऽभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य ''न प्रत्येकमतद्वचनात्'' इत्युपाधिभेदस्य श्रुत्यैव बाधितत्वादभेदश्रुतिबलात् सविशेषस्य ग्रहणायोगान्निर्विशेषमेवेत्युपपाद्य ''अपि चैवमेके'' (ब्र. सू. ३। २। १३) इति भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेवैके शाखिनः समामनन्ति-''मनसैववेदमाप्तव्यम्'' (क. उ. ४। ११), ''नेह नानास्ति किञ्चन,'' ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' (बृ. उ. ४। ४। १९), ''एकधैवाऽनुद्रष्टव्यमि''ति (बृ. उ. ४। ४। २०), ''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्''(श्वेता. उ. १। १२)इति सर्वभोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावताऽभिधीयत इति।

तात्पर्यदीपिका

ब्रह्मसूत्र का प्रमाण-[कुछ श्रुतिवचन ब्रह्म की विशेषता का निर्धारण करते हैं। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् (३। १४।२) में सविशेष ब्रह्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है-'सर्वकर्माः सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः।' अन्य श्रुतिवाक्य ब्रह्म को निर्विशेष कहते हैं। जैसे-बृहदारण्यकोपनिषद् (३। ८। ८) में निर्विशेष ब्रह्म का इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है-'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्धम्'। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि इन श्रुतियों को आधार मान कर ब्रह्म को निर्विशेष-सविशेष दोनों माना जाय अथवा दोनों में से एक माना जाय? दोनों में से एक मानने पर ब्रह्म को सविशेष माना जाय अथवा निर्विशेष? दोनों प्रकार के श्रुतिवचन ब्रह्म को निर्विशेष-सविशेष दोनों सिद्ध कर रहे हैं। किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्मों की सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः ब्रह्म भी सविशेष निर्विशेष दोनों नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास परब्रह्म को निर्विशेष-निर्विकल्पक मानते हैं।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि (ब्र. सू. ३। २। ११) इस सूत्र के द्वारा परब्रह्म को निर्विशेष-निर्विकल्पक प्रतिपादित करते हुए सूत्रकार महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि जिस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का कोई स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु की क्रमशः गन्धवत्ता, शीतलता, रूप-दाहकता, स्पर्श, आदि उपाधियां भी ब्रह्म के साथ जुड़ नहीं सकती, क्योंकि सभी श्रुतियाँ सर्वत्र ब्रह्म की निर्विशेष-निर्विकल्पक ही कहती हैं। संक्षेप में-]

ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यास 'न स्थानतोऽपि' इत्यादि सूत्र द्वारा स्वरूप से तथा पृथिवी आदि की गन्धवत्ता आदि उपाधियों (स्थान) से परब्रह्म को बाधित और असम्बद्ध होने से निर्विशेष-निर्विकल्पक कहते हैं। उसके अनन्तर-

'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्' (ब्र. सू. ३।२।१२) इस सूत्र के 'न भेदात् इति चेत्' इस अंश के द्वारा यह आशंका प्रकट करते हैं कि विभिन्न विद्याओं में 'चतुष्पाद् ब्रह्म', 'षोडशकल ब्रह्म' इत्यादि वचनों द्वारा ब्रह्म को सविशेष माना गया है। कोई ब्रह्म की चतुष्पाद, अन्य षोडशकलासम्पन्न तथा कतिपय मंत्रद्रष्टा त्रैलोक्य-शरीरसम्पन्न 'वैश्वानर' आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। अनन्तर इसी सूत्र में 'न प्रत्येक-मतद्वचनात्' इस अंश के द्वारा उसका यह खण्डन करते हैं कि ब्रह्म भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु अखण्ड-एक निर्विशेष-निर्विकल्प-निराकार है। क्योंकि सभी श्रुतियाँ यह प्रतिपादन करती हैं कि ब्रह्म का जैसा भेद दृष्टिगोचर हो रहा है, वह वैसा नहीं है। यह भेददृष्टि उपासनामूलक है और परमार्थदृष्टि से उसका अभेद में पर्यवसान होता है।

[उदाहरण के लिए बृहदारण्य उपनिषद् (२।५।१) का यह मंत्र देखिए- 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शरीरतेजोमयो-ऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (द्र. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।५।१२)]

इस प्रकार ब्रह्म के सविशेष स्वरूप का खण्डन करते हुए उसको निर्विशेष ही सिद्ध करते हैं। पुनश्च-

'अपि चैवमेके' (३।२।१३) इस सूत्र के द्वारा महर्षि वेदव्यास यह कहते हैं कि कतिपय वेदशाखाध्यायी भेददृष्टि (द्वैतदृष्टि) की निन्दा करते हुए ब्रह्म को अद्वैत-(अभेद) दृष्टि से ही देखते हैं।

कठोपनिषद् (४।११) कहती है-'मनसैवेदमाप्तव्यम्'-परब्रह्म-परमेश्वर का साक्षात्कार एकमात्र मन से ही करना चाहिए। अन्य उपनिषद् कहती है-'नेह नानास्ति किञ्चन'-इस संसार में कुछ भी नाना प्रकार का नहीं है, (जो कुछ है एक अखण्ड परब्रह्म-परमेश्वर है।)

बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४।१६) कहती है-'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति'-जो इस संसार में पृथक-पृथक् भेददृष्टि से देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त करता है। (क्योंकि अविद्या ही मृत्यु है।) 'एकधैवाऽनुद्रष्टव्यम्' (बृ. उ. ४।४।२०)-इसलिए ब्रह्म का साक्षात्कार अद्वय-अखण्ड ही करना चाहिए। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१२) कहती है-'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'-भोक्ता, भोग्य और प्रेरक इस भेददृष्टि को मान्यता देते हुए इस ब्रह्म को तीन प्रकार का कहा गया है, जो वस्तुतः एक अखण्ड-अद्वय है। इस प्रकार सर्वभोग्य, भोक्ता और नियन्ता (प्रेरक) के रूप में भासमान, त्रिविध प्रपञ्च (विश्व) वस्तुतः एक अखण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है यही उक्त श्रुतिवचनों का निष्कर्ष है।

शाङ्करभाष्यम्

सविशेषत्वमाशङ्क्य तन्निरसनं श्रुतिविरोधपरिहारश्च–पुनरपि निर्विशेषपक्षे दृढीकृते किमित्येकस्वरूपस्य उभयस्वरूपासंभवेऽनाकारमेव ब्रह्माऽवधार्यते न पुनर्विपरीतमित्याशङ्क्य "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" (ब्र. सू. ३।२।१४) इति रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्माऽवधारयितव्यम्। कस्मात्? तत्प्रधानत्वात्।"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्"(बृ.उ.३।८।८),"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (क. उ. ३।१५), "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म" (छा. उ. ४।१४।७), "तदेतद् ब्रह्माऽपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्येतदनुशासनम्" (बृ. उ. २।५।१६) इत्येवमादीनि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि। इतराणि कारणब्रह्मविषयाणि न तत्प्रधानानि। तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति। अतस्तत्परश्रुतिप्रतिपन्नत्वान्निर्विशेषमेव ब्रह्माऽवगन्तव्यं न पुनः सविशेषमिति निर्विशेषपक्षमुपपाद्य का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिः? इत्याकाङ्क्षायां "प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यात्"(ब्र. सू. ३।२।१५) इति चन्द्रसूर्यादीनां जलाद्युपाधिकृतनानात्ववच्च ब्रह्मणोऽप्युपाधिकृतनानात्वरूपस्य विद्यमानत्वात् तदाकारवतो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते।

तात्पर्यदीपिका

पुनश्च यह प्रश्न उठता है कि उपनिषदों में ब्रह्म के दोनों लक्षण प्रतिपादित हैं–निराकार और साकार। दोनों में से कोई एक लक्षण ही ब्रह्म का हो सकता है, दोनों नहीं। उसमें आप निर्विकल्प निराकार ब्रह्म के लक्षण का ही मण्डन करते हैं, सविकल्पक साकार ब्रह्म का नहीं। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का समाधान महर्षि वेदव्यास इस ब्रह्मसूत्र (३।२।१४) से करते हैं–'ब्रह्म अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' ब्रह्म निराकार है, उसका न रूप है, और न गन्ध आदि। इसमें प्रमाण क्या है?–'तत्प्रधानत्वात्'। विभिन्न श्रुतिवचन प्रधान रूप से ब्रह्म का निरूपण निर्विकल्पक-निराकार ही करते हैं।

'बृहदारण्य उपनिषद्' (३।८।८) कहती है–'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'–ब्रह्म न तो अणु है, न ह्रस्व है और न दीर्घ है।

कठोपनिषद् (३।१५) कहती है–'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'–ब्रह्म का न तो कोई शब्द है, न कोई स्पर्श है और न कोई रूप है। वह अव्यय है, उसका नाश नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् (४।१४।७) कहती है–'आकाशो वै नाम नामरूपयो-र्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म'–आकाश ही ब्रह्म का नाम है। जिस प्रकार आकाश नाम रूप आदि का निर्वाह करता है, अर्थात् जिस प्रकार न तो आकाश का कोई नाम होता है न रूप आदि, हम उसके नाम-रूप की कुछ भी कल्पना कर सकते हैं। उसी प्रकार वस्तुतः ब्रह्म का नाम-रूप आदि कुछ भी नहीं होता। हम उसे कुछ भी समझ सकते हैं। जिसके अन्तर्गत नाम रूप आदि सब कुछ आते हैं, वही ब्रह्म है, अतः आकाश ही ब्रह्म है।

पुनश्च अन्यत्र बृहदारण्यक उपनिषद् (२।५।१९) कहती है–'तदेतत् ब्रह्माऽपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्येतदनुशासनम्'–वह एकमात्र ब्रह्म है, न तो उसके पूर्व ब्रह्म है और न उसके बाद। वह ब्रह्म आदि-अन्त-रहित है। उसका कोई वाह्यस्वरूप नहीं है। यह चित्स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म है, जो सबकी विश्व-प्रपञ्च की अनुभूति करता है। यही वेदों का आज्ञा है।

इस प्रकार के सभी श्रुतिवचन प्रपञ्चरहित ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, जो आत्मतत्व चैतन्य से अभिन्न है। सारा का सारा विश्व उसी चित्शक्ति में समाहित है। इससे भिन्न श्रुतिवचन कारणब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, प्रधान ब्रह्म का नहीं। जो प्रधान ब्रह्म (चैतन्यमय आत्मतत्व) का प्रतिपादन करते हैं, वे श्रुतिवचन उनसे भिन्न ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवचनों से प्रबल होते हैं। इसलिए सभी श्रुतिवचन प्रधानतया चैतन्यमय आत्मतत्व का प्रतिपादन करने के कारण ब्रह्म को निर्विशेष-निर्विकल्पक निराकार समझना चाहिये, क्योंकि चैतन्य का कोई आकार नाम-रूप इत्यादि नहीं होता। इसलिये ब्रह्म सविकल्पक साकार नहीं हो सकता।

इस प्रकार ब्रह्म का निराकार लक्षण सिद्ध होने पर यह प्रश्न उठता है कि जो श्रुतिवचन सविकल्पक साकार ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, उनकी संगति किस प्रकार लगानी चाहिये?

इसका समाधान यह ब्रह्मसूत्र (३।२।१५) देता है–'प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यात्।' वह ब्रह्म निर्विकल्पक निराकार होने पर भी सविकल्पक साकार भी है। क्योंकि जिस प्रकार चन्द्र भी एक है, सूर्य भी एक है, किन्तु जल, दर्पण इत्यादि में उसके अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। इसलिए चन्द्र, सूर्य आदि एक होने पर भी अनेक प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म निर्विकल्पक निराकार एक ही है, तथापि विभिन्न उपाधियों का आश्रय लेने के कारण वह अनेक रूपों में प्रकाशमान है। अतः साकार ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां व्यर्थ नहीं है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की उपासना कठिन होती है, साकार ब्रह्म की उपासना सहज होती है। (शिव-शक्ति-गणपति-विष्णु-सूर्य इस पञ्चदेवोपासना का यही रहस्य है।) साकार और निराकार दोनों प्रकार के अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादन में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

शाङ्करभाष्यम्

निर्विशेषपक्षदृढीकरणम्-एवमवैयर्थ्यं नानाकारब्रह्मविषयाणां वाक्यानामिति भेदश्रुतीनामौपाधिकब्रह्मविषयत्वेनाऽवैयर्थ्यमुक्त्वा पुनरपि निर्विशेषमेव ब्रह्मेति द्रढयितुम् "आह च तन्मात्रम्" (ब्र. सू. ३। २। १६) इति, "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव। एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ. उ. ४। ५। १३) इति श्रुत्युपन्यासेन विज्ञानव्यतिरिक्तरूपान्तराभावमुपन्यस्य "दर्शयति चाऽथो अपि स्मर्यते" (ब्र. सू. ३। २। १७) इति, "अथाऽत आदेशो नेति नेति" (बृ. उ. २। ३। ६), "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (के. उ. १। ३), "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति. उ. २। ४। १),

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्।"
"विश्वस्वरूपवैरूप्यं लक्षणं परमात्मनः।"

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युपन्यासमुखेन प्रत्यस्तमितभेदमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र. सू. ३।२।१८) इति यत एव चैतन्यमात्ररूपो नेति नेत्यात्मको विदिताविदिताभ्यामन्यो वाचामगोचरः प्रत्यस्तमितभेदो विश्वस्वरूपविलक्षणस्वरूपः परमात्माऽविद्योपाधिको भेदः। अत एव चाऽस्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यादिरिवेत्युपमा दीयते मोक्षशास्त्रेषु।

तात्पर्यदीपिका

इस प्रकार ब्रह्म का विभिन्न आकार प्रतिपादन करने वाले जो श्रुतिवचन है, वे व्यर्थ नहीं है, क्योंकि यह भेद उसकी नानाविध उपाधियों के कारण है, वस्तुतः ब्रह्म एक है और वह निर्विकल्पक, विशेषताओं से रहित ही हैं इसी बात का दृढ़ता से प्रतिपादन करने के लिए महर्षि वेदव्यास इस ब्रह्मसूत्र की अवतारण करते हैं-

"आह च तन्मात्रम्" (३। २।१६)। अर्थात् एकमेव परब्रह्म है और वह केवल चैतन्यस्वरूप है। इसके समर्थन में महर्षि बादरायण ने बृहदारण्यक उपनिषद् का यह श्रुतिवचन उद्धृत किया है-"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव। एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (४। ५। १३)-इस श्रुतिवचन का अर्थ इस प्रकार है-सेन्धा नमक का टुकड़ा बाहर-भीतर दोनों में एकस्वरूप रहता है, उसका हम मात्र पिण्डीभूत रस के रूप में अनुभव कर सकते हैं, चख सकते

हैं। ठीक उसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप अन्तर्बाह्य दोनों दृष्टि से सम्पूर्ण रूप से पिण्डीभूत एकत्रित प्रज्ञानस्वरूप ही है।

इस श्रुतिवचन के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म का लक्षण मात्र विज्ञानमय है, उसके अतिरिक्त उसके दूसरे लक्षण नहीं हो सकते। पुनश्च यह ब्रह्मसूत्र सूत्रित हुआ है-**"दर्शयति चाऽथो अपि स्मर्यते।"** (३।२।१७) इस सूत्र का अर्थ है-जिस प्रकार श्रुति ब्रह्म का निरूपण निर्विशेष (विशेषणों से रहित) करती है, उसी प्रकार स्मृति भी करती है। इसमें अनेक श्रुतिवचन प्रमाण है-**"अथाऽत आदेशो नेति नेति।"** इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् (२। ३। ६) कहती है। अर्थात् श्रुति का यह आदेश है कि जिस प्रकार आत्मा का निरूपण साकार किया गया है, वैसा वह नहीं है, नहीं है।

केनोपनिषद् (१।३) का वचन है-**"अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि।"** वह परब्रह्म जिसका ज्ञान होता है उससे और जिसका ज्ञान नहीं होता उससे भी परे है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का मन्त्र (२।४।१) है-**"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"**-जहाँ से परब्रह्म परमात्मा को मन के साथन पाकर वाणी भी लौट जाती है। अर्थात् जिसकी न तो मन के द्वारा कल्पना करना सम्भव होता है और न वाणी ही उसका वर्णन कर सकती है।

स्मृतियाँ भी श्रुतियों का अनुसरण करती हैं। एक स्मृति कहती है-**"प्रत्यस्तमित-भेदं यत्"** इत्यादि। उस ज्ञान की ब्रह्मसंज्ञा है, जिसमें सभी प्रकार के भेद अस्तंगत होते हैं, जिसकी मात्र सत्ता, केवल अस्तित्व है। जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है और न वाणी ही उसका वर्णन कर सकती है, वह ज्ञान केवल स्वसंवेद्य है और उसी का नाम ब्रह्म है।

अन्य स्मृतिवचन इस प्रकार है-**"विश्वस्वरूपवैरूप्यम्"** इत्यादि। परब्रह्म परमात्मा का वही लक्षण होता है, जो सारे संसार के लक्षणों से विलक्षण हो, किसी भी स्वरूप से उसका मेल न बैठता हो।

इन श्रुतिवचनों और स्मृतिवचनों को उद्धृत करते हुए महर्षि बादरायण वेदव्यास यह सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म में सभी भेद अस्तंगत होते हैं। पुनश्च वे यह सूत्र सूत्रित करते हैं-**"अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्"** (ब्र. सू. ३।२।१८)।

इसलिए सविकल्पक (साकार) ब्रह्म की उपमा जल में पड़े हुए सूर्यप्रतिबिम्ब, (चन्द्रप्रतिबिम्ब आदि) से की जाती है। यतः परब्रह्म परमात्मा केवल चैतन्यस्वरूप है, श्रुतियां विश्व के अनेक स्वरूपों को देखकर उसका 'नेति नेत्ति' इस प्रकार निषेध करती है। वह जो ज्ञात है, उससे भिन्न है और जो अज्ञात है उससे भी भिन्न है। वह वाणी का विषय नहीं है। उसमें सभी भेद विलय को प्राप्त करते हैं। विश्व के विभिन्न स्वरूपों

से भी उसका स्वरूप विलक्षण, भिन्न है। परमात्मा की भेदप्रतीति अविद्या के आवरण (उपाधि) के कारण ही होती है। जल में प्रतिबिम्बित सूर्य-चन्द्रादि के साथ मुक्तिपरक शास्त्रों में उसकी जो तुलना की जाती है जो अविद्या के आवरण (उपाधि) कारण भासित होने वाले परब्रह्म परमात्मा के नानाविध स्वरूपों के कारण की जाती है। वे भेद पारमार्थिक नहीं है, अपितु प्रतिभासिक है।

शाङ्करभाष्यम्

"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् पृथक्।
तथाऽऽत्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांऽशुमान्॥"
(याज्ञ. ३। १४४)

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥"

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥"

इति दृष्टान्तबलेनाऽपि निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अम्बुवदग्रहणात्" (ब्र.सू. ३।२।१९) इत्यात्मनोऽमूर्तत्वेन सर्वगतत्वेन जलसूर्यादिवन्मूर्तसंभिन्न-देशस्थिततत्वाभावाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सादृश्यं नास्तीत्याशङ्क्य "वृद्धिह्रासभाक्त्वम्" (ब्र. सू. ३। २। २०) इति न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-योर्विवक्षितांशमुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। वृद्धिह्रासभाक्त्वमत्र विवक्षितम्। जलगतसूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे च ह्रसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तत्त्वमस्ति।

तात्पर्यदीपिका

[अग्रिम प्रमाणवचनों में विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा परब्रह्म को निर्विकल्पक-निर्विशेष-निराकार सिद्ध किया गया है, जिनका आशय इस प्रकार है-]

'आकाशमेकं हि यथा'-(याज्ञ. ३।१४४) जिस प्रकार आकाश एक होने पर भी घट, मठ, घर, प्रासाद आदि अनेक उपाधियों (आवरणों) का आश्रय लेने के कारण पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। उनके नष्ट होने पर परमार्थतः उसकी अखण्डता और एकता का भान होता है। ठीक उसी प्रकार यद्यपि परब्रह्म परमात्मा अखण्ड-एक है, तथापि विभिन्न उपाधियों (मनुष्य, पशु, पक्षी तथा विभिन्न योनियों अथवा वृक्ष-पर्वत इत्यादि) का आश्रय लेने के कारण विभिन्न प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ सूर्य अखण्ड-एक प्रकाश-

स्वरूप है, तथापि विभिन्न जलाशयों और दर्पण इत्यादि में उसके प्रतिबिम्ब देखकर वह अनेक प्रतीत होता है।

'एक एव हि भूतात्मा'—पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश आदि पञ्चभूतों में विराजमान परब्रह्म परमात्मा वस्तुतः एक ही है, तथापि विभिन्न पाञ्चभौतिक शरीरों में अवस्थित रहकर एक अखण्ड होने पर भी वह अनेक पृथक् पृथक् प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह है कि विभिन्न पाञ्चभौतिक शरीरों का आश्रय लेकर अखण्ड चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अपने को खण्ड-खण्ड करता है, जिसे जीवात्मा कहते हैं। विभिन्न जीवात्मा चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के ही विभिन्न अंश है। उदाहरणार्थ यद्यपि चन्द्र एक है, तथापि विभिन्न जलाशयों में उसके अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और हम कहते हैं कि चन्द्र अनेक हैं। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा अखण्ड अद्वितीय है, अनेक नहीं।

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्'—जिस प्रकार अखण्ड प्रकाशपुञ्जस्वरूप सूर्य विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रतीत होता है, उसी प्रकार अखण्ड चित्-प्रकाशस्वरूप द्युतिमान् (देव) परब्रह्म परमात्मा विभिन्न क्षेत्रों (मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, वृक्ष आदि विभिन्न पञ्चभौतिक शरीरों) में अवस्थित होकर विभिन्न प्रतीत होता है, जिसे जीव कहते हैं। यह भेद पारमार्थिक न होकर उपाधिकृत है, अविद्याजन्य है। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा अविकारी अजन्मा है, उसका कभी भी जन्म नहीं होगा। जीवात्मा जन्म लेता है, परमात्मा नहीं।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से ब्रह्म को विशेषणरहित और निराकार सिद्ध करते हुए **'अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम्'** (ब्र. सू. ३। २। १९) इस सूत्र से यह आशंका प्रकट की गयी है कि आपने जितने दृष्टान्त दिये हैं, वे परमात्मा के लिए ठीक नहीं है। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा अमूर्त है, उसकी कोई मूर्ति या प्रतिमा नहीं है, वह निराकार है। साथ ही वह सर्वव्यापी कण-कण में अवस्थित है। सूर्य-चन्द्र आदि के विभिन्न जलाशयों में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब उन-उन स्थानों पर रहते हैं, सर्वव्यापी नहीं होते। साथ ही वे साकार हैं निराकार नहीं। इस प्रकार इन दृष्टान्तों उपमाओं और दार्ष्टान्तिक (उपमेय) स्वरूप परमात्मा में किसी प्रकार की तुलना सम्भव नहीं है।

इस आशंका का समाधान करने के लिये अग्रिम ब्रह्मसूत्र का उपन्यास है—**"वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयस्तमञ्जस्यादेवम्"** (ब्र. सू. ३।२।२०)।

इसका आशय यह है कि यह सत्य है कि चन्द्र और सूर्य एक हैं और उनके प्रतिबिम्ब अनेक हैं। जब जल की वृद्धि होगी, तो उसमें प्रतिबिम्बित सूर्य-चन्द्र आदि के प्रतिबिम्बों की भी वृद्धि होगी, जब जल घटने लगेगा, तब वे प्रतिबिम्ब भी क्षीण होने लगेंगे। उसी प्रकार उपाधिकृत भेद के कारण ही अखण्ड चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा जीवात्माओं के रूप में अनेक होता है और उसकी वृद्धि तथा ह्रास भी होता है। इस दृष्टि से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता है सर्वांश में नहीं। क्योंकि उपमान

अधिक गुणशाली रहता है, उपमेय न्यून गुणशाली रहता है। सर्वांश में यदि समानता हो तो उनका दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव अथवा उपमानोपमेय भाव ही समाप्त हो जायगा।

विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित चन्द्र-सूर्य आदि के प्रतिबिम्बों के दृष्टान्तों द्वारा समस्त प्रपञ्च की वृद्धि और ह्रास को प्रदर्शित किया गया है, जिसमें चैतन्यस्वरूप परमात्मा का वास है। समस्त प्रपञ्च नश्वर है, परमात्मा नहीं। जल में पड़ा हुआ सूर्य, चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब जल के घटने पर घटता है, जल के हिलने डुलने पर हिलता है और उसका (विभिन्न पात्रों-नदी-कूप-समुद्र आदि में) भेद होने पर वह विभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार जल में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब जल के धर्म का अनुसरण करता है, वस्तुतः सूर्य में इस प्रकार का कोई विकार नहीं होता।

शाङ्करभाष्यम्

एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत एवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीनिति विवक्षितांशप्रतिपादनेन दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यमुक्त्वा 'दर्शनाच्च' (ब्र. सू. ३।२।२१) इति ''पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्'' (बृ. उ. २।५।१८), ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृ. उ. २।५।१९), ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'' (श्वेता. उ. ४।१०), ''मायी सृजते विश्वमेतत्'' (श्वेता. उ. ४।९), ''एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च'' (क. उ. २।२।९।१०), ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' (श्वेता. उ. ६।११), ''स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत'' (ऐत. उ. १।३।१२), ''स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'' (बृ. उ. १।४।७), ''तत् सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्'' (तैति. उ. २।६।१) इत्यादिना परस्यैव ब्रह्मण उपाधियोगं दर्शयित्वा निर्विशेषमेव ब्रह्म, भेदस्तु जलसूर्यादिवदौपाधिको मायानिबन्धन इत्युपसंहृतवान्।

तात्पर्यदीपिका

उसी प्रकार यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से शाश्वतरूप से जिसकी सत्ता है, वह अविकारी अखण्ड, चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अद्वितीय एक होने पर भी देह आदि उपाधियों का आश्रय लेने के कारण उनके अन्तर्गत होने से जो उनके धर्म होते हैं, वह उनका अनुसरण करता है। अर्थात् देहादि के बढ़ने पर जीवात्मा बढ़ता है और उसके क्षीण होने पर वह क्षीण होता है।

इस प्रकार विवक्षित अंश (में चन्द्र-सूर्यादि-प्रतिबिम्बों) दृष्टान्तों के साथ दार्ष्टान्तिक (परब्रह्म परमात्मा) का सामञ्जस्य स्थापित किया है।

पुनश्च ''दर्शनाच्च'' (ब्र. सू. ३।२।२१) इस ब्रह्मसूत्र के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि परब्रह्म परमात्मा अखण्ड-अद्वितीय होने पर विभिन्न शरीरों का आश्रय लेकर अनेक रूप प्रतीत होता है, इसमें विभिन्न श्रुतियां प्रमाण हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है-''पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्''(२।५।१८)-चित्प्रकाशस्वरूप परमपुरुष परब्रह्म-परमात्मा ने 'द्विपाद पुर' (दो चरणों के शरीर रूपी नगर) का निर्माण किया। अनन्तर 'चतुष्पाद पुर' (चार पैरों वाले शरीर रूपी नगर) का निर्माण किया। पुनश्च वह पक्षी (जीवात्मा) होकर उन पुरों में प्रवेश कर गया।

(पुनश्च श्रुति कहती है-)''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृ. उ. २।५।१९)-इन्द्र (परब्रह्म-परमात्मा) विभिन्न मायाओं के द्वारा अनेक रूप होता है।

प्रस्तुत उपनिषद् भी यही कहती है-''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'' (४।१०)-माया और मायी दोनों अलग-अलग हैं, एक नहीं। महेश्वर (परब्रह्म-परमात्मा) मायी है, और प्रकृति उसकी माया। यह विवेक करना चाहिए। वह मायी (प्रकृतिसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा) ही समस्त सृष्टि रचना करता है-''मायी सृजते विश्वमेतत्'' (४।९)।

कठोपनिषद् का वचन है-''एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च'' (२।२।९)-सभी पांचभौतिक शरीरों के अन्तःकरण में विद्यमान जीवात्मा वस्तुतः अखण्ड चित्प्रकाशस्वरूप अद्वितीय परमात्मा ही है, तथापि भिन्न-भिन्न शरीरों में रहने के कारण वह उनके अनुरूप और अनेक प्रतीत होता है, साथ ही उसके बाहर भी परमात्मा के रूप में विद्यमान रहता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।११) कहती है-''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः''-समस्त प्राणियों के शरीरों में एक ही द्युतिमान् परमात्मा गुप्त रूप से निवास करता है।

ऐतरेय उपनिषद् (१।३) की घोषणा है-''स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत''-वह परब्रह्म परमात्मा इस सीमा का उल्लंघन कर इसी के द्वारा शरीर में प्रवेश करने लगा।

बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४) कहती है-''स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः''-वह चित्शक्तिस्वरूप परब्रह्म परमात्मा यहाँ हमारे आपके-सबके शरीर में नख से शिखा तक व्यापक रूप से प्रवेश कर चुका है।

तैत्तिरीय उपनिषद् (२।६।१) का वचन है-''तत् सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्''-चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा विश्वप्रपञ्च और प्रत्येक शरीर की सृष्टि करता है और उसी में प्रवेश कर प्रकाशमान है।

इन श्रुतिवाक्यों द्वारा परब्रह्म परमात्मा के साथ विभिन्न उपाधियों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि वस्तुतः ब्रह्म निर्विशेष है, उसमें कोई

भी विशेषण नहीं लगता। क्योंकि वह निराकार हैं। यह सारा का सारा भेद जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान है। यह भेद उपाधिजन्य और माया द्वारा रचा गया है।

इस प्रकार प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मसूत्रकार इस विषय का उपसंहार करते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

प्रपञ्चस्य बाधितत्वे ब्रह्मविदनुभवप्रदर्शनम्–किञ्च ब्रह्मविदामनुभवोऽपि प्रपञ्चस्य बाधकः। तेषां निष्प्रपञ्चात्मदर्शनस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि तेषामनुभवं दर्शयति।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (ई. उ. ७)

"विदिते वेद्यं नास्ति" इति। एवं निर्वाणमनुशासनम्। "यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्" (बृ. उ. ४।३।३१), "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत्" (बृ. उ. ४।५।१५)।

"यदेतद् दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं पारमेश्वरम्॥"
(विष्णुपु. १।४।३९-४१)

"निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाऽद्वैतपरोऽभवत्।
सर्वभूतान्यशेषेण ददर्श स तदात्मनः॥
तथा ब्रह्म ततो मुक्तिमवाप परमां द्विजः।"
(विष्णुपु. २।१६।१९-२०)

"अत्राऽऽत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।
ब्रह्मभूतः स एवेह वेदशास्त्र उदाहृतः॥"

तात्पर्यदीपिका

ब्रह्मवेत्ताओं का अनुभव–जो परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, उन ब्रह्मज्ञानी योगियों का अनुभव भी प्रपञ्च की सत्ता स्वीकार नहीं करता, उसके अस्तित्व में वह बाधक होता है। क्योंकि ऐसे ब्रह्मज्ञानी उस परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, जो प्रपञ्चरहित-निष्प्रपञ्च है। विभिन्न श्रुतियां उनके अनुभवों को प्रदर्शित करती हैं

ईशावाक्योपनिषद् 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इत्यादि सप्तम मन्त्र में यह प्रतिपादन किया गया है कि जो ब्रह्मज्ञानी सभी जीवों में अखण्ड अद्वितीय चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का ही साक्षात्कार करते हैं, वह वास्तव में समदर्शी (एकत्वदर्शी) होता है। उसके लिये शोक क्या है और मोह क्या है?

श्रुति कहती है—'विदिते वेद्यं नास्ति'। उस परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होने पर ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जो जानने योग्य हो।

इसी प्रकार श्रुतियां निर्वाण या मोक्ष का आदेश देती हैं, वे प्राणियों को जीवन से छुटकारा पाने के लिये ही प्रेरित करती हैं, उनसे बंधने के लिये नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।३१) उपदेश देती है—'यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्'—जहाँ भेद हो वहाँ अन्य अन्य को देखें।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्, तत् केन कं पश्येत्?' (बृ. उ. ४।५।१५)—परन्तु जब सर्वत्र सभी वस्तुओं में परब्रह्म परमात्मा ही दृष्टिगोचर हो, अभेद-प्रतीति हो, वहाँ कौन किसका साक्षात्कार कर सकता है?

विष्णुपुराण भी इसे प्रमाणित करता है—(विष्णु का अर्थ है, जो सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करे वह परब्रह्म परमात्मा। उसको सम्बोधित करते हुए भक्त कहता है)—

'यदेतद् दृश्यते मूर्तम्' (१।४।३९)—यह जो कुछ मूर्तिमान् साकार विश्व-प्रपञ्च प्रत्यक्ष-गोचर हो रहा है, वह सब सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानमय निराकार तुम्हारा (परब्रह्म-परमात्मा का ही) स्वरूप है। जो योगी नहीं होते वे अपने भ्रमपूर्ण ज्ञान से उसे जगत् के रूप में देखते हैं।

'ये तु ज्ञानविदः' (१।४।४०)—किन्तु जो ज्ञानी और शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं, वे योगी सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च को परब्रह्म परमेश्वर के रूप में ही देखते हैं।

'निदाघोऽप्युपदेशेन' (विष्णुपु. २।१६।१९-२०)—महर्षि ऋभु के इस उपदेश से निदाघ भी अद्वैत का उपासक हो गया और वह समस्त जीवों को सम्पूर्ण रूप से परब्रह्म-परमात्मा के रूप में ही देखने लगा। इस प्रकार उसे ब्रह्मज्ञान हो गया और फलस्वरूप उस ब्राह्मण ने परा मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

'अत्राऽऽत्मव्यतिरेकेण'—जो योगी समस्त ब्रह्माण्ड में परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का साक्षात्कार नहीं करता, उसको वेदों और शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा स्वरूप ही प्रस्तुत किया गया है।

शाङ्करभाष्यम्

उपनिषदारम्भप्रयोजनोपसंहारः—इत्येवं श्रुतिस्मृतियुक्तितोऽनुभवतश्च प्रपञ्चस्य बाधितत्वादत्यन्तविलक्षणानामसदृशरूपाणां मधुरतिक्तश्वेतपीता-दीनामपि परस्पराध्यासदर्शनादमूर्तेऽप्याकाशे तलमलिनताद्यध्यासदर्शना-दात्मानात्मनोरत्यन्तविलक्षणयोर्मूर्तामूर्तयोरपि तथा सम्भवात् 'स्थूलोऽहं कृशोऽहमि'ति देहात्मनोरध्यासानुभवात्।

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥"

(क. उ. १।२।१९)

इत्यादिश्रुतिदर्शनाद् "य एनं वेत्ति हन्तारम्" (गीता २।१९), "प्रकृतेः क्रियमाणानि" (गीता ३।२७) इतिस्मृतिदर्शनाच्चाऽध्यासस्य प्रहाणायाऽऽत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तय उपनिषदारभ्यते।

तात्पर्यदीपिका

उपसंहार—इस प्रकार श्रुतियों, स्मृतियों सत्तर्क और अनुभव के द्वारा यह अनुभव होता है कि प्रपञ्च व्यर्थ है और यही प्रपञ्च का बाध है।

अत्यन्त विलक्षण विरुद्ध लक्षण वाले मधुर (मीठा) त्तिक्त (तीता) आदि आस्वाद वाले, धवल, पीत आदि रंग वाले पदार्थों का भी परस्पर अध्यास देखा जाता है।

जो निराकार है, उस आकाश में भी तल मलिनता आदि का अध्यास होता है।

इन कारणों से जो आत्मा नहीं है उसका अत्यन्त विलक्षण परब्रह्म परमात्मा के साथ, साकार का निराकार के साथ अध्यास सम्भव है। देह और देहधारी में अन्तर होता है। स्थूलता, कृशता आदि देह के धर्म हैं। तथापि देहधारी जीवात्मा 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' इत्यादि अनुभव करता है। इस प्रकार देह और देहधारी आत्मा में अध्यास का अनुभव होता है।

कठोपनिषद् के 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्' (१।२।१९) में आत्मा की अमरता प्रतिपादित है, जिसका आशय इस प्रकार है—(एक मारने वाला होता है और दूसरा मरने वाला होता है। शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं। अतः) एक देहधारी जीवात्मा मारने की इच्छा रखकर किसी को मारना चाहता है, अथवा नश्वर शरीर में रहने वाला आत्मा स्वयं को मृत समझता है, वे दोनों आत्मतत्व को नहीं पहिचानते, क्योंकि न तो चित्प्रकाश-स्वरूप आत्मा किसी को मारता है और न स्वयं मरता है। [देहाभिमान के कारण उसमें रहने वाला जीव स्वयं को देहरूप उससे अभिन्न समझता है और अपने स्वरूप को भुला देता है।]

'य एनं वेत्ति हन्तार[1]म्' (गीता २।१९)—इस वचन का भी यही अर्थ है।

'प्रकृतेः क्रियमाणानि' (गीता ३।२७)—इसी को प्रमाणित करता है।

[पूरा श्लोक और उसका आशय इस प्रकार है—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥"

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

सत्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। शरीर, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, अन्तःकर सत्व, रज और तमोगुणों के विकार हैं, जिनके द्वारा शास्त्रीय और लौकिक कर्मों का सम्पादन होता रहता है।

शरीर में चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का वास रहता है, जब वह अहंकार के कारण आत्मस्वरूप को भूलता है और उस शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है तव वह इस भ्रम में पड़ता है कि 'मैं कर्ता हूँ।' जब कि यह समस्त लीला माया अथवा प्रकृति की होती है।]

श्वेताश्वतर उपनिषद् का उपक्रम इसीलिये किया गया है कि उस अध्यास (आरोपित-भ्रमज्ञान) पर वज्रप्रहार हो तथा निराकार और साकार परब्रह्म परमेश्वर की एकता का ज्ञान हो। हम समस्त विश्व को, प्रत्येक जीव को परमात्मस्वरूप ही समझें, उनमें भेददृष्टि न रखें।

॥ श्रीः॥

प्रथम अध्याय

तात्पर्यदीपिका

उपक्रम—यह तैत्तिरीय शाखा की उपनिषद् है, इसका साक्षात्कार श्वेताश्वतर नामक महर्षि ने किया था और इसका उपदेश 'अत्याश्रमियों' अर्थात् आश्रमधर्म के अभिमान से शून्य विरक्त संन्यासियों को दिया था। इस उपनिषद् पर 'दीपिका' नामक टीका के प्रणेता शंकरानन्द 'श्वेताश्वतर' नाम का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—'**श्वेताः = अवदाताः सदा अन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिताः, अश्वाः = इन्द्रियाणि यस्य स्मः श्वेताश्वः। अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः, अष्टाङ्गयोगनिरत इत्यर्थः।**

इस निर्वचन के अनुसार श्वेताश्वतर महर्षि के समस्त इन्द्रिय सदा-सर्वदा अत्यंत अन्तर्मुख रहते थे। उनमें किसी प्रकार की विपरीत प्रवृत्तियां नहीं थीं, अत एव वे अत्यन्त निर्मल थे। उनके अनुयायी भी 'श्वेताश्वतर' कहे जाते थे, जैसा कि भाष्यकार '**ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषद्**' इस अवतरण से कर रहे हैं।

भाष्यकार आचार्य शङ्करभगवत्पाद 'उपनिषत्' शब्द का निर्वचन 'मुण्डकोपनिषद्' के सम्बन्धभाष्य में इस प्रकार करते हैं—'**य इमां ब्रह्मविद्याम् उपयन्ति-आत्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तः, तेषां गर्भ-जन्म-जरा-रोगाद्यनर्थपूगं निशातयति, परं वा ब्रह्म गमयति, अविद्यादि संसारकारणं च अत्यन्तमवसादयति विनाशयति इत्युपनिषत्, 'उप'-'नि'पूर्वस्य 'सदे'रेवमर्थस्मरणात्।**'

'उपनिषत्' शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न है। 'सद्' धातु के अनेक अर्थ हैं—विशरण (काटना), गति (प्राप्त करना), अवसादन (नाश) आदि। यहां तीनों अर्थ उपयोगी, उपयुक्त हैं। क्योंकि जो अधिकारी श्रद्धा और भक्ति के साथ इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, उनके अनर्थों का यह समूल विनाश करती है। ब्रह्म साक्षात्कार से उन विरक्त संन्यासियों के गर्भ, जन्म, बुढ़ापा, व्याधि इत्यादि सभी अनर्थों का विनाश होता है। इन्द्रियों के अश्वों पर लगाम रखने वाले ही यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधिस्वरूप अष्टांगयोग में निरत रहकर इस उपनिषद् में उपदिष्ट ब्रह्मविद्या के अधिकारी हो सकते हैं, अन्य नहीं।

प्रथमः अध्यायः

शाङ्करभाष्यम्

'ब्रह्मवादिनो वदन्ती'त्यादि श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषत्। तस्या अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते–

॥ हरिः ॐ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति–

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

मन्त्रसन्दर्भ–'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' से प्रारम्भ कर 'प्रकाशन्ते महात्मनः' तक मन्त्रों की उपनिषत् तैत्तिरीय शाखाध्यायी महर्षि श्वेताश्वतर और उनके अनुयायियों की उपनिषत् है। उसके संक्षिप्त भाष्य का उपक्रम आचार्य शंकर कर रहे हैं।

॥ हरिः ॐ ॥

श्रुति स्वयं मङ्गलाचरण कर रही है। 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' में 'त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः' इत्यादि विष्णुनामों का सङ्कीर्तन है, जिसमें 'हरि' नाम ६५०वां है। इसका भाष्य करते हुए श्रीमदादिशङ्करभगवत्पाद कहते हैं–'सहेतुकं संसारं हरतीति हरिः।' जो अविद्यारूप कारणों के साथ विश्व-प्रपञ्च का हरण करता है, वह 'हरि' है। 'ॐ'-प्रणव उसका वाचक है, हरि उसका वाच्यार्थ है। दोनों परस्पर अभिन्न हैं। योगसूत्र इसमें प्रमाण है–'ईश्वरप्रणिधानाद् वा। तस्य वाचकः प्रणवः।'

ओङ्कारश्चाऽथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इस वचन के अनुसार ओंकार और अथ दोनों शब्द माङ्गलिक है, क्योंकि दोनों ही आदिदेव ब्रह्मदेव के कण्ठ से सर्वप्रथम प्रकट हुए हैं।

अन्वयः–ब्रह्मवादिनः वदन्ति–'ब्रह्मविदः! कारणं ब्रह्म किम्? कुतः जाताः स्म? केन जीवामः? क्व च सम्प्रतिष्ठाः? केन अधिष्ठाताः सुखेतरेषु व्यवस्थां वर्तामहे?'॥ १॥

मन्त्रार्थः–'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः' इत्यादि। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रामिश्रित उपजाति छन्द के इस मन्त्र में ब्रह्मजिज्ञासा की गयी है। ब्रह्म की चर्चा करने वाले कतिपय दार्शनिक जिज्ञासु यह प्रश्न करते हैं–(१) हे वेदवेत्ता मुनिगण! वह ब्रह्म

कौन है, जो जगत् का कारण है? (२) हमारा जन्म कहाँ से हुआ है? (३) हम लोग किसके कारण जी रहे हैं? (४) किसमें हम सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हैं? (५) हम जीवमात्र किस के अधीन रहकर निश्चित व्यवस्था के अनुसार सुख-दुःख का उपभोग कर रहे हैं?

[ये पांच प्रश्न जीवमात्र की ब्रह्मजिज्ञासा से सम्बन्धित है। परब्रह्म परमात्मा का सतत अन्वेषण, उसको जानने और पाने की उत्कट अभिलाषा, उसके लिये परस्पर विचार-विनिमय और महापुरुषों से जिज्ञासा प्राणिमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसे 'सत्सङ्ग' कहते हैं। प्रथम मन्त्र में वही ब्रह्मजिज्ञासा है।]

शाङ्करभाष्यम्

'ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्या'दि। ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे संभूय वदन्ति–

(१) किं कारणं ब्रह्म–किमिति स्वरूपविषयोऽयं प्रश्नः। अथवा कारणं ब्रह्माऽहोस्वित् कालादि 'कालः स्वभावः' इति वक्ष्यमाणम्? अथवा किं कारणं ब्रह्म सिद्धिरूपम् उपादानभूतं किमित्यर्थः। अथवा 'बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मे'ति श्रुत्यैव निर्वचनान्निमित्तोपादानयोरुभयोर्वा प्रश्नः 'किं कारणं ब्रह्मे'ति। किं कारणं ब्रह्माऽहोस्वित्कालादि? अथवा कारणमेव? कारणत्वेऽपि किं निमित्तमुतोपादानम्? अथवोभयम्? तद्वा किंलक्षणमिति वक्ष्यमाणपरिहारानुरूपेण तन्त्रेणाऽऽवृत्त्या वा प्रश्नेऽपि संग्रहः कर्तव्यः; प्रश्नापेक्षत्वात् परिहारस्य।

(२) कुतः स्म जाताः–कुतो वयं कार्यकारणवन्तो जाताः? स्वरूपेण जीवानामुत्पत्त्याद्यसंभवात्। तथा च श्रुतिः–"न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" (क. उ. १।२।१८), "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति" (छा. उ. ६।११।३), "जरामृत्यू शरीरस्य", "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा" (बृ. उ. ४।५।१४) इति। तथा च स्मृतिः–

"अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्यते" इति।

(३) किं च, जीवाम केन–केन वा वयं सृष्टाः सन्तो जीवामेति स्थितिविषयः प्रश्नः। (४) क्व च संप्रतिष्ठाः प्रलयकाले स्थिताः? (५) अधिष्ठिता नियमिताः केन सुखेतरेषु सुखदुःखेषु, 'वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्'–हे ब्रह्मविदः! सुखदुःखेषु व्यवस्थां केनाऽधिष्ठिताः सन्तोऽनुवर्तामह इति सृष्टिस्थितिप्रलयनियमहेतुः किमिति प्रश्नसंग्रहः॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

ब्रह्मवादिनो वदन्ति—जिनका 'शील' अर्थात् स्वभाव और चरित्र सदा सर्वदा ब्रह्म-निरूपण करना था, वे जब एकत्र होते, उनके सम्मुख ये पांच प्रश्न उपस्थित होते और आज भी वे ये ही प्रश्न करते हैं–

(१) किं कारणं ब्रह्म?—इस वाक्य में 'किम्' इस प्रश्नवाचक सर्वनाम से यह जिज्ञासा उपस्थित की गयी है कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है? अथवा वह ब्रह्म कौन है, जो जगत् का कारण है? क्या ब्रह्म स्वयं ही जगत् का कारण है अथवा अग्रिम मन्त्र में वर्णित काल, स्वभाव आदि अन्य? अथवा यदि ब्रह्म जगत् का कारण है तो वह ब्रह्म द्विविध कारणों में कौन है? क्या स्वतःसिद्ध ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है अथवा **'बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म'** इस प्रकार श्रुतिद्वारा जिसका निर्वचन किया गया है वह ब्रह्म उसका निमित्तकारण है? इस निर्वचन के अनुसार जो बृंहित (विकसित) और बृंहणशील (विकासशील) है वही 'ब्रह्म' है। संक्षेप में जगत् का कारण काल इत्यादि है अथवा ब्रह्म निमित्तकारण है अथवा उपादानकारण है अथवा दोनों है? उस ब्रह्मका लक्षण क्या है?

ये सब प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं जिनका समाधान (परिहार) आगे चल कर किया गया है। उन सब विषयों का एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् प्रश्नों में भी सङ्कलन करना चाहिये। क्योंकि समाधान प्रश्न-सापेक्ष होता है।

(२) कुतः स्म जाताः?—हम लोग कहाँ से उत्पन्न हुए? यह कार्यकारण-भावसम्बद्ध प्रश्न इसलिये उपस्थित होता है कि श्रुतियां और स्मृतियां स्वरूपतः जीवों की उत्पत्ति आदि को सम्भव नहीं मानती। श्रुतियों में कठ, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के उद्धरण यहाँ प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत है, जिनका आशय इस प्रकार है–

'न जायते म्रियते वा विपश्चिद्' (क. उ. १।२।१८)—जो ब्रह्मसाक्षात्कार करता है, वह 'विपश्चित्' विद्वान् जीवात्मा न तो जनमता है और न मरता है।

'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति' (छा. उ. ६।११।३)—जब यह शरीर जीवात्मा से अलग होता है, तब वह मरता है। जीव नहीं मरता।

'जरामृत्यू शरीरस्य'—बुढ़ापा और मृत्यु शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (बृ. उ. ४। ५। १४)—अरे! यह चित्प्रकाशमयं आत्मचैतन्यस्वरूप परब्रह्म-परमात्मा अविनश्वर कभी नष्ट न होनेवाला है। क्योंकि उसका धर्म है अनुच्छित्ति, कभी अविच्छिन्न न होना। उसी प्रकार स्मृतिवचन भी इसमें प्रमाण है–

'अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्यते'—चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अजन्मा है। जब वह शरीर का आश्रय लेता है, तब कहा जाता है कि उसका जन्म हुआ।

[श्रीमान् आदिशंकरभगवत्पाद इसका भाष्य करते हैं–'कुतः स्म जाताः?' = कुतो वयं कार्यकारणवन्तो जाताः?

इसका भाष्य करते हुए 'विवरण'कार विज्ञान-भगवान् अथवा विज्ञानात्मा कहते हैं-

"आहोस्विज्जलचन्द्रस्थानीया घटाकाशस्थानीया वा वयं सुषुप्तिप्रलयादिषूपाधिबलयेषु बिम्बचन्द्रमहाकाशस्थानीये ब्रह्मणि ऐक्यमुपगताः सन्तः प्रबोधसृष्ट्यादिसमये ब्रह्मविवर्तकार्यकारणादिमन्तो बिम्बचन्द्रमहाकाशब्रह्मणः सकाशाज्जाताः?"

विज्ञान भगवान् अथवा विज्ञानात्मा ब्रह्मकारणवादी हैं। वे ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति का कारण मानते हुए यह 'विवरण' स्पष्ट करते हैं-'किससे हमारा जन्म हुआ? इतना निश्चित है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का कारण हैं। हम जीव क्या हैं? क्या हम उस चन्द्रबिम्ब के समान हैं, जो विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है? अथवा क्या हम उस आकाश के समान है, जो घट में सिमट कर रह जाता है?'

क्या परब्रह्म-परमेश्वर उस चन्द्र के समान है, जिसमें प्रलय के समय सभी चन्द्र-सूर्यादि प्रतिबिम्ब विलीन होते हैं, अथवा क्या उस महाकाश के समान है, जिसमें घटाकाश, मठाकाश आदि समा जाते हैं, क्या हम चन्द्र अथवा महाकाशस्थानीय परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं? वेदान्तदर्शन के अनुसार जगत् ब्रह्म का 'विवर्त' है। प्रतिबिम्ब की सत्ता नहीं होती, घटाकाश मठाकाश आदि की भी सत्ता नहीं होती। जब प्रबोध या सृष्टि का समय आता है, तब जगत् और जीवों की उत्पत्ति होती है। वह भी स्वरूपतः नहीं, अपितु शरीर का आश्रय लेकर होती है। इस दृष्टि से ब्रह्म जगत् का कारण है और जगत् और जीव कार्य। 'कुतो वयं कार्यकारणवन्तो जाताः?' इस प्रश्न को 'विवरण'कार विज्ञानात्मा ने उपर्युक्त रीति से अत्यन्त स्पष्ट किया है।]

(३) केन जीवामः?-स्वरूपसम्बन्धी और सृष्टिविषयक प्रश्न के बाद स्थिति सम्बन्धी जिज्ञासा स्वाभाविक है। वह यह है कि सृष्टि के बाद हमारे जीवन की रक्षा कौन करता है?

(४) क्व च सम्प्रतिष्ठाः?-यह संहारविषयक प्रश्न है वह यह है कि प्रलयकाल में हमारी स्थिति कहां होती है?

[विज्ञानात्मा अथवा विज्ञानभगवान् इस जिज्ञासा का इस प्रकार विस्तार करते हैं-

"मोक्षावस्थायामस्माकं विकारीभूते ब्रह्मणि किम् एकत्वेन अवस्थानम्? उत स्वतोऽविकारिणि मायामिलितत्वेन ब्रह्मण्येकत्वेनाऽवस्थानम्? आहोस्वित् अविद्याख्यां मायां विद्यया ब्रह्ममात्रया प्रविलाप्य विशुद्धे ब्रह्मणि एकत्वेनाऽवस्थानम्?"

प्रलय का अर्थ है शरीर से जीव का छूटना, मोक्ष। 'विवरण'कार की त्रिविध जिज्ञासा है-

(क) क्या मोक्ष की अवस्था में विकृतस्वरूप को प्राप्त ब्रह्म में जीव विलीन होता है?

(ख) अथवा स्वतः विकृत न होने पर भी मायाशबलित ब्रह्म में जीव समा जाता है?

(ग) अथवा क्या अविद्या अथवा माया का नाश होने पर विद्या के द्वारा जो केवल ब्रह्मस्वरूप है, स्वयं का विलय करते हुए विशुद्ध ब्रह्म में जीव का विलय होता है?

विज्ञानभगवान् की यह व्याख्या अनुपलब्ध भिन्न पाठ को लेकर है। क्योंकि वे स्वयं लिखते हैं-'क्व च सम्प्रतिष्ठा' इति पाठे 'मोक्षावस्थायां कीदृग्रूपे ब्रह्मणि वयमेकत्वेनाऽवस्थिता' इति योजयितव्यम्।]

(५) 'अधिष्ठिताः केन सुखतरेषु' इत्यादि-किसके द्वारा नियन्त्रित होकर हम सुख-दुःख मोहादि में पड़कर सांसारिक जीवनयात्रा का अनुभव करते हैं? वास्तव में हम जीव कठपुतली हैं, सूत्रधार कोई दूसरा है, जिसके हाथ में हमारी नकेल रहती है।

उक्त पांच प्रश्न यथाक्रम ब्रह्म का स्वरूप, जगत् का कारण, उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और नियमन से सम्बन्धित है।

[ब्रह्मविदः!-यह सम्बोधन भी सार्थक है। 'ब्रह्म' का अर्थ है वेद। 'ब्राह्मणेन निष्कारणं सषडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस विधिवाक्य के अनुसार विना किसी कामना के वेदाङ्गों के साथ वेदों का अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मणों का आजीवन कर्तव्य है। अध्ययन, बोध, आचरण और प्रचार इन चार उपायों से इसका प्रचार-प्रसार होता है।

अथवा 'ब्रह्म' वह है जो बृहत् हो विशाल हो, 'बृंहित', विकसित हो, और बृंहणशील विस्तारशील हो। उसी निर्विकल्पक निराकार ब्रह्म के ज्ञाताओं के लिए यह सम्बोधन है।] ॥ १ ॥

अवतरणभाष्यम्

इदानीं कालादीनि ब्रह्मकारणवादप्रतिपक्षभूतानि विचारविषयत्वेन दर्शयति-

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

मन्त्रसन्दर्भ-श्रुति की प्रथम जिज्ञासा है-'किं कारणं ब्रह्म?' जगत् के कारण भूत ब्रह्म का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न ब्रह्मकारणवादियों का है। इससे विरुद्ध मत यह है कि जगत् का कारण काल आदि है, ब्रह्म नहीं। श्रुति उसी को विचार विषय के रूप में प्रस्तुत कर रही है।

अन्वयः-कालः स्वभावः नियतिः यदृच्छा भूतानि पुरुषः (वा) योनिः इति

चिन्त्या। एषां संयोगः तु आत्मभावात् (योनिः) न, आत्मा अपि (योनिः न) सुखदुःख-हेतोः अनीशः॥ २॥

मन्त्रार्थः–'कालः स्वभावः' इत्यादि–जगत् का कारण क्या है? क्या काल उसका कारण है अथवा स्वभाव उसका कारण है? या नियति अर्थात् निश्चित फलप्रद कर्म उसका कारण है? अथवा यदृच्छा, आकस्मिक घटना उसका कारण है? क्या पृथिवी आदि पञ्च महाभूत जगत् के कारण हैं? क्या पुरुष, जीवात्मा उसका कारण है? इन सब का चिन्तन आवश्यक है। इनका संयोग अथवा समुदाय भी जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये सभी चित्स्वरूप जीवात्मा के अधीन होते हैं। जीवात्मा भी जगत् का स्वामी नहीं हो सकता, क्योंकि सुख-दुःख आदि के कारण जीवात्मा के कर्म होते हैं, जीवात्मा उन कर्मों के अधीन है॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

'कालः स्वभाव' इति। योनिशब्दः सम्बध्यते। (१) कालो योनिः कारणं स्यात्? कालो नाम सर्वभूतानां विपरिणामहेतुः। (२) स्वभावः, स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः; अग्नेरौष्ण्यमिव। (३) नियति-रविषमपुण्यपापलक्षणं कर्म, तद्वा कारणम्? (४) यदृच्छाऽऽकस्मिकी प्राप्तिः। (५) भूतान्याकाशादीनि वा योनिः? (६) पुरुषो वा विज्ञानात्मा योनिः? इतीत्थमुक्तप्रकारेण किं योनिरिति चिन्त्या चिन्त्यं निरूपणीयम्। केचिद् योनिशब्दं प्रकृतिं वर्णयन्ति। तस्मिन् पक्षे 'किं कारणं ब्रह्मे'ति पूर्वोक्तं कारणपदमत्राऽप्यनुसन्धेयम्।

तात्पर्यदीपिका

जगत् का कारण क्या है? पूर्वपक्ष–'कालः स्वभाव' इत्यादि–मन्त्र के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त 'योनि' शब्द का प्रत्येक से सम्बन्ध है। 'योनि' शब्द का अर्थ कारण है। (१) क्या 'काल' जगत् का कारण है? काल सभी प्राणियों के स्वरूपपरिवर्तन का कारण होता है। (२) 'स्वभाव' का अर्थ है प्रत्येक वस्तु में रहने वाला उसका धर्म या उसकी शक्ति। जैसे आग में उष्णता और दाहकता का रहना। क्या वह जगत् का कारण है? (३) 'नियति' का अर्थ है पुण्यकर्म अथवा पापकर्म, जिनका फल कभी विषम, विपरीत नहीं होता। क्या वह जगत् का हेतु है? (४) क्या 'यदृच्छा'–आकस्मिक–अकल्पित घटनाएं जगत् का कारण है? (५) क्या पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश–ये पञ्च महाभूत जगत् के सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि के निमित्त है? (६) अथवा 'पुरुष' (विज्ञानात्मा चैतन्यस्वरूप जीव) जगत् का कारण है? इन सबका चिन्तन करना परम आवश्यक है।

शाङ्करभाष्यम्

कालादीनाम् अकारणत्वोपपादनम्–तत्र कालादीनामकारणत्वं दर्शयति 'संयोग एषामि'त्यादिना। अयमर्थः–किं कालादीनि प्रत्येकं कारणमुत तेषां समूहः? न च प्रत्येकं कालादीनां कारणत्वं सम्भवति, दृष्टविरुद्धत्वात्। देशकालनिमित्तानां संहतानामेव लोके कार्यकरत्वदर्शनात्। न चाऽप्येषां कालादीनां संयोगः समूहः कारणम्, समूहस्य संहतेः परार्थत्वेन शेषत्वेन शेषिण आत्मनो विद्यमानत्वादस्वातन्त्र्यात् सृष्टिस्थितिप्रलयनियमलक्षण-कार्यकरणत्वायोगात्।

तात्पर्यदीपिका

खण्डन–श्रुति ब्रह्म से भिन्न काल इत्यादि को जगत् की सृष्टि-स्थिति इत्यादि में हेतु नहीं मानती। उत्तरार्ध में वह इस पक्ष का खण्डन करती है। वह पूछती है–क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पञ्चभूत, योनि, पुरुष इनमें से प्रत्येक जगत् की सृष्टि इत्यादि में कारण है अथवा इनका समुदाय जगत् का कारण है? इनमें काल आदि अलग-अलग जगत् का कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है। हम यह देखते हैं कि संसार के कार्यों में देश-काल-निमित्त आदि सम्मिलित रूप से निमित्त होते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

'संयोग एषां न तु आत्मभावात्'–इनका समुदाय भी जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि देश, काल, परिस्थिति आदि सभी सम्मिलित रूप से परार्थ हैं, अर्थात् विज्ञानात्मा (जीवात्मा) के अधीन हैं। वे पृथक्-पृथक् अथवा समुदाय रूप में स्वतन्त्र रूप से सृष्टि-स्थिति-प्रलय इत्यादि कार्य करने में असमर्थ है। शास्त्रीय भाषा में काल इत्यादि का आत्मा (जीवात्मा) के साथ 'शेष-शेषिभाव' सम्बन्ध है, काल इत्यादि 'शेष' हैं, तो आत्मा शेषी।

शाङ्करभाष्यम्

आत्मनः सृष्टिकारणत्वनिरासः–आत्मा तर्हि कारणं स्यादेवाऽत आह– 'आत्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोरि'ति। आत्मा जीवोऽप्यनीशोऽस्वतन्त्रो न कारणम्, अस्वातन्त्र्यादेव चाऽऽत्मनोऽपि सृष्ट्यादिहेतुत्वं न सम्भवतीत्यर्थः। कथमनीशत्वम्? सुखदुःखहेतोः–सुखदुःखहेतुभूतस्य पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो विद्यमानवात् कर्मपरवशत्वेनाऽस्वातन्त्र्याच्च। त्रैलोक्यसृष्टिस्थिति-नियमे सामर्थ्यं न विद्यत एवेत्यर्थः। अथवा सुखदुःखादिहेतुभूतस्याऽऽ-ध्यात्मिकादिभेदभिन्नस्य जगतोऽनीशो न कारणम्॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर तो जीवात्मा ही जगत् की सृष्टि इत्यादि का कारण हो सकता है। इसका भी खण्डन श्रुतिकार ने किया है–'आत्माऽप्यनीशः'– जीवात्मा भी जगत् का स्वामी नहीं है, वह भी उसकी सृष्टि इत्यादि करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि वह भी स्वतन्त्र नहीं है, अपितु परतन्त्र है। इसलिए वह जगत् का कारण नहीं है। फिर जीवात्मा किसके अधीन है? इस प्रश्न का समाधान है–'सुखदुःखहेतोः'।

देहधारी जीवात्मा जो सुख, दुःख इत्यादि भोगता है, वह उसके कर्मफल हैं। पुण्यकर्म और पापकर्म इसके हेतु हैं। जीवात्मा इन कर्मों के ही अधीन है। इसीलिए वह स्वर्ग–मृत्यु–पाताल इस त्रिभुवन की सृष्टि–पालन, उनका नियन्त्रण आदि में समर्थ नहीं है। वह सामर्थ्य–शक्ति ही उसमें नहीं हैं।

अथवा जगत् की सृष्टि–स्थिति–प्रलय नियमन इत्यादि आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक सुख–दुःखों के कारण ही होती है, अतः उस जगत् का कारण जीवात्मा नहीं हो सकता।

विभिन्न टीकाकारों के मत–मन्त्र के पूर्वार्द्ध में '**योनिः पुरुषः इति चिन्त्या**' पठित है। 'विवरण'कार विज्ञानभगवान् इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–'**योनिः प्रकृतिः कारणमिति शाक्ताः। पुरुषो हिरण्यगर्भ एव कारणमिति योगशास्त्रविदः।**'

शाक्तों के मत में प्रकृति ही जगत् का कारण होती है, और योगशास्त्रवेत्ताओं के मत में पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ही जगत् का कारण होता है। इसको ध्यान में रखकर आचार्य शङ्कर कहते हैं–'**केचिद् योनिशब्दं प्रकृतिं वर्णायन्ति। तस्मिन् पक्षे 'किंकारणं ब्रह्मे'ति पूर्वोक्तं कारणपदमत्राऽपि अनुसन्धेयम्।**'

आचार्य शंकर के मत में 'योनि' शब्द का अर्थ कारण है, जब कि शाक्तमत में प्रकृति। वे कहते हैं कि इस पक्ष में '**किंकारणं ब्रह्म**' इत्यादि पूर्व मन्त्र से 'कारण' पद का अनुवर्तन कर मन्त्र का अर्थ करना चाहिये।

टीकाकार शंकरानन्द मन्त्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि चैतन्यमय परब्रह्म परमात्मा होने के कारण ही काल से लेकर पुरुष तक कोई भी पृथक्–पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से जगत् का कारण नहीं हो सकते। कर्ता, भोक्ता चेतन शब्दवाच्य जीव भी उसका कारण नहीं है क्योंकि वह भी कर्माधीन है। केवल ब्रह्मशब्द–वाच्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र चेतन ही जगत् का कारण है–

"इतश्च कारणान्न संयोगः कारणमित्याह–आत्मभावादात्मनश्चेतनस्य सत्वात्। अयं भावः–एषां कालादीनां पुरुषान्तानां सत्त्वे सति संयोगः कल्पनीयः। सति च चेतने पुरुषकालादिवत् किं संयोगेनेति। ननु तर्हि कर्ता भोक्ता चेतनः पुरुष–शब्दवाच्य आत्माऽस्तु कारणम् इत्याह–आत्माऽपि कर्ता भोक्ता चेतनोऽपि न तु

इत्यपिसामर्थ्यादनुवर्तते। तत्र हेतुमाह–'अनीशः'। जगत्कारणं चेतनमचेतनं वाऽङ्गीक्रियमाणं सर्वस्य नियन्त्रितत्वमङ्गीकरणीयम्, आत्मा च जीवरूपोऽनीश्वरः। कस्याऽनीशः? सुखदुःखहेतोः = सुखदुःखयोः अनुकूलः प्रतिकूलवेदनीययोः हेतुर्धर्माधर्मादिरूपः। तस्य। अतश्चेतनः स्वतन्त्रः कारणं ब्रह्मशब्दवाच्यः"॥ २॥

अवतरणभाष्यम्–एवं पक्षान्तराणि निराकृत्य प्रमाणान्तरागोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरमपश्यन्तो ध्यानयोगानुगमेन परममूलकारणं स्वयमेव प्रतिपेदिर इत्याह–

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

मन्त्रसन्दर्भ–काल से लेकर जीवात्मा तक कोई भी जगत् का कारण नहीं हो सकता इस प्रकार सभी पूर्वपक्षों का खण्डन करते हुए अष्टाङ्गयोगनिरंत विरक्त महात्माओं ने ध्यानयोग के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया एवं यह निर्णय किया कि समस्त कारणों का मूल कारण भिन्न है–

अन्वयः–ते ध्यानयोगानुगताः (सन्तः) स्वगुणैः निगूढां देवात्मशक्तिम् अपश्यन्। यः एकः कालात्मयुक्तानि अखिलानि तानि कारणानि अधितिष्ठति॥ ३॥

मन्त्रार्थः–'ते ध्यानयोगानुगता' इत्यादि। ब्रह्मजिज्ञासुओं ने ध्यानयोग में लीन होकर सत्व, रज और तम इन अपने ही तीन गुणों अथवा विकारों से आवृत परब्रह्म-परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया और यह निश्चय किया कि काल से लेकर पुरुष तक (काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, योनि = प्रकृति और पुरुष = जीवात्मा) जो सम्पूर्ण कारण हैं, उनका भी अधिष्ठाता अर्थात् उक्त समस्त कारणों का भी कोई मूल कारण है॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्

'ते ध्यानयोगे'ति। ध्यानं नाम चित्तैकाग्र्यम्, तदेव योगो 'युज्यतेऽनेने'ति ध्यातव्यस्वीकारोपायः, तमनुगताः समाहिता अपश्यन् दृष्टवन्तो 'देवात्मशक्तिमि'ति।

तात्पर्यदीपिका

ध्यानयोग–उन ब्रह्मजिज्ञासुओं ने ध्यानयोग का अनुगमन करते हुए 'देवात्मशक्ति' का साक्षात्कार किया। यहाँ 'ध्यानयोग' का तात्पर्य है 'ध्यानस्वरूप योग'। 'ध्यान' का अर्थ है चित्त की एकाग्रता, वही 'योग' भी है।

'युज्यते अनेन इति योगः' इस निर्वचन के अनुसार जिसके द्वारा चित्त को युक्त किया जाता है, वह 'योग' कहलाता है। 'ध्यानयोग' का अर्थ है ध्येय वस्तु की प्राप्ति का उपाय। चित्त को एकाग्र करके ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया जाता है, अतः ध्यान ही योग बन जाता है। उस 'ध्यानयोग' का अनुगमन करने से जब समाधि लग जाती है, तब ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्मसाक्षात्कार करते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

पूर्वोक्तमेव प्रश्नसमुदायपरिहाराणां सूत्रमुत्तरत्र प्रत्येकं प्रपञ्चयिष्यते। तत्रायं प्रश्नसंग्रहः–(१) किं ब्रह्म कारणम् आहोस्वित्कालादि? तथा (२) किं कारणं ब्रह्माऽहोस्वित् कार्यकारणविलक्षणम्? (३) अथवा कारणं वाऽकारणं वा? (४) कारणत्वेऽपि किमुपादानमुत निमित्तम्? (५) अथवोभयकारणं ब्रह्म किंलक्षणम्? (६) अकारणं वा ब्रह्म किंलक्षणम्? इति।

तात्पर्यदीपिका

प्रश्नसंग्रह–प्रथम एवं द्वितीय मन्त्र में ब्रह्मसम्बन्धी प्रश्नों एवं उनके समाधान का सूत्ररूप में पहिले ही संकलन किया गया है, जिसका विस्तार भविष्य में संकल्पित है। इनमें प्रश्नों का सङ्कलन इस प्रकार है–(१) जगत् का कारण क्या है? वह ब्रह्म है अथवा काल आदि है? (२) ब्रह्म कारण की कोटि में है अथवा कार्य-कारण से विलक्षण है? (३) वह कारण है अथवा उससे भिन्न (कार्य)? (४) यदि ब्रह्म कारण है तो वह उपादानकारण है अथवा निमित्तकारण है अथवा उभयविध है? (५) यदि कारण है तो उसका लक्षण क्या है? (६) और यदि उससे भिन्न है तो उसका लक्षण क्या है?

शाङ्करभाष्यम्

तत्राऽयं परिहारः–न कारणं नाऽप्यकारणं न चोभयं नाऽप्यनुभयं न च निमित्तं न चोपादानं न चोभयम्। एतदुक्तं भवति–अद्वितीयस्य परमात्मनो न स्वतः कारणत्वमुपादानत्वं निमित्तत्वं च। यदुपाधिकमस्य कारणत्वादि, तदेव कारणं निमित्तमुपपाद्य तदेव प्रयोजकं निष्कृत्य दर्शयति– 'देवात्मशक्तिमि'ति।

तात्पर्यदीपिका

समाधान–इन समस्त प्रश्नों का उत्तर यह है कि जगत् न तो ब्रह्म का कारण है और न अकारण (उससे भिन्न) है, न कारण-अकारण उभयरूप है और न अनुभयरूप, इन दोनों से भिन्न है। न तो वह निमित्तकारण है और न उपादानकारण है और न उभयस्वरूप है। इस सबका तात्पर्य यह है कि अखण्ड अद्वितीय परब्रह्म-परमात्मा स्वतन्त्ररूप से कारण के कारणत्व का–उसके धर्म का निर्वाह नहीं करता, चाहे वह उपादानकारण का धर्म हो अथवा निमित्तकारण का। उसकी जो उपाधि है, उसके कारण ही ब्रह्म में कारणता (उपादानकारणता, निमित्तकारणता अथवा उभयकारणता) स्वीकार की जाती है उसी को निमित्त मानकर मन्त्र में 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि द्वारा उस शक्ति का साक्षात्कार जगत्कारण के रूप में वर्णित किया गया है।

शाङ्करभाष्यम्

देवस्य द्योतनादियुक्तस्य मायिनो महेश्वरस्य परमात्मन आत्मभूतामस्वतन्त्रां न सांख्यपरिकल्पितप्रधानादिवत् पृथग्भूतां स्वतन्त्रां शक्तिं कारणमपश्यन्, दर्शयिष्यति च–

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता. उ. ४।१०) इति।

तथा ब्राह्मे–

"एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्था।"

तथा च–"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०) इति।

स्वगुणैः प्रकृतिकार्यभूतैः पृथिव्यादिभिश्च निगूढां संवृतां कार्याकारेण कारणाकारस्याऽभिभूतत्वात् कार्यात् पृथक् स्वरूपेणोपलब्धुमयोग्यामित्यर्थः। तथा च प्रकृतिकार्यत्वं गुणानां दर्शयति व्यासः–

"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।" (गीता १४।५) इति।

कोऽसौ देवो यस्येयं विश्वजननी शक्तिरभ्युपगम्यत इत्यत्राऽऽह–'यः कारणानी'ति। यः कारणानि निखिलानि तानि पूर्वोक्तानि कालात्मयुक्तानि कालात्मभ्यां युक्तानि कालपुरुषसंयुक्तानि स्वभावादीनि 'कालः स्वभावः' इति मन्त्रोक्तान्यधितिष्ठति नियमयत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा, तस्य शक्तिं कारणमपश्यन्निति वाक्यार्थः।

तात्पर्यदीपिका

देवात्मशक्तिः विभिन्न व्याख्याएं–वह 'देवात्मशक्ति' कौन है, इसका समाधान शांकरभाष्य में समस्त पद की व्याख्या से प्राप्त है। 'देवस्य आत्मशक्तिः देवात्मशक्तिः, ताम्' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास करते हुए आचार्य शंकर उसकी

प्रथम व्याख्या इस प्रकार करते हैं–'देवस्य द्योतनादियुक्तस्य मायिनो महेश्वरस्य परमात्मन आत्मभूतामस्वतन्त्रां न सांख्यपरिकल्पितप्रधानादिवत् पृथग्भूतां स्वतन्त्रां शक्तिम्।'

परब्रह्म परमात्मा प्रकाशस्वरूप होने के कारण 'देव'= प्रकाशमान, द्योतनादि-सम्पन्न है, वह 'मायी', (मायासम्पन्न) तथा 'महेश्वर' (महैश्वर्यसम्पन्न) भी है। उसकी आत्मभूता स्वरूपशक्ति का साक्षात्कार उन ऋषियों ने किया था, वह सांख्यदर्शनसम्मत प्रकृति के समान स्वतन्त्र शक्ति न होकर परमात्मा की अपनी स्वयं की अधीन शक्ति थी, जिसका साक्षात्कार उन्होंने किया। जैसा कि आगे चलकर प्रदर्शित किया गया है–

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता. उ. ४।१०)

माया को उसकी अपनी 'प्रकृति' (उसको स्वरूपशक्ति) समझना चाहिये और 'मायी' (मायासम्पन्न) परब्रह्म को 'महेश्वर' (महेश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर) समझना चाहिये।

[मैक्समूलर शंकराचार्य की इस व्याख्या से सहमत हैं। शंकरानन्द इसकी भिन्न व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं–**'देवस्य स्वप्रकाशस्य आत्मन आनन्दात्मनः शक्तिरविद्या मायादिशब्दाभिधेया ताम्'**।

परब्रह्म परमेश्वर स्वप्रकाश होने के कारण 'देव' तथा आनन्दमय होने के कारण परमात्मा है। उसकी अपनी शक्ति अविद्या (अज्ञान) है, जिसे माया आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। शंकराचार्य अपने समर्थन में अन्य प्रमाणवचन इस प्रकार देते हैं–]

इसके समर्थन में ब्रह्मपुराण का यह वचन प्रमाण है–

'एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्था'–यह माया उसी परब्रह्म परमात्मा से प्रगट होनेवाली परा प्रकृति है, जिसके चौबीस (२४) भेद हैं।

(गीता ६।१०) का वचन है–**'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'**–

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–'केवल ज्ञानस्वरूप मेरे (परब्रह्म परमेश्वर) के निमित्त से मेरी त्रिगुणात्मक प्रकृति माया समस्त स्थावर-जंगम स्वरूप को जन्म देती है।'

उस 'देवात्मशक्ति' का विशेषण है–**'स्वगुणैर्निरूढाम्'**–वह माया अपने सत्व, रज और तमोगुणों से आच्छादित रहती है। अथवा–पृथिवी आदि माया अथवा प्रकृति के कार्य हैं। उनका कारण है माया। कारण प्रधान होता है और कार्य गौण। माया अपने उसी पृथिवी आदि कार्यों से परमात्मस्वरूप को आच्छादित करती है। महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि गुण प्रकृति के कार्य हैं–

'सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः।' (गीता ४।५)

वह प्रकाशमान देव कौन है, यह जगन्माता जिसकी शक्ति है इस प्रश्न का समाधान है–**'यः कारणानि'** इत्यादि। **'कालः स्वभावः'** इत्यादि द्वितीय मन्त्र में **'स्वभाव'** से लेकर **'योनि'** तक पूर्व वर्णित समस्त कारण जो **'काल'** और **'आत्मा'** (पुरुष) से

सम्पुटित है, उन समस्त कारणों को नियमन करने वाला अधिष्ठिता एकमात्र अद्वितीय अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही है, उन ऋषियों ने जिसका साक्षात्कार किया।

शाङ्करभाष्यम्

अथवा देवात्मशक्तिं देवात्मनेश्वररूपेणाऽवस्थितां शक्तिम्। तथा च–

"सर्वभूतेषु सर्वात्मन्! या शक्तिरपरा तव।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै परेश्वर!॥
याऽतीताऽगोचरा वाचां मनसां चाऽविशेषणा।
ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या तां वन्दे देवतां पराम्॥"

इति प्रपञ्चयिष्यति स्वभावादीनामकारणत्वमज्ञानस्यैव कारणत्वं "स्वभावमेके कवयो वदन्ति" (श्वेता. उ. ६।१) इत्यादि, "मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता. उ. ४।९), "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" (श्वेता. उ. ३।२), "एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्" (श्वेता. उ. ४।१) इत्यादि। स्वगुणैरीश्वरगुणैः सर्वज्ञत्वादिभिर्वा सत्त्वादिभिर्निगूढां कार्यकारणविनिर्मुक्त-पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवाऽनुपलभ्यमानाम्।

कोऽसौ देवः? यः कारणानीत्यादि पूर्ववत्।

तात्पर्यदीपिका

द्वितीय व्याख्या के अनुसार '**देवात्मशक्तिम्**' पद का '**देवात्मना अवस्थितां शक्तिम्**' विग्रह करने पर उसका अर्थ होगा ईश्वर के रूप में अवस्थित शक्ति। उसमें '**सर्वभूतिषु सर्वात्मन्!**' से लेकर '**तां वन्दे देवतां पराम्**' यह वचन प्रमाण है। इसका आशय यह है कि 'हे परमात्मा! परमेश्वर! सभी प्राणियों में विराजमान जो तुम्हारी गुणों की आश्रयभूता अपरा = परेतर अभिन्न शक्ति है, उस शाश्वत अविनश्वर नित्य शक्ति को नमस्कार है। जिसका वर्णन वाक्यविन्यासों से सम्भव नहीं है और जो मन के द्वारा भी अचिन्त्य और विशेषताओं से रहित है। केवल ज्ञान और ध्यान द्वारा ही जिसका परिच्छेद (मापन) सम्भव है, उस परा देवता को वन्दन है।'

स्वभाव आदि प्रपञ्च के कारण नहीं है, मात्र अविद्या (अज्ञान) ही उसमें कारण है इसका विस्तार आगे किया गया है। उसके लिए '**स्वभावमेके कवयो वदन्ति**' (६।१), '**मायी सृजते विश्वमेतत्**' (४।९), '**एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः**' (३।२), '**एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्**' (४।१) इत्यादि इसी उपनिषद् के मन्त्र द्रष्टव्य हैं।

'**स्वगुणैर्निरूढाम्**'–वह शक्ति सर्वज्ञता आदि ईश्वरीय गुणों से आच्छादित है।

[वीरागम के अनुसार वे ईश्वरीय गुण छः है–सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिवोध, स्वतन्त्रता, अलुप्त शक्ति और अनन्तशक्ति।

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

वे ईश्वरीय गुण उनके छः अङ्ग ही है।]

अथवा सत्व, रज और तमोगुण इन तीन प्राकृतिक गुणों से वह आच्छादित है। वह उस परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न-एकरूप है, जो कार्यकारणभाव से पूर्णतया मुक्त, पूर्ण आनन्दस्वरूप अखण्ड अद्वितीय है। अत एव उसका साक्षात्कार करना असम्भव होता है। उत्तरार्ध की व्याख्या पूर्ववत् है।

शाङ्करभाष्यम्

अथवा देवस्य परमेश्वरस्याऽऽत्मभूतां जगदुदयस्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकां शक्तिमिति। तथा चोक्तम्–

"शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः" इति।

"ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन्! प्रधाना ब्रह्मशक्तयः" इति च।

स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः। सत्त्वेन विष्णू रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः सत्त्वाद्युपाधिसंबन्धात् स्वरूपेण निरुपाधिकपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवाऽनुपलभ्यमानाः। परस्यैव ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकार्यं कुर्वन्तोऽवस्थाभेदमाश्रित्य शक्तिभेदव्यवहारो न पुनस्तत्त्वभेदमाश्रित्य। तथा चोक्तम्–

"सर्गस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः" इति। (विष्णुपु. १। २। ६६)

प्रथममीश्वरात्मना मायिरूपेणाऽवतिष्ठते ब्रह्म। स पुनर्मूर्तिरूपेण त्रिधा व्यवतिष्ठते। तेन च रूपेण सृष्टिस्थितिसंहाररूपनियमनादिकार्यं करोति। तथा च श्रुतिः परस्य शक्तिद्वारेण नियमनादिकार्यं दर्शयति–"लोकानीशत ईशनीभिः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचाऽन्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः" (श्वेता. उ. ३।२) इति। ईशनीभिर्जननीभिः परमशक्तिभिरिति विशेषणात्। "ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः" इति स्मृतेः परमशक्तिभिरिति परदेवतानां ग्रहणम्।

तात्पर्यदीपिका

इसका तृतीय समाधान यह है कि 'देव' अर्थात् द्युतिमान् = प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर की स्वरूपभूता तीन शक्तियां हैं, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं, वही 'देवात्मशक्ति' है। 'शक्तयो यस्य देवस्य' और 'ब्रह्म-विष्णु-शिव, ब्रह्मन्!' ये प्रमाण-वचन भी इसे प्रमाणित करते हैं। दोनों का आशय एक ही है-'उस द्युतिमान् प्रकाशस्वरूप परब्रह्म की तीन शक्तियां हैं-ब्रह्मा, विष्णु और महेश।'

'स्वगुणैर्निगूढाम्'—परब्रह्म परमात्मा के अपने तीन गुण हैं—सत्व, रज और तम। सत्व गुण से वह ब्रह्मा, रजोगुण से विष्णु और तमोगुण से महेश्वर (महादेव) कहलाता है। सत्व आदि उपाधियों के परब्रह्म परमात्मा त्रिमूर्ति है। निरुपाधिक परिपूर्ण अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म में ये गुण नहीं प्राप्त होते। ये गुण ही परब्रह्म परमात्मा के सृष्टि, स्थिति (पालन) और प्रलय (संहार) कार्य करते हैं। अवस्थाभेद के कारण ही परमात्मा त्रिस्वरूप है, तात्विक दृष्टि से वह अखण्ड अद्वितीय ही है। जैसा कि विष्णु-पुराण का 'सर्गस्थित्यन्तकरणीम्' इत्यादि प्रमाणवचन है। वस्तुतः एक ही भगवान् जनार्दन सृष्टिकार्य करने से ब्रह्मा नाम को, स्थिति (पालन) करने से विष्णु नाम को और संहार करने से शिव नाम को धारण करता है। प्रथम उसका एक ही स्वरूप होता है। महेश्वरस्वरूप, जो 'मायी' माया से अभिन्न होता है। फिर वह मूर्तियों के रूप में अपने को तीन प्रकार से विभक्त करता है। उसकी ब्रह्ममूर्ति सृष्टि का, विष्णुमूर्ति पालनादि का और शिवमूर्ति संहार-नियमन आदि का कार्य करती है। क्योंकि उसी प्रकार श्रुतिवचन भी परब्रह्म परमात्मा की शक्ति द्वारा नियमन आदि कार्य का प्रतिपादन करते हैं। 'लोकानीशत ईशनीभिः' (३।२) इत्यादि इसी उपनिषद् मंत्र में 'ईशनीमिः' यह पद 'परमशक्तिभिः' इस अर्थ का वाचक है, जो परब्रह्म की सृष्टिशक्ति, स्थितिशक्ति और संहारशक्ति को अभिव्यक्त करती है।

'ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन्! प्रधाना ब्रह्मशक्तयः' इस स्मृतिवचन में उन्हीं शक्तियों को यथाक्रम ब्रह्मशक्ति, विष्णुशक्ति और शिवशक्ति नाम से सम्बोधित करते हुए तीन प्रधान देवताओं के रूप में स्वीकृत किया है।

[गद्यकवि बाणभट्ट 'कादम्बरी' के मङ्गलपद्य में इन्हीं शक्तियों की वन्दना इस प्रकार करते हैं—

'रजोजुषे जन्मनि सत्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाप त्रिगुणात्मने नमः॥']

शाङ्करभाष्यम्

अथवा 'देवात्मशक्तिमि'ति 'देवश्चाऽऽत्मा च शक्तिश्च यस्य परस्य ब्रह्मणोऽवस्थाभेदास्तां प्रकृतिपुरुषेश्वराणां स्वरूपभूतां ब्रह्मरूपेणाऽवस्थितां परात्परतरां शक्तिं कारणम'पश्यन्निति। तथा च त्रयाणां स्वरूपभूतं प्रदर्शयिष्यति—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वेता. उ. १। १२), "त्रयं यदा विदन्ते ब्रह्ममेतत्" (श्वेता. उ. १। ९) इति। स्वगुणैर्ब्रह्मपरतन्त्रैः प्रकृत्यादिविशेषणैरुपाधिभिर्निगूढाम्। तथा च दर्शयिष्यति—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता. उ. ६। ११) इति, "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" (क. उ. १। २। १२), "यो वेद निहितं गुहायाम्"

(तै. उ. २।१।१), "इहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः" इति श्रुत्यन्तरम्। यः कारणानीति पूर्ववत्।

तात्पर्यदीपिका

इसका चतुर्थ समाधान 'देवात्मशक्तिम्' पद की ऐसी व्याख्या से होता है– "देवश्च आत्मा च शक्तिश्च यस्य परस्य ब्रह्मणः अवस्थाभेदाः तां प्रकृति-पुरुषेश्वराणां स्वरूपभूतां ब्रह्मरूपेणाऽवस्थितां परात्परतरां शक्तिं कारणमपश्यन्।"

इसका तात्पर्य यह है कि परात्पर परब्रह्म में स्वत्व रूप से परात्पर ब्रह्मशक्ति वास करती है, उसी के कारण परब्रह्म-परमात्मा के तीन अवस्थाभेद होते हैं–देवता, आत्मा और शक्ति (सृष्टिस्थितिपालन की कर्तृत्वशक्ति)। उन तीन अवस्थाओं के कारण परात्पर परब्रह्म तीन रूपों में विभक्त होता है–प्रकृति, पुरुष और ईश्वर। उन ऋषियों ने जगत् के कारण के रूप में परब्रह्म में अभिन्न रूप से विद्यमान स्वस्वरूपा परात्परतर शक्ति का साक्षात्कार किया। परब्रह्म परमात्मा के इन तीनों स्वरूपों का प्रतिपादन 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च' (१।१२) इत्यादि तथा 'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्' (१।९) इन मन्त्रों में आगे चलकर किया गया है।

'स्वगुणैर्निगूढाम्'–प्रकृति, पुरुष एवं ईश्वर परब्रह्म के अधीन होने के कारण गौण हैं, इन उपाधियों (विशेषणों) के कारण परात्परतर ब्रह्मशक्ति आच्छादित (ढकी) रहती है। जैसा कि 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (६।११) इत्यादि अग्रिम मंत्र में प्रतिपादित होगा।

इसमें अन्य श्रुतिवचन प्रमाण है। कठोपनिषद् (१।२।१२) कहती है–'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्'। अर्थात् परब्रह्म परमात्मा वहाँ इतने प्रच्छन्न रूप से प्रविष्ट होता है कि उसका साक्षात्कार सुतरां कठिन होता है।

'यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै. उ. २।१।१)–बुद्धिस्वरूपा गुफा में छिपे हुए परब्रह्म परमात्मा का जो साक्षात्कार करता है। 'इहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः'–वह परमात्मा जीवमात्र के शरीर में वास करते हुए भी वही विद्यमान प्रकाशस्वरूपा ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और अन्तःकरण तक को नहीं जानते। अन्य व्याख्या पूर्ववत् है।

शाङ्करभाष्यम्

अथवा देवात्मनो द्योतनात्मनः प्रकाशस्वरूपस्य ज्योतिषां ज्योतीरूपस्य प्रज्ञानघनस्वरूपस्य परमात्मनो जगदुदयस्थितिलयनियमनविषयां शक्तिं सामर्थ्यमपश्यन्निति स्वगुणैः स्वव्यष्टिभूतैः सर्वज्ञसर्वेशितृत्वादिभिर्निगूढां तत्तद्विशेषरूपेणाऽवस्थितत्वात् स्वरूपेण शक्तिमात्रेणाऽनुपलभ्यमानाम्। तथा च मानान्तरावेद्यां शक्तिं दर्शयिष्यति–

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥"

(श्वेता. उ. ६।८) इति। समानमन्यत्।

तात्पर्यदीपिका

इसका अन्तिम समाधान यह है कि 'देवात्मनः शक्तिः देवात्मशक्तिः' इस प्रकार समासविग्रह करने पर उसकी व्याख्या इस प्रकार होगी–'देवात्मनः = द्योतन अर्थात् प्रकाशस्वरूप समस्त ज्योतियों, तेजों के भी तेजःपुञ्ज प्रज्ञानधनस्वरूप परमात्मा की वह शक्ति जो जगत् का सृजन, पालन, संहार और नियन्त्रण करती है। उस शक्ति, सामर्थ्य का ऋषियों ने साक्षात्कार किया।'

'स्वगुणैर्निगूढाम्'–वह अपने ही व्यष्टिगत सर्वज्ञत्व, सर्वेशत्व आदि गुणों के आवरण से ढकी हुई थी। अत एव उसकी शुद्ध समष्टिशक्ति का साक्षात्कार ही नहीं होता था। इसी उपनिषद् के 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' (६।८) इत्यादि मन्त्र से आगे चलकर यह प्रदर्शित किया गया है कि वह शुद्धशक्ति अन्य प्रभावों से संवेद्य न होकर स्वसंवेद्य है। अन्य पूर्व के समान है।

शाङ्करभाष्यम्

कारणं देवात्मशक्तिमिति प्रश्ने परिहारे च ये ये पक्षभेदाः प्रदर्शितास्ते सर्वे संगृहीताः। उत्तरत्र सर्वेषां प्रपञ्चनादप्रस्तुतस्य प्रपञ्चनायोगात् प्रश्नोत्तरदर्शनाच्च। समासव्यासधारणस्य च विदुषामिष्टत्वात्। तथा चोक्तम्– "इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्" इति। तथा च श्रुत्यन्तरे सकृच्छ्रुतस्य गोपामिति पदस्य व्याख्याभेदः श्रुत्यैव प्रदर्शितः–'अपश्यं गोपामित्याह–प्राणा वै गोपाः' इति। 'अपश्यं गोपामित्याह–असौ वा आदित्यो गोपाः' इति। 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म' इत्यारभ्य 'बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' इति सकृच्छ्रुतस्य ब्रह्मपदस्य निमित्तोपादानरूपेणाऽर्थभेदः श्रुत्यैव दर्शितः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

इस प्रकार 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः' इत्यादि मंत्र में जो प्रश्न संकलित किये गये हैं और उसके उत्तर में 'कालः स्वभावो नियतिः' इत्यादि विकल्प प्रस्तुत करते हुए सिद्धान्तरूप में 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इस मंत्र में 'देवात्मशक्ति' को जगत् का कारण बतलाया गया है।

आगे चलकर इसका विस्तार किया गया है, अतः इसका यहाँ विस्तार करना युक्तियुक्त नहीं है। श्रुति को भी सभी पूर्वपक्ष अभीष्ट हैं, क्योंकि उनके उत्तर भी श्रुति में देखे गए हैं।

'इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्' इस वचन के अनुसार विद्वान् किसी भी विषय का प्रतिपादन दो प्रकार से करते हैं—समासशैली, संक्षेप में प्रतिपादन की पद्धति और व्यासशैली, विस्तार से प्रतिपादनपद्धति। अतः यहाँ दोनों पद्धतियाँ प्रयुक्त हैं। अन्य श्रुतियों में भी यह शैली देखी गयी है। उदाहरणार्थ श्रुति में एक बार प्रयुक्त 'गोपा' शब्द की अनेक व्याख्याएं मिलती हैं—'अपश्यं गोपामित्याह—प्राणा वै गोपाः', मैंने 'गोपा' का साक्षात्कार किया। प्राण ही गोपा है। 'अपश्यं गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपाः।' 'मैंने गोपा का साक्षात्कार किया, आदित्य ही गोपा है।'

श्रुति प्रश्न करती है—'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म', इसे ब्रह्म क्यों कहते हैं? 'बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म', यतः वह विकसित और विकासशील है, अतः उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। इस प्रकार श्रुति स्वयं ब्रह्म को निमित्तकारण और उपादानकारण के रूप में प्रदर्शित करती है॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्

अवतरणभाष्यम्—एवं तावद् 'देवात्मशक्तिं', 'यः कारणानि निखिलानि कालात्मना युक्तान्यधितिष्ठत्येकः' इत्येकस्याऽद्वितीयस्य परमात्मनः स्वरूपेण शक्तिरूपेण च निमित्तकारणोपादानकारणत्वं मायित्वेनेश्वररूपत्वं देवतात्मत्वसर्वज्ञत्वादिरूपत्वममायित्वेन सत्यज्ञाना-नन्दाद्वितीयरूपत्वं च समासेन श्रुत्यर्थाभ्यामभिहितम्। इदानीं तमेव सर्वात्मानं दर्शयति कार्यकारणयोरनन्यत्वप्रतिपादनेन।

तात्पर्यदीपिका

मन्त्रसन्दर्भ—इस प्रकार 'ते ध्यानयोगानुगता' इत्यादि मंत्र को 'अपश्यन् देवात्मशक्तिम्' और 'यः कारणानि निखिलानि' इन दो भागों में विभक्त कर एकमात्र परब्रह्म और उसकी अभिन्न शक्ति को निमित्तकारण और उपादानकारण के रूप में प्रदर्शित किया गया है। वह परब्रह्म परमात्मा सोपाधिक भी है और निरुपाधिक भी, जिसका प्रतिपादन यथाक्रम किया गया है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (४।१०) इस मंत्रभाग द्वारा ईश्वर, देवता, सर्वज्ञ आदि विशेषणों से उसके सोपाधिक स्वरूप को प्रकट किया गया है। 'अमायी' के रूप में उसे निरुपाधिक कहा गया है और यह प्रतिपादन किया गया है कि वह 'सच्चिदानन्दधन' अर्थात् सत्यस्वरूप, आनन्द-स्वरूप और अखण्ड अद्वितीय स्वरूप है। यह बात श्रुतिवचन और उसकी व्याख्या से विदित होती है। आगे चलकर श्रुति (उपनिषद्) यह प्रतिपादित कर रही है कि परब्रह्म परमात्मा सर्वस्वरूप, कार्यकारण-उभयस्वरूप है। वह कार्य भी है और कारण भी है। कार्य और कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं, अपितु अभिन्न हैं, अतः वह सर्वस्वरूप है।

शाङ्करभाष्यम्

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. उ. ६ । १ । ४) इति निदर्शनेनाऽद्वितीयापूर्वानपरं नेति-नेत्या 'त्मकवागगोचराशनायाद्यसंस्पृष्ट-प्रत्यस्तमितभेदचित्सदानन्दब्रह्मात्मत्वं प्रदर्शयितुमनाः प्रकृत्यैव प्रपञ्चभ्रान्तामवस्थां प्राप्तस्य परब्रह्मण ईश्वरात्मना सर्वज्ञत्वापहतपाप्मादिरूपेण देवतात्मना ब्रह्मादिरूपेण कार्यादिरूपेण वैश्वानरादिरूपेण च मोक्षापेक्षितशुद्ध्यर्थाम् 'स यदि पितृलोककामः' (छा. उ. ८। २। १) इति विश्वैश्वर्यार्थाम् 'मां वा नित्यं शङ्करं वा प्रयाति' इत्यादिदेवतासायुज्यप्राप्त्यर्थां वैश्वानरादिप्राप्त्यर्थां चोपासनामशेषलौकिकवैदिककर्मप्रसिद्धिं च दर्शयति।

तात्पर्यदीपिका

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह दृष्टान्त छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठाध्याय के प्रथम खण्ड का है। श्वेतकेतु की जिज्ञासा का समाधान करते हुए उसके पिता आरुणि उक्त समाधान कर रहे हैं। घर आदि पदार्थ मिट्टी के बने होते हैं और एक मिट्टी के गोले को देखकर यह ज्ञान हो जाता है कि ये सब मिट्टी के पदार्थ हैं। विविध नाम वाग्विलास वाणी के विकार मात्र हैं। वास्तव में मृपिण्ड ही सत्य वस्तु है। इस दृष्टान्त के द्वारा उसी परब्रह्म तत्त्व के स्वरूप को प्रदर्शित करने की इच्छा द्योतित हो रही है, जो अद्वितीय अपूर्व, कार्यकारणभेदशून्य, 'नेति' 'नेति' स्वरूप अनिर्वचनीय है। जो भूख-प्यास आदि विकारों से अस्पृष्ट है, जिसमें समस्त भेद विलीन हैं और जो केवल सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप है। मायामयी प्रकृति उसी ब्रह्म को प्रपञ्च के रूप में दिखलाकर सबको भ्रम में डालती है। उसी मायामयी प्रकृति के द्वारा ही निर्गुण परब्रह्म परमात्मा जब सगुण ईश्वर के रूप में दृष्टिगोचर होता है, तब वह सर्वज्ञ तथा पापपुण्यरहित प्रतीत होता है। परब्रह्म ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्ता के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का स्वरूप धारण करता है। आकाश आदि पञ्च महाभूत उसी परब्रह्म का कार्यस्वरूप है। वैश्वानर आदि उसी का स्वरूप है। श्रुति का कथन है कि उस परब्रह्म की उपासना चित्तशुद्धि के लिये करनी चाहिये, जिससे मोक्ष प्राप्त हो। सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति भी उसी की उपासना से होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् के 'स यदि पितृ-लोककामः' (८।२।१) इत्यादि मन्त्रों में यह वर्णित है कि जीव यदि पितृलोक, मातृलोक, भ्रातृलोक, भगिनीलोक, सखालोक आदि लोकों की कामना करता है, तो वह उस लोक से सम्पन्न होकर महिमान्वित होता है।

'मां वा नित्यं शङ्करं वा प्रयाति' इत्यादि वचनों से यह प्रमाणित होता है कि परब्रह्म की उपासना से जीव को शिवसायुज्य आदि वैश्वानर आदि भाव प्राप्त होता है। इस प्रकार श्रुति जीव को परब्रह्मोपासना के लिए और सम्पूर्ण लौकिक तथा वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रेरित और उन्हें प्रमाणित करती है।

शाङ्करभाष्यम्

यदि कार्यकारणरूपेण स्वरूपेण चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना च व्यवस्थितं न स्यात्तदा भोग्यभोक्तृनियन्त्रभावे संसारमोक्षयोरभाव एव स्यात्। अधिकारिणोऽभावेन साधनभूतस्य प्रपञ्चस्याऽभावात्। तत्फलदातुश्चेश्वर-स्याऽभावात्। तथा संसारादिहेतुभूतमीश्वरं दर्शयति—'संसारमोक्षस्थिति-बन्धहेतुः' इति। तथा च संसारमोक्षयोरभाव एव स्यात्। तत्सिद्ध्यर्थं प्रपञ्चाद्यवस्थानं दर्शयति—

"एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
स चेदविन्ददानन्दं न सत्यं नाऽनृतं भवेत्॥"

इति सनत्सुजातोऽप्येकं पादं नोत्क्षिपती'त्यादि। तथा च श्रुतिः—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' (छा. उ. ३। १२। ६) इति। तत्र प्रथमेन मन्त्रेण सर्वात्मानं ब्रह्म चक्रं दर्शयति द्वितीयेन नदीरूपेण—

तात्पर्यदीपिका

वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा चित्स्वरूप सत्स्वरूप, आनन्दस्वरूप और अखण्ड-अद्वितीय एक है। किन्तु वह कार्य और कारण के रूप में विभक्त हुआ है। यदि ऐसा न होता, तो संसार में भोग्य, भोक्ता और उसके नियामक का अभाव होता और उसके अभाव में न तो संसार रहता और न मोक्ष। क्योंकि यदि अधिकारी ही न हो, तो उसका साधनस्वरूप प्रपञ्च भी नहीं रहता और उसके फल को देनेवाला ईश्वर भी न रहता। जबकि संसार की सृष्टि आदि के कारणस्वरूप ईश्वर के अस्तित्व को यह वचन प्रमाणित करता है—'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः'। अर्थात् ईश्वर ही जीव की संसार से मुक्ति, सत्ता और बन्धन में कारण होता है। यदि ईश्वर की सत्ता न होती, तो न तो प्रपञ्च (संसार) ही रहता और न उससे मुक्ति मिलती।

संसार और मोक्ष की सिद्धि के लिए महर्षि सनत्सुजात ने भी 'एकं पादं नोत्क्षिपति' इत्यादि वचन से प्रपञ्च आदि के अस्तित्व को वर्णित किया है। इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—हंस (परमात्मा) सलिल (संसार) से अलिप्त रहते हुए भी अपना एक चरण नहीं बढ़ाता। वह यदि स्वयं में अवस्थित आनन्द का अनुभव करने लगे तो न तो सत्य (परब्रह्म या मोक्ष) का अस्तित्व रहे और न अनृत (असत्य-प्रपञ्च) का। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (छा. उ. ३। १२। ६) इत्यादि वेदमंत्र भी इसे प्रमाणित करता है, जिसका आशय इस प्रकार है—परब्रह्म परमात्मा का एक चरण समस्त जीवों के रूप में अवस्थित है और उसके अमृतमय तीन चरण द्युलोक में सुशोभित है।

प्रस्तुत सन्दर्भ की दृष्टि से चतुर्थ मन्त्र में श्रुति परब्रह्म का चक्ररूप में वर्णन कर रही है और अनन्तर परवर्ती पञ्चम मन्त्र से उसका वर्णन नदी के रूप में कर रही है—

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

अन्वयः–(ध्यानयोगानुगताः ते) एकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः षड्भिः अष्टकैः (च युक्तं) विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहं तम् (अपश्यन्।)॥ ४॥

मन्त्रार्थ–जब वह परब्रह्म विश्व के रूप में रूपान्तरित हुआ, तब उसका ध्यानयोग से साक्षात्कार करनेवाले ऋषियों ने उसे रथचक्र के रूप में देखा, जिसे एक 'नेमि' थी। उसके सोलह सिरे और पचास 'अर' (आड़े-तिरछे डण्डे) थे। साथ ही उसके बीस सहायक 'प्रत्यर' (सहायक अर) और छः अष्टक थे। उसमें एक पाश था जो स्वेच्छया नाना रूप धारण करता था। वह तीन मार्गों पर चल रहा था। उस रथचक्र के चलने में दो कारण थे। उसके नाभिस्थान में 'मोह' (अज्ञान) था॥ ४॥

शाङ्करभाष्यम्

तमेकेति। य एकः कारणानि निखिलान्यधितिष्ठति तमेकनेमिं योनिः कारणमव्याकृतमाकाशं परमव्योम माया प्रकृतिः शक्तिस्तमोऽविद्या छायाज्ञानमनृतमव्यक्तमित्येवमादिशब्दैरभिलप्यमानैका कारणावस्था नेमिरिव नेमिः सर्वाधारो यस्याऽधिष्ठातुरद्वितीयस्य परमात्मनस्तमेकनेमिम्। त्रिवृतं त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रकृतिगुणैर्वृतम्।

षोडशको विकारः पञ्च भूतान्येकादशेन्द्रियाण्यन्तोऽवसानं विस्तारसमाप्तिर्यस्याऽऽत्मनस्तं षोडशान्तम्। अथवा प्रश्नोपनिषदि ''यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति''(६।२)इत्यारभ्य''स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्'' (६।४) इत्यादिना प्रोक्ता नामान्ताः षोडशकला अवसानं यस्येति। अथवैकनेमिमिति कारणभूताव्याकृतावस्थाऽभिहिता। तत्कार्यसमष्टिभूतविराट्सूत्रद्वयं तद् व्यष्टिभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्यन्तोऽवसानं यस्य प्रपञ्चात्मनाऽवस्थितस्य तं षोडशान्तम्।

तात्पर्यदीपिका

एकनेमिम्–'नेमि' रथचक्र के उस वर्तुलाकार वेष्टन को कहते हैं, जो 'अर', 'नाभि' आदि को वेष्टित कर यथास्थान रखती है। जब निराकार परब्रह्म विश्व के स्वरूप में रूपान्तरित होता है, तो अव्याकृत प्रकृति उसे बांध रखती है, वही विश्वरूपी रथचक्र

की एक 'नेमि' है, जो सम्पूर्ण कारणों में अधिष्ठित है। वही मूल कारण है, जिसे योनि, कारण, अव्याकृत, आकाश, परम व्योम, माया, प्रकृति, शक्ति, तम, अविद्या, छाया, अज्ञान, अनृत, अव्यक्त इत्यादि शब्दों से संबोधित किया जाता है। जिस प्रकार 'नेमि' रथचक्र के अर, नाभि इत्यादि को वेष्टित कर यथास्थान रखती है, उसी प्रकार वह समस्त कार्यों का आधार है। वह परब्रह्म परमात्मा की अधिष्ठात्री अद्वितीय अनन्य शक्ति है।

टीकाकार विज्ञान भगवान् माया को 'नेमि' मानते हैं–'**मायाशब्दनिर्दिष्टैकाऽखण्डा प्रकृतिः संसाररथभ्रमणनिर्वाहकत्वेन नेमिः।**'

त्रिवृतम्–'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**' यह प्रकृति का स्वरूप है। सत्व, रज और तम ये प्रकृति के तीन गुण हैं, जो क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण होते हैं। ब्रह्मज्ञानी ऋषियों ने अनुभव किया कि प्रकृति के उक्त गुण ही संसाररूपी रथचक्र के तीन वृत्त हैं, जिनसे संसार का रथ चलता रहता है।

टीकाकार शंकरानन्द सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर उन तीन वृत्तों के तीन वर्ण स्वीकार करते हैं–सफेद, काला और लाल। विज्ञानभगवान् के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन्हीं गुणों की सहायता से क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं।

टीकाकार नारायण के अनुसार कुण्डलीयुक्त चित्शक्ति ही वह 'नेमि' है। उसके तीन वृत्त वात, पित्त और कफ हो सकते हैं। अथवा–इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाडियां हो सकती हैं। किं वा-पृथ्वी जल और तेज हो सकते हैं।

षोडशान्तम्–सम्पूर्ण परब्रह्म परमात्मा की विस्तारमर्यादा सोलह संख्या तक सीमित है। सांख्यकारिका कहती है–'**षोडशकस्तु विकारः**'। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत, नाक, कान, आंख, त्वचा और जिह्वा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय, मुख, हाथ पैर, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवां अन्तःकरण (मन) ये ही परब्रह्म परमात्मा के सोलह विकार हैं।

अथवा–प्रश्नोपनिषद् के षष्ठ प्रश्न में '**यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति**' (६।२) मन्त्र से उपक्रम करते हुए '**सः प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम् खम् वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्, अन्नाद् वीर्यम्, तपो मन्त्राः कर्म, लोकाः, लोकेषु च नाम च**' (६।४) इस मंत्र में प्राण से लेकर नाम तक सोलह कलाओं का परिगणन किया गया है। वे इस प्रकार हैं–प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। सम्पूर्ण परब्रह्म परमात्मा इन्हीं सोलह कलाओं से युक्त है। इन्हें कला इसलिए कहा जाता है कि ये परब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप को अपने में लीन (आच्छादित) करती हैं–'**कं ब्रह्म लीयते यया सा कला।**' सम्पूर्ण परब्रह्म का विश्वस्वरूप इन्हीं सोलह कलाओं में पर्यवसित है।

अथवा–उस अव्याकृत प्रकृति के दो समष्टिकार्य हैं–विराट् और सूत्रात्मा। तथा भूर्लोक, भुवर्लोक आदि चतुर्दश भुवन व्यष्टिकार्य हैं। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा के संसाररूपी रथचक्र के ये सोलह सिरे हैं।

अथवा–परब्रह्म परमात्मा के विश्वरूपी रथचक्र की 'नेमि' अव्याकृत प्रकृति स्वीकार करें, तो उस नेमि के मन, बुद्धि और अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएं ये आठ सूक्ष्म तत्त्व और इनके ही आठ स्थूल रूप-इस प्रकार सोलह सिरे हैं।

टीकाकार नारायण के अनुसार प्रतिपदा से पूर्णिमा तक पन्द्रह और अमावस्या को मिलाकर सोलह तिथियां परब्रह्म परमात्मा के रथचक्र के सोलह सिरे हैं।

शाङ्करभाष्यम्

शतार्धारम्–पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्या अरा इव यस्य तं शतार्धारम्। पञ्च विपर्ययभेदाः–तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रो ह्यन्धतामिस्त्र इति। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा। अष्टधा सिद्धिः। एते पञ्चाशत्प्रत्ययभेदाः। तत्र तमसो भेदोऽष्टविधः। अष्टसु प्रकृतिष्वनात्म-स्वात्मप्रतिपत्तिविषयभेदेनाऽष्टविधत्वप्रतिपत्तेः। मोहस्य चाऽष्टविधो भेदः। अणिमादिशक्तिर्मोहः। दशविधो महामोहः। दृष्टानुश्रविकशब्दादिविषयेषु पञ्चसु पञ्चस्वभिनिवेशो महामोहः। दृष्टानुश्रविकभेदेन तेषां दशविधत्वम्। तामिस्त्रोऽष्टादशविधः। दृष्टानुश्रविकेषु दशसु विषयेष्वष्टविधैरैश्वर्यैः प्रयतमानस्य तदसिद्धौ यः क्रोधः स तामिस्त्रोऽभिधीयते। अन्धतामिस्त्रोऽप्य-ष्टादशविधः।अष्टविधैश्वर्ये दशसु विषयेषु भोग्यत्वेनोपस्थितेष्वर्धभुक्तेषु मृत्युना ह्रियमाणस्य यः शोको जायते महता क्लेशेनैते प्राप्ता न चैते मयोपभुक्ताः प्रत्यासन्नश्चाऽयं मरणकाल इति सोऽन्धतामिस्त्र इत्युच्यते। विपर्यभेदा व्याख्याताः।

अशक्तिरष्टाविंशतिधोच्यते–एकादशेन्द्रियाणामशक्तयो मूकत्वबधि-रत्वान्धत्वप्रभृतयो बाह्याः। अन्तःकरणस्य पुरुषार्थयोग्यतातुष्टीनां विपर्ययेण नवधाशक्तिः। सिद्धीनां विपर्ययेणाऽष्टधाशक्तिः।

तुष्टिर्नवधा–प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याश्चतस्त्रः। विषयोपरमात्पञ्च। कश्चित्प्रकृतिपरिज्ञानात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते। अन्यः पुनः पारिव्राज्यलिङ्गं गृहीत्वा कृतार्थोऽस्मीति मन्यते। अपरः पुनः प्रकृतिपरिज्ञानेन किमाश्रमाद्यु-पादानेन वा किं बहुना कालेन अवश्यं मुक्तिर्भवतीति मत्वा परितुष्यति। कश्चित्पुनर्मन्यते विना भाग्येन न किञ्चिदपि प्राप्यते। यदि मम भाग्यमस्ति ततो भवत्येवाऽत्रैव मोक्ष इति परितुष्यति। विषयाणामार्जनमशक्यमित्युपरम्य तुष्यति। शक्यते द्रष्टुमार्जितुमार्जितस्य रक्षणमशक्यमित्युपरम्य परितुष्यति। सातिशयत्वादिदोषदर्शनेनोपरम्य परस्तुष्यति। विषयाः सुतरामेवाऽभिलाषं जनयन्ति न च तद्भोगाभ्यासे तृप्तिरुपजायते।

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥"

(श्रीमद्भा. ६।१६।१४) इति।

तस्मादलमनेन पुनः पुनरसन्तोषकारणेनोपभोगेनेत्येवं सङ्गदोष-दर्शनादुपरम्य कश्चित्तुष्यति। नाऽनुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवति। भूतोपघात-भोगाच्चाऽधर्मः। अधर्मान्नरकादिप्राप्तिरिति हिंसादोषदर्शनात्कश्चिदुपरम्य तुष्यति। प्रकृत्युपादानकालभाग्याश्चतस्रः। विषयाणामार्जनरक्षणविषयदोष-सङ्गहिंसादोषात्पञ्च तुष्टय इति नव तुष्टयो व्याख्याताः।

सिद्धयोऽभिधीयन्ते—ऊहः शब्दोऽध्ययनमिति तिस्रः सिद्धयः। दुःख-विघातास्तिस्रः। सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति सिद्धिद्वयम्। ऊहस्तत्त्वं जिज्ञासमानस्यो-पदेशमन्तरेण जन्मान्तरसंस्कारवशात्प्रकृत्यादिविषयं ज्ञानमुत्पद्यते सेयमूहो नाम प्रथमा सिद्धिः। शब्दो नामाऽभ्यासमन्तरेण श्रवणमात्राद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा द्वितीया सिद्धिः। अध्ययनं नाम शास्त्राभ्यासाद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा तृतीया सिद्धिः। आध्यात्मिकस्याऽऽधिभौतिकस्याऽऽधिदैविकस्य त्रिविधदुःखस्य व्युदासाच्छी-तोष्णादिजन्यदुःखसहिष्णोः तितिक्षोर्यज्ज्ञानमुत्पद्यते तस्य आध्यात्मिकादिभेदात् सिद्धेस्त्रैविध्यम्। सुहृदं प्राप्य या सिद्धिर्ज्ञानस्य सा सुहृत्प्राप्तिर्नाम सिद्धिः। आचार्यहितवस्तुप्रदानेन या सिद्धिर्विद्यायाः सा दानं नाम सिद्धिः। एवमष्टविधा सिद्धिर्व्याख्याता।

एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्याः पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा व्याख्याताः। एवं ब्राह्मपुराणे कल्पोपनिषद्व्याख्यानप्रदेशे षष्टितमाध्याये पञ्चाशत्प्रत्यय-भेदाः प्रतिपादिताः। अथवा "पञ्चाशच्छक्तिरूपिणः" इति परस्य याः शक्तयः पुराणे स्वरूपत्वेनाऽभिमताः पञ्चाशच्छक्तय अरा इव यस्य तं शतार्धारम्।

तात्पर्यदीपिका

'शतार्धारम्'—उस संसाररूपी रथचक्र के अरों की संख्या अर्धशतक अर्थात् पचास थी। जिस प्रकार रथचक्र से सम्बद्ध अरे एक ओर वृत्ताकार 'नेमि' से और दूसरी ओर उसकी 'नाभि' से जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार संसारचक्र में अन्तःकरण की पांच वृत्तियों के पचास भेद पचास अरों के समान हैं। विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि उन पांच वृत्तियों के नाम हैं। इनमें विपर्यय के पांच भेद हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र। साथ ही अशक्ति अट्ठाईस (२८) प्रकार की, तुष्टि नौ प्रकार की और सिद्धि आठ प्रकार की है। इनको मिलाकर अन्तःकरण की वृत्तियां पचास प्रकार की होती है।

विपर्यय–इनमें प्रथम पांच प्रकार के विपर्ययों में तम आठ प्रकार का है, क्योंकि सांख्यदर्शन के अनुसार प्रधान, महत्तत्व, अहंकार और पंच तन्मात्राएं आठ प्रकृतियां हैं, जो आत्मस्वरूप नहीं हैं। इनमें विषयभेद के अनुसार आठ प्रकार का आत्मभाव होता है और यही आठ प्रकार का तम है। अणिमा आदि आठ शक्तियां ही आठ प्रकार का मोह है। महामोह दस प्रकार का है। शव्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पांच विषय हैं। वे दो प्रकार के हैं–दृष्ट (लौकिक) और आनुश्रविक (पारलौकिक)। इन विषयों को सत्य समझना ही दस प्रकार का महामोह है। तामिस्त्र विपर्यय अठारह प्रकार का है। लौकिक और पारलौकिक दस प्रकार के विषयों की प्राप्ति के लिये आठ प्रकार के ऐश्वर्य द्वारा प्रयत्न करने पर जो क्रोध होता है, वही तामिस्त्र विपर्यय कहलाता है। जीव जब आठ प्रकार के ऐश्वर्य और दस प्रकार के विषयों का उपभोग करता है और उसका आधा उपभोग करने पर जब मृत्यु के द्वारा उन्हें छीन लिया जाता है, तब उसे यह शोक होता है कि 'मैंने इन्हें बड़े कष्ट से प्राप्त किया, परन्तु मैं इनका उपभोग नहीं कर सका। और मेरी मृत्यु का समय निकट आ गया।' यही शोक अन्धतामिस्त्र कहलाता है, जो अठारह प्रकार का है। इस प्रकार विपर्यय के भेदों का निरूपण किया गया।

अशक्ति–अब अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति का निरूपण किया जा रहा है। इनमें ग्यारह इन्द्रियों का काम न करना बाह्य अशक्ति है। वागिन्द्रिय की अशक्ति मूकत्व (गूंगापन) है आँख का असामर्थ्य अन्धत्व है, कान का असामर्थ्य बधिरत्व है। इसी प्रकार उन उन इन्द्रियों का काम न करना उन उन इन्द्रियों की अशक्ति है। अन्तःकरण की अन्यतम वृत्ति सन्तोष है। योग्यता के अनुरूप पुरुषार्थ करने पर जो सन्तोष होता है, वही तुष्टि है, जो आगे वर्णित है। वह नौ प्रकार की होती है, उसके विपरीत विफलता मिलने पर जो असन्तोष होता है वह अतुष्टि है, वह भी नौ प्रकार की है। आठ प्रकार की सिद्धियों के विपरीत जो विफलता मिलती है, वे आठ प्रकार की असिद्धियां हैं। इस प्रकार ग्यारह प्रकार की इन्द्रियजन्य अशक्तियां, नौ प्रकार की अतुष्टियां (असन्तोष) और आठ प्रकार की असिद्धियां–सबको मिलाकर अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियां होती हैं।

तुष्टि–तुष्टि जो कि अपनी योग्यता के अनुरूप पुरुषार्थजन्य अन्तःकरणधर्म है, उसके नौ कारण है–(१) प्रकृति, (२) उपादान, (३) काल, (४) भाग्य और अग्रिम वर्णित पांच कारणों से विषयों से उपरति। इस प्रकार तुष्टि नौ प्रकार की है–

(१) कोई प्रकृति का साक्षात्कार होने से 'मैं कृतार्थ हो गया' यह समझकर संतुष्ट होता है।

(२) दूसरा–चतुर्थाश्रम के चिह्न काषाय वस्त्र, दण्ड-कमण्डलु आदि अपनाकर स्वयं का जीवन सफल मानता है। इसमें सन्तोष का कारण उपादान है।

(३) तीसरा–जीव प्रकृति का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् संन्यास आश्रम आदि

उपादान को व्यर्थ समझता है तथा मोक्ष के लिए काल की प्रतीक्षा करता है। उसके सन्तोष का कारण काल होता है।

(४) चौथा-जीव भाग्य को सर्वोपरि मानता है और भोग-मोक्ष के लिए उसी को कारण मानता है तथा सन्तोष प्राप्त करता है।

(५) कोई जीव विषयों की प्राप्ति को असम्भव मानकर उनसे उपरत होता है, वह पांचवी प्रकार की तुष्टि है।

(६) अन्य जीव यह समझता है कि विषयों का उपार्जन तो सम्भव है, किन्तु उनका रक्षण असम्भव है। यह छठे प्रकार की तुष्टि है।

(७) इतर जीव उन विषयों में कोई न कोई दोष निकालता है-कोई उसमें कमी पाता है, तो कोई अधिक दोष देखता है।

(८) कोई जीव यह मानकर चलता है कि एक विषय की अभिलाषा दूसरे विषय की अभिलाषा को जन्म देती है। उनके बांर-बार उपभोग से तृप्ति नहीं होती। भागवत भी इसका समर्थन 'न जातु कामः कामांनाम्' (९।१९।१४) इत्यादि पद्य द्वारा करता है, जिसका आशय इस प्रकार है-जिस प्रकार घृत आदि हविर्द्रव्यों से अग्नि की ज्वालाएं शान्त नहीं होती, अपितु और अधिक प्रज्वलित होती हैं, उसी प्रकार विषयोपभोग से विषयवासना शान्त न होकर उलटे प्रज्वलित ही होती है। अतः जो असन्तोष या अतृप्ति का कारण है, उस विषयोपभोग को छोड़ देना ही श्रेयस्कर है इस प्रकार की भावना आठवें प्रकार की तृष्टि है।

(९) कोई जीव यह सोचता है कि विना प्राणिहिंसा के विषयोपभोग सम्भव ही नहीं है। जीवहिंसा करके विषयों को भोगना अधर्म है। अधर्म से नरक में जाना पड़ेगा इस प्रकार की विचारसरणि जीव को विषयोपभोग से रोकती है। यह नवम प्रकार की तुष्टि है।

संक्षेप में-विषयों से उपरति में नौ कारण वर्णित किये गए हैं-(१) प्रकृति-साक्षात्कार, (२) संन्यासचिह्न आदि उपादान, (३) प्रकृतिसाक्षात्कार से कालप्रतीक्षा, (४) भाग्य, (५) विषयों का उपार्जन असम्भव मानना, (६) उनका रक्षण असम्भव समझना, (७) उनमें विषयतारतम्यरूप दोष देखना, (८) विषयासक्ति को अतृप्ति का कारण समझना, (९) विषयोपभोग में हिंसा को देखना। इन नौ कारणों से विषयों से विरक्त रहते हुए मुक्ति की प्रतीक्षा करना यह नौ प्रकार का योग्यतानुरूप अन्तःकरण-धर्म नौ प्रकार की तुष्टि के अन्तर्गत समाविष्ट है।

सिद्धि-अब आठ सिद्धियों का विवेचन किया जा रहा है, जिनमें ऊह, शब्द और अध्ययन, त्रिविध दुःखविघात तथा सुहृत्प्राप्ति और दान ये सिद्धियां परिगणित हैं। इनकी परिभाषा इस प्रकार है-

(१) ऊह–बिना गुरुजनों के उपदेश के पूर्वजन्मों के संस्कार से प्रकृति आदि विषयों को अच्छी तरह समझ लेना 'ऊह' कहलाता है।

(२) शब्द–बिना कण्ठस्थीकरण के केवल सुनकर ही उन्हें आत्मसात् करना 'शब्द' कहलाता है।

(३) अध्ययन–शास्त्रों के बार बार अभ्यास से उनके मर्म को समझना 'अध्ययन' है।

(४-६) त्रिविध दुःखविघात–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों की बिना परवाह किये सर्दी-गर्मी आदि दुःखों को सहन करने की क्षमता रखने वाले जीव को जो ज्ञान होता है, वह त्रिविध दुःखों के नाम पर क्रमशः तीन 'दुःखविघात' कहे जाते हैं।

(७) सुहृत्प्राप्ति–मित्र को पाकर जो सफलता मिलती है, वह इन नाम से सम्बोधित है।

(८) दान–गुरुजनों से विद्याध्ययन करने के उपरान्त उन्हें जो गुरुदक्षिणा दी जाती है, और उससे जो सफलता मिलती है, उसे दान कहते हैं।

इस प्रकार आठ सिद्धियों का विवेचन किया गया। इसके पूर्व पांच प्रकार के विपर्यय, अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति और नौ प्रकार की तुष्टि का भी निरूपण किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर पचास प्रत्यय है। ये ही संसाररूपी रथचक्र के पचास 'अर' हैं। 'कल्पोपनिषद्' की व्याख्या के सन्दर्भ में ब्रह्मपुराण के साठवें अध्याय में इसी प्रकार का निरूपण है।

अथवा–परब्रह्म परमात्मा की पचास शक्तियां ही उसके संसाररूपी रथचक्र के पचास 'अर' हैं, अत एव पुराण में परब्रह्म परमात्मा को '**पञ्चाशतशक्तिरूपिणः**' कहा गया है।

शाङ्करभाष्य के अनुसार 'शतार्धारम्' का यही विवेचन है।

मतान्तर–शंकरानन्द के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश, पूर्व वर्णित पांच विपर्यय, पूर्वोक्त अट्ठाईस (२८) अशक्तियां, पूर्वोक्त नौ (९) तुष्टियां और पूर्वोक्त आठ (८) सिद्धियों को मिलाकर संसाररूपी रथचक्र के पचास 'अर' है।

पाँच क्लेश–इनमें योगसूत्र के अनुसार पांच क्लेशों का निरूपण इस प्रकार है–'**अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः**' (योगसूत्र २।३) योगभाष्य के अनुसार ये पांच क्लेश ही पांच विपर्यय हैं।

योगसूत्र में अविद्या की परिभाषा इस प्रकार है–'**अनित्याऽशुचि-दुःखाऽनात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिः अविद्या**' (यो.सू. २। ३)। अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा को क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा समझना ही अविद्या है।

'दृग्-दर्शनशक्त्योरेकात्मतैव अस्मिता'-यह योगसूत्र (२।६) सम्मत अस्मिता की परिभाषा है, जिसका अर्थ है-द्रष्टा पुरुष और दर्शनशक्ति दोनों में अभेदबुद्धि का होना अस्मिता है।

'सुखानुशयी रागः'-सुखोपभोग के बाद उसके पीछे लग जाना राग है। (यो. सू. २।७)

'दुःखानुशयी द्वेषः'-दुःख का अनुभव करने के बाद उसके कारण को सोचकर क्रोध करना द्वेष है। (यो. सू. २।८)

'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः'-मृत्यु शाश्वत सत्य है इस बात को विद्वान् भी जानता है, किन्तु वह भी उससे स्वयं को बचाने का प्रयत्न करता है, इसी का नाम 'अभिनिवेश' है।

पूर्व में अट्ठाईस अशक्तियों का निरूपण करते समय ग्यारह इन्द्रियों के असामर्थ्य में मूकत्व, अन्धत्व और बधिरता का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुष्ठिता (स्पर्शाभाव), जड़ता (जिह्वा की अशक्ति), अजिघ्रता (नासिका का असामर्थ्य), कौण्ड्य (वस्तुओं का ग्रहण न कर पाना), पंगुत्व (चल न पाना), उदावर्त (मल-मूत्र त्याग में कष्ट), नपुंसकता और मंदता (संकल्पशक्ति का अभाव) ये इन्द्रियकृत अशक्तियों में परिगणित हैं।

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्णित नौ तुष्टियों के विपरीत नौ अतुष्टियां और आठ सिद्धियों के विपरीत आठ असिद्धियां भी अट्ठाईस अशक्तियों में परिगणित हैं। इनमें नौ अतुष्टियां इस प्रकार हैं-

(१) असुवर्णा-मूल प्रकृति के अस्तित्व को न मानना।
(२) अनिला या अज्ञानमलिना-महत्तत्व को न मानना।
(३) अनीशा-अहंकार को नकारना।
(४) अदृष्टि-पंच तन्मात्राओं और पंच महाभूतों को अस्वीकार करना।
(५) अपरा-धनार्जन में असंतोष।
(६) सुपरा-धनसंरक्षण में असंतोष।
(७) असुनेत्रा-धन के विनाश में किसी प्रकार का दोष न देखना।
(८) वसुनाडिका-अत्यंत भोगासक्ति।
(९) अनुतमाम्भासिका-हिंसादि दोष की परवाह न करते हुए विषयोपभोग।

आठ सिद्धियों के विपरीत आठ असिद्धियां इस प्रकार हैं-

(१) अप्रतार-बिना अध्ययन के येन केन प्रकारेण तत्त्वज्ञान।
(२) असुतार-यथावत् शास्त्राभ्यास न करने के कारण शब्दों का विपरीत अर्थबोध।
(३) अतारतार-आगम का यथावत् ऊहापोह किये बिना उत्पन्न विपरीत ज्ञान।

(४) अरम्यक–विरोधी जनों की मन्त्रणा के विना उत्पन्न विपरीत बोध।

(५) असदामुदित–गुरुदक्षिणा न देने से असन्तुष्ट गुरु के कारण वासनादि का उच्छेद न होना।

(६) अप्रमोद–आध्यात्मिक दुःख से पीड़ित होने पर भी उसके निवारण में अनास्था।

(७) अमुदित–आधिदैविक दुःखों से संत्रस्त होने पर भी उसके समाधान के लिए प्रयत्नशील न होना।

(८) आमोदमान–आधिभौतिक दुःख से दुःखी होने पर भी संसार से उद्वेग-जन्य जिज्ञासा का अभाव।

नौ तुष्टियों का परिगणन सांख्यकारिका में इस प्रकार है–

'आध्यात्मिक्यश्चतस्त्रः प्रकृत्युपादनकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः॥'

(सांख्यकारिका ५०)

सांख्यकारिका (५१) में आठ सिद्धियों की गणना इस प्रकार की गयी है–

"ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृतप्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ........ .... ॥"

टीकाकार नारायण के अनुसार षट्चक्र के पचास दल ही विश्व-रथचक्र के पचास 'अर' हैं।

विज्ञानभगवान् एवं उपनिषद्ब्रह्मयोगी के अनुसार पचास वर्ण पचास अर हैं। अथवा–दो कान, दो नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका, वाणी, दो पैर, दो हाथ, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द, दिशा, वायु, आदित्य, वरुण, पृथिवी, अग्नि, इन्द्र, त्रिविक्रम, मृत्यु, प्रजापति, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, मननीय, बोधनीय, अहंकर्तव्य, चेतयितव्य, चन्द्र, बृहस्पति, रुद्र, क्षेत्रज्ञ, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये सांसारिक रथचक्र के पचास 'अर' हैं।

शाङ्करभाष्यम्

विंशतिप्रत्यराभिः। विंशतिप्रत्यरा दशेन्द्रियाणि तेषां च विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः। पूर्वोक्तानामराणां प्रत्यरा ये प्रतिविधीयन्ते कीलका अराणां दाढर्चाय ते प्रत्यरा इत्युच्यन्ते। तैः प्रत्यरैर्युक्तम्। अष्टकैः षड्भिर्युक्तमिति योजनीयम्।

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"

(गीता. ७।४)

इति प्रकृत्यष्टकम्। त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धात्वष्टकम्। अणिमाद्यैश्वर्याष्टकम्। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्य-भावाष्टकम्। ब्रह्मप्रजापतिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचा देवाष्टकम्। अष्टावात्मगुणा ज्ञेयाः, दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति गुणाष्टकं षष्ठम्। एतैः षड्भिर्युक्तम्।

तात्पर्यदीपिका

विंशतिप्रत्यराभिः युक्तम्—रथचक्र के 'अरों' को सुदृढ़ करने के लिए जो कीले ठोके जाते हैं, उन्हें 'प्रत्यरा' अथवा 'प्रत्यर' कहते हैं। विश्व के रथचक्र में ऐसी बीस 'प्रत्यराएं' होती हैं। वे हैं—दस इन्द्रिय और उनके दस विषय। वे इस प्रकार हैं—१. श्रोत्रेन्द्रिय, २. उसका विषय शब्द, ३. त्वगिन्द्रिय, ४. उसका विषय स्पर्श, ५. नेत्र, ६. उसका विषय रूप, ७. जिह्वा, ८. उसका विषय रस, ९. नाक, १०. उसका विषय गन्ध, ११. वागिन्द्रिय मुख, १२. उसका विषय वचन, १३. हाथ, १४. उसका विषय आदान, १५. पैर, १६. उसका विषय विहरण, १७. पायु, १८. उसका विषय मलमूत्र-विसर्जन, १९. उपस्थ और २०. उसका विषय आनन्द।

टीकाकार नारायण के अनुसार षट्चक्र के अन्दर स्थित बीस अंगुलियां ही बीस 'प्रत्यर' हैं। विज्ञानभगवान् और उपनिषद्ब्रह्मयोगी की दृष्टि में आठ वसु और द्वादश आदित्य बीस प्रत्यर है।

अष्टकैः षड्भिः युक्तम्—रथचक्र में छः अष्टकों का स्वरूप और उनका स्थान स्पष्ट नहीं है। शांकरभाष्य के अनुसार वे छः अष्टक इस प्रकार हैं—

(१) प्रकृत्यष्टक—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—'**भूमिरापोऽनिलो वायुः**' (७।४) इत्यादि। अर्थात् 'हे अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी (परब्रह्म परमात्मा की) अष्टविध प्रकृति है।'

(२) धात्वष्टक—त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

(३) ऐश्वर्याष्टक—अमरकोष इन्हें अष्टसिद्धि कहता है—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाऽष्टसिद्धयः॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य और ईशित्व ये आठ सिद्धियां ऐश्वर्याष्टक में सम्मिलित हैं।

(४) भावाष्टक—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा उनके विलोम अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य।

(५) देवाष्टक—ब्रह्मदेव, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाच।

(६) आत्मगुणाष्टक–दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता, अनायास, मंगल, अकृपणता और अस्पृहा।

शंकरानन्द की दृष्टि में वे छः अष्टक इस प्रकार है–

(१) करणाष्टक–अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार तथा शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्त्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा ये पांच तन्मात्राएं।

(२) योगाष्टक–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि।

(३) सिद्ध्यष्टक–(पूर्व वर्णित)। (४) ऐश्वर्याष्टक (पूर्व वर्णित)।

(५) ग्रहाष्टक–घ्राण, वाक्, रसना, नेत्र, कर्ण, मन, हाथ और त्वचा।

(६) अतिग्रहाष्टक–गन्ध, वक्तव्य, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म और स्पर्श।

शंकरानन्द की दृष्टि में ये छः अष्टक इस प्रकार भी हो सकते हैं–

(१) आयतनाष्टक–पृथिवी, काम, रूप, आकाश, तम, आप, रेतस, आयतन।

(२) लोकाष्टक–पृथिवी, भू, भुवः, स्वः, महः, जन, तप और सत्यलोक।

(३) देवाष्टक–अमृत, स्त्री, सत्य, दिशा, मृत्यु, वसु, वरुण और प्रजापति।

(४) पुरुषाष्टक–शरीर, काममय, आदित्य, श्रोत्र, छायामय, आदर्शस्थ, उदकस्थ और पुत्रमय।

इसके अतिरिक्त वे पूर्वोक्त ग्रहाष्टक और अतिग्रहाष्टक को भी इस षडष्टक में सम्मिलित करते हैं।

टीकाकार नारायण 'अष्टकैः' के स्थान पर 'अक्षकैः' पाठ को स्वीकार करते हुए षट्चक्र की उन छः कर्णिकाओं को स्वीकार करते हैं, जिनमें अकार से लेकर क्षकार तक वर्णमातृका अंकित हो।

शाङ्करभाष्यम्

विश्वरूपैकपाशं स्वर्गपुत्रान्नाद्यादिविषयभेदाद्विश्वरूपं विश्वरूपो नानारूप एकः कामाख्यः पाशोऽस्येति विश्वरूपैकपाशम्। धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति त्रिमार्गभेदम्। द्वयोः पुण्यपापयोर्निमित्तैकमोहो देहेन्द्रियमनोबुद्धिजात्यादिष्वनात्मस्वात्माभिमानोऽस्येति द्विनिमित्तैकमोहम्। अपश्यन्निति क्रियापदमनुवर्तते। अधीम इत्युत्तरमन्त्रसिद्धं वा क्रियापदम्॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

विश्वरूपैकपाशम्–इसका समासविग्रह होगा–विश्वरूपः एकः पाशः अस्य तत्। अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के संसाररूपी रथचक्र का केवल एक पाश होता है, जिसे काम कहते हैं। किन्तु उसके नानाविध रूप होते हैं–स्वर्ग, पुत्र, अन्न इत्यादि।

त्रिमार्गभेदम्–आचार्य शंकर के अनुसार वह रथचक्र इन तीन मार्गों पर चलता है–धर्ममार्ग, अधर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग। टीकाकार शंकरानन्द के अनुसार वे तीन मार्ग

हैं–देवयान, पितृयान और कृमिकीटादिमार्ग। टीकाकार नारायण, विज्ञानात्मा और उपनिषद्ब्रह्मयोगी की दृष्टि में वे तीन मार्ग हैं–अर्चिमार्ग, धूममार्ग तथा अधोगति।

द्विनिमित्तैकमोहम्–प्राणिमात्र को रथचक्र संसार में दो कारणों से भ्रमण कराता है–पुण्यकर्म और पापकर्म। जिस प्रकार केवल नाभि रथचक्र का केन्द्र होता है, उसी प्रकार एकमात्र मोह अर्थात् अज्ञान ही संसाररूपी रथचक्र का केन्द्र होता है। उस अज्ञान के देहाभिमान (देह को आत्मा समझना), इन्द्रियाभिमान, मन का अभिमान, बुद्धि का अभिमान, जाति का अभिमान आदि अनेक रूप होते हैं। वस्तुतः देह आदि आत्मस्वरूप नहीं है, तथापि इन्हें आत्मस्वरूप समझना, इनका अभिमान करना ही मोह या अज्ञान है, जिसके कारण जीव संसार में पाप और पुण्य कर्म करता है। और इन पाप-पुण्य कर्मों से वह इस चक्र में भ्रमणशील रहता है।

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इस पूर्वोक्त मन्त्र से 'अपश्यन्' क्रियापद की अनुवृत्ति कर इस मन्त्र का अर्थ करना चाहिये। अथवा 'पञ्चस्त्रोतोम्बुं' इस अग्रिम मन्त्र से 'अधीमः' इस क्रियापद की अनुवृत्ति कर इसका अर्थ करना चाहिये। तदनुसार–इस मन्त्र का अर्थ होगा–ऋषियों ने परब्रह्म परमात्मा को संसार के रूप में देखा और यह अनुभव किया कि मानो वह रथचक्र है। अथवा हम परब्रह्म परमात्मा के संसाररूपी विग्रह का रथ के चक्र के रूप में अध्ययन करते हैं॥ ४॥

अवतरणभाष्यम्–पूर्वं चक्ररूपेण दर्शितमिदानीं नदीरूपेण दर्शयति–

पञ्चस्त्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥ ५॥

अन्वय–मन्त्रानुसारी अन्वय है॥ ५॥

मन्त्रार्थ–परब्रह्म परमात्मा का संसारमय शरीर उस नदी के रूप में है, जिसमें पांच जलधाराएँ हैं। वह पांच उद्गम स्थानों से प्रकट होती है, अत एव उसका स्वरूप अत्यन्त उग्र और टेढ़ा है। उसमें पांच प्राणों के रूप में तरङ्गे उठती हैं। मन ही जिसके पांच प्रकार के ज्ञान का मूल कारण है। जिसमें पांच भंवर हैं। जिसमें पांच प्रकार के दुःखप्रवाह प्रवाहित होते हैं। जिसमें पांच पर्व और पचास भेद हैं, परब्रह्म परमात्मा की उस नदी को हम जानते हैं॥ ५॥

शाङ्करभाष्यम्

पञ्चस्त्रोतोऽम्बुमिति। पञ्च स्त्रोतांसि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाण्यम्बुस्थानानि यस्यास्तां नदीं पञ्चस्त्रोतोऽम्बुम्। 'अधीम' इति सर्वत्र संबध्यते।

पञ्चयोनिभिः कारणभूतैः पञ्चभूतैरुग्रां वक्रां च पञ्चयोन्युग्रवक्राम्। पञ्च प्राणाः कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादयो वोर्मयो यस्यास्तां पञ्चप्राणोर्मिम्। पञ्चबुद्धीनां चक्षुरादिजन्यानां ज्ञानानामादिः कारणं मनः। मनोवृत्तिरूपत्वात् सर्वज्ञानानां मनो मूलं कारणं यस्याः संसारसरितस्ताम्। तथा च मनसः सर्वहेतुत्वं दर्शयति–

"मनोविजृम्भितं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥" इति।

पञ्च शब्दादयो विषया आवर्तस्थानीयास्तेषु विषयेषु प्राणिनो निमज्जन्तीति यस्यास्तां पञ्चावर्ताम्। पञ्च गर्भदुःखजन्मदुःखजरादुःख-व्याधिदुःखमरणदुःखान्येवौघवेगो यस्यास्तां पञ्चदुःखौघवेगाम्। अविद्या-स्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशभेदाः पञ्च पर्वाण्यस्यास्तां पञ्चपर्वामिति॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

(१) पञ्चस्त्रोतोम्बुम्–परब्रह्म परमात्मा का संसारमय शरीर उस नदी के रूप में प्रवाहित होता है।

उसमें पांच जलधाराएं हैं। वे हैं–चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही संसार का ज्ञान होता है।

(२) पञ्चयोन्युग्रवक्राम्–संसार के उत्पत्ति के पांच मूल कारण पांच सूक्ष्म-भूत–पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। अखण्ड संसार इन्हीं पंच तन्मात्राओं से निर्मित है। इसी से उसका इसका प्रवाह इतना उग्र, भयंकर है, जिनमें गिर जाने से बार बार जन्म–मृत्यु का भय बना रहता है। उसकी गति इतनी टेढ़ी है कि उसमें चारो ओर कपट ही कपट है।

(३) पञ्चप्राणोर्मिम्–प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ये पांच प्राण उस नदी की पांच तरङ्गे हैं। जीवमात्र के शरीर में उनके स्थान इस प्रकार होते हैं–प्राण (हृदय), अपान (गुदा), समान (नाभि), उदान (कण्ठ) और व्यान (समस्त शरीर)। जैसा कि अमरकोष का वचन है–

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्यात् व्यानः सर्वशरीरगः॥

इन्हीं से संसार का जीवनचक्र चलता है।

(४) पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्–नेत्र द्वारा चाक्षुष ज्ञान, श्रोत्र द्वारा श्रवण–ज्ञान, रसना द्वारा रसज्ञान, नासिका द्वारा गन्धज्ञान और त्वचा द्वारा स्पर्शज्ञान होता है। इनके मूल में मन होता है। मन के न होने पर इन्द्रियों के सक्रिय रहने पर भी वह ज्ञान सम्भव नहीं है। सारा जगत् मन की ही सृष्टि है।

मनोविजृम्भितं सर्वम् इत्यादि पद्य में मन को सबका मूल कारण प्रदर्शित किया गया है। उसका आशय यह है–'समस्त चर (जंगम) और अचर (स्थावर) संसार मन का ही विलास है। मन यदि मननशून्य हो, तो द्वैत का आविर्भाव ही नहीं होगा।'

आचार्य शंकर वाणी, हाथ, पैर, वायु और उपस्थ इन पांच कर्मेन्द्रियों को भी संसाररूपी नदी के पांच प्राण (तरङ्ग) मानते हैं।

(५) पञ्चावर्ताम्–शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये क्रमशः श्रोत्र, नेत्र, जिह्वा, नासिका और त्वचा के पांच विषय हैं। वे संसाररूपी नदी के पांच भंवर हैं। उनमें पड़कर जीव बार बार उसमें फसता है।

(६) पञ्चदुःखौघवेगाम्–संसाररूपी उस नदी में पांच दुःखप्रवाह हैं–जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु ये पांच दुःख हैं, जीवमात्र जिनके प्रवाह का वेग सहन नहीं कर पाता।

(७) पञ्चाशद्भेदाम्–उस नदी के पचास भेद हैं। यहां आचार्य शंकर मौन हैं। सम्भवतः 'तमेकनेमिम्' इत्यादि चतुर्थ मन्त्र में 'शतार्धारम्' इस विशेषण में प्रतिपादित पचास भेद यहां विवक्षित हैं। शंकरानन्द भी उसी पद की व्याख्या यहां स्वीकार करते हैं। टीकाकार नारायण कहते हैं–"यद्वा ओंकारस्य पञ्चाशत्कलाः, ताभ्यः पञ्चाशद् वर्णाः, वर्णात्मा च वेदाः, वेदोद्भवं च जगत्।" अर्थात् प्रणयस्वरूप ओङ्कार की पचास कलाएं हैं, जिनसे पचास वर्ण उत्पन्न हुए। समस्त वेद अक्षर ब्रह्मराशि है तथा वेद से ही समस्त संसार उत्पन्न हुआ है। अतः पचास वर्णमातृका ही संसाररूपी नदी के पचास भेद हैं। विज्ञानभगवान् तथा उपनिषद्ब्रह्मयोगी भी इसी प्रकार मंतव्य प्रकट करते हैं।

(८) पञ्चपर्वाम्–उस नदी के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश पांच पर्व हैं। इनका विवेचन '**शतार्धारम्**' पद के व्याख्यान के प्रसंग में किया गया है।

अधीमः–इस पद का सम्बन्ध प्रत्येक विशेषण के साथ है, जिसका अर्थ है हमलोगों ने परब्रह्म परमात्मा की संसाररचना का उस नदी के रूप में अध्ययन किया, जिनमें उक्त विशेषताएँ थीं॥ ५॥

अवतरणम्–एवं तावन्नदीरूपेण ब्रह्मचक्ररूपेण च कार्यकारणात्मकं ब्रह्म सप्रपञ्चमिहाऽभिहितम्। इदानीमस्मिन् कार्यकारणात्मकब्रह्मचक्रे केन वा संसरति केन वा मुच्यत इति संसारमोक्षहेतुप्रदर्शनायाऽऽह–

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति॥ ६॥

अन्वयः—हंसः अस्मिन् सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते ब्रह्मचक्रे भ्राम्यते। (सः) आत्मानं प्रेरितारं च पृथक् मत्वा ततः तेन जुष्टः अमृतत्वम् एति॥ ६॥

मन्त्रार्थ—हंस (जीवात्मा) इन सबके आजीविकास्वरूप एवं सबके आश्रयस्वरूप विशाल ब्रह्मचक्र में घूमता रहता है। उस समय वह स्वयं को और अपने और सबके प्रेरक परमात्मा को पृथक् पृथक् समझता है और अन्त में उस परमात्मा से स्वीकार किये जाने पर अमरत्व प्राप्त करता है॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

सर्वाजीव इति। सर्वेषामाजीवनमस्मिन्निति सर्वाजीवे। सर्वेषां संस्था समाप्तिः प्रलयो यस्मिन्निति सर्वसंस्थे। बृहन्तेऽस्मिन् हंसो जीवः। हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः। भ्राम्यतेऽनात्मभूतदेहादिमात्मानं मन्यमानः सुरनरतिर्यगादिभेदभिन्ननानायोनिषु। एवं भ्राम्यमाणः परिवर्तत इत्यर्थः।

केन हेतुना नानायोनिषु परिवर्तते? इति, तत्राह—'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वे'ति। आत्मानं जीवात्मानं प्रेरितारं चेश्वरं पृथग्भेदेन मत्वा ज्ञात्वा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि' इति जीवेश्वरभेददर्शनेन संसारे परिवर्तत इत्यर्थः।

तात्पर्यदीपिका

[परब्रह्म परमात्मा और संसार में परस्पर कार्यकारणभाव है। परब्रह्म परमात्मा मूल कारण है और उसका कार्य है संसार। वास्तव में संसार परब्रह्म परमात्मा का ही रूपान्तरण है। वह दो स्वरूपों में दृष्टिगोचर होता है—नदी के रूप में और ब्रह्मचक्र के रूप में। चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र में उसका विशद वर्णन किया गया है। अब इस मंत्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि जीव किस कारण से इस 'ब्रह्मचक्र' (संसार) में घूमता रहता है और किस कारण से मुक्त होता है। वेदमाता इस मंत्र में संसार में परिभ्रमण और मोक्ष के हेतु का निरूपण कर रही है—]

इस मंत्र में जीवात्मा को हंस कहा गया है और संसार को ब्रह्मचक्र। अपने पुण्य-पाप कर्मों के द्वारा जीवात्मा संसारचक्र में घुमाया जाता है—'**अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे**'।

वह ब्रह्मचक्र कैसा है?—'**सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते।**'

सर्वाजीवे—'**सर्वेषाम् अस्मिन् आजीवनम् इति सर्वाजीवे।**' यह ब्रह्मचक्र सम्पूर्ण जीवों के जीवननिर्वाह का कारण है, तथा आश्रयस्थान भी वही है।

सर्वसंस्थे—'सर्वेषां संस्था समाप्तिः प्रलयः यस्मिन्निति सर्वसंस्थे।' सब जीव उसी परब्रह्म परमात्मा में विलय प्राप्त करते हैं।

बृहन्ते—यह इतना विशाल है कि इसमें सारी सृष्टि समा जाती है।

हंसः अस्मिन् ब्रह्मचक्रे भ्राम्यते–जीवात्मा इतने विशाल ब्रह्मचक्र में भ्रमणशील रहता है। संसार ही ब्रह्मचक्र है, जो परब्रह्म परमात्मा का विराट् शरीर है, वह रथचक्र के समान है, जिसका वर्णन पूर्व मन्त्र में किया गया है। उस ब्रह्मचक्र में हंस भ्रमण करता रहता है, वह 'हंस' जीवात्मा है–'हन्ति गच्छति अध्वानम् इति हंसः।' वह संसार-मार्ग पर सदा चलता रहता है, अतः 'हंस' है। देह, इन्द्रिय इत्यादि यद्यपि आत्मस्वरूप नहीं हैं, जड़ हैं, तथापि वह इन्हें आत्मस्वरूप मानते हुए नानाविध योनियों में संसार में जन्म लेकर भ्रमण करता रहता है। वह योनि देव, मनुष्य, पशु, पक्षी कोई भी हो सकती है। अब यह जिज्ञासा होती है कि 'किस कारण से वह संसार की विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है?' उसका उत्तर है–'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा'। वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा और जीवात्मा दोनों एक ही हैं। जीवात्मा परमात्मा का ही अन्यतम अंश है और अंशी परमात्मा उसका प्रेरक है, उसी के द्वारा प्रेरित होकर जीवात्मा सब काम करता है। किन्तु वह यह समझता है कि 'मैं अलग हूँ और परमात्मा मुझसे अलग है।' जीव और ईश्वर का यह भ्रममूलक भेदज्ञान ही जीवात्मा को संसार-चक्र में घुमाता रहता है।

शाङ्करभाष्यम्

केन मुच्यते? इत्याह–जुष्टः सेवितस्तेनेश्वरेण चित्सदानन्दाद्वितीय-ब्रह्मात्मनाऽहं ब्रह्माऽस्मीति समाधानं कृत्वेत्यर्थः। तेनेश्वरसेवनादमृतत्वमेति। यस्तु पूर्णानन्दब्रह्मरूपेणाऽऽत्मानमवगच्छति स मुच्यते। यस्तु परमात्मनोऽन्यमात्मानं जानाति स बध्यत इति।

तथा च बृहदारण्यके भेददर्शनस्य संसारहेतुत्वं प्रदर्शितम्–

"य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्यो-ऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" (बृह. उ. १। ४। १०) इति।

तथा च श्रीविष्णुधर्मे–

"पश्यत्यात्मानमन्यं तु यावद् वै परमात्मनः।
तावत् संभ्राम्यते जन्तुर्मोहितो निजकर्मणा॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु परं ब्रह्म प्रपश्यति।
अभेदेनाऽऽत्मनः शुद्धं शुद्धत्वादक्षयो भवेत्" इति॥ ६॥

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उठता है कि 'किस उपाय से जीव संसारचक्र से मुक्त होता है?' उसका उत्तर है–'जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति'।

जब परमात्मा जीव को स्वयं स्वीकार करता है, तब वह अमरभाव को प्राप्त करता है और यह समाधि द्वारा ही सम्भव होता है। जीवात्मा समाधि अवस्था में सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और उसी की कृपा से ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। तब वह यह अनुभूति करता है कि 'मैं ब्रह्म से अभिन्न, ब्रह्मस्वरूप ही हूँ।' इस प्रकार जीव ईश्वरोपासना से अमरभाव को प्राप्त करता है। जो परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार सच्चिदानन्दस्वरूप और अखण्डरूप में करता है और स्वयं को उससे अभिन्न समझता है वह मुक्त होता है। जो परमात्मा को स्वयं से पृथक् समझता है, वह संसार के बन्धन में पड़ता है। बृहदारण्यक उपनिषद् भी भेददृष्टि को संसार का कारण मानती है। वह कहती है-'य एवं वेद' (१।४।१०) इत्यादि। इसका आशय यह है कि जो यह समझता है कि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ,' वह स्वयं सर्वस्वरूप हो जाता है। देवगण भी उसकी ब्रह्मभावप्राप्ति में बाधक नहीं होते। क्योंकि परमात्मा स्वयं उनका आत्मा बन जाता है। परन्तु जो इस भेदभाव से देवता की उपासना करता है कि 'वह देवता भिन्न है और मैं उस देवता से भिन्न हूँ।' वह ब्रह्मस्वरूप को नहीं जानता। जिस प्रकार पशु होता है, उसी प्रकार वह देवताओं में पशु होता है। क्योंकि पशु का अर्थ है 'अज्ञानी।'

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण भी इसी प्रकार का वर्णन करता है-'पश्यत्यात्मानमन्यं तु' इत्यादि। अर्थात् जब तक जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा से स्वयं को पृथक् समझता है, तब तक वह अपने पाप-पुण्य कर्म से मोहित होकर, अज्ञान में पड़कर संसारचक्र में घुमाया जाता है। जब उसके समस्त कर्मफल क्षीण हो जाते हैं, तब अपने से अभिन्न रूप से शुद्ध निर्मल उपाधिरहित परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, जो अक्षय-अमर है। फलतः वह भी अक्षय-अमर हो जाता है।

[नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

इस प्रकार कठोपनिषद् (२।२३) और मुण्डकोपनिषद् (३।२।३) इसी का समर्थन करती है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से स्वयं कहते हैं-

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥"

(श्रीभगवद्गीता-१८।६२)]॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

अवतरणभाष्यम्-ननु 'तमेकनेमिमि'त्यादिना सप्रपञ्चं ब्रह्म प्रतिपादितम्। तथा च सत्यहं ब्रह्माऽस्मीति ब्रह्मात्मप्रतिपत्तावपि सप्रपञ्चस्यैव ब्रह्मण आत्मत्वेनाऽवगमात् "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति सप्रपञ्च-ब्रह्मप्राप्तिरेव स्यात्। ततश्च प्रपञ्चस्याऽपरित्यागान्न मोक्षसिद्धिः। ततश्च 'जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेती'ति मोक्षोपदेशोऽनुपपन्न एवेत्याशङ्क्याऽऽह-

तात्पर्यदीपिका

मन्त्रसन्दर्भ—अब यह प्रश्न उठता है कि 'तमेकनेमिम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा संसारसहित ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। ऐसी स्थिति में यद्यपि जीव 'मैं परब्रह्म हूँ' इस प्रकार की अनुभूति करेगा, तथापि वह अनुभूति प्रपञ्चसहित ब्रह्म से एकात्मकता की होगी। क्योंकि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' भगवद्गीता की इस उक्ति के अनुसार जो जिस प्रकार की उपासना करता है, वह तत्स्वरूप हो जाता है। फलतः संसार का त्याग उस जीव द्वारा सम्भव नहीं, अतः उसे मोक्षप्राप्ति नहीं होगी। उसके लिये 'जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति' इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति का उपदेश व्यर्थ ही है। इस प्रश्न का समाधान अग्रिम मन्त्र में है—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्राऽन्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥ ७॥

अन्वयः—एतत् परमं तु ब्रह्म उद्गीतम्, तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठा, अक्षरं च। ब्रह्मविदः अत्र अन्तरं विदित्वा ब्रह्मणि लीनाः तत्पराः योनिमुक्ताः॥ ७॥

मन्त्रार्थ—उपनिषदों में ब्रह्म का प्रतिपादन संसार से पृथक् किया गया है, जो सर्वोत्कृष्ट है। उसमें तीनों प्रतिष्ठित हैं और वह अविनश्वर है। ब्रह्मज्ञानी लोग इस अन्तर को समझकर परब्रह्म में लीन हो गए और समाधियोग से ब्रह्मचिन्तन करते हुए जन्म-जन्मान्तर में विविध योनियों के बन्धन में पड़ने से मुक्त हो गए॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

उद्गीतमिति। सप्रपञ्चं ब्रह्म यदि स्यात् ततो भवत्येव मोक्षाभावः। न त्वेतदस्ति। कस्मात्? यत उद्गीतमुद्धृत्य गीतमुपदिष्टं कार्यकारणलक्षणात् प्रपञ्चाद् वेदान्तैः। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (के. उ. १। ३)। "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के. उ. १। ४)। "अस्थूलम्" (बृ. उ. ३। ८। ८)। "अशब्दमस्पर्शं" (क. उ. १। ३। १५), "स एष नेति नेतीति।" "ततो यदुत्तरतरम्" (श्वेता. उ. ३। १०)। "अन्यत्र धर्मात्" (क. उ. १। २। १४)। "न सन्न चाऽसच्छिव एव केवलः" (श्वेता. उ. ४। १८)। "तमसः परः।" "यतो वाचो निवर्तन्ते।" (तै. उ. २। ४। १)। "यत्र नाऽन्यत्पश्यति नाऽन्यच्छृणोति नाऽन्यद्विजानाति स भूमा" (छा. उ. ७। २४। १)। "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं भयं जरामत्येति" (बृ. उ. ३। ५। १)। "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मु. उ. २। १। २)।

"एकमेवाऽद्वितीयम्" (छा. उ. ६।२।१)। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा. उ. ६।१।४)। "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (बृ. उ. ४।४।१६)। "एकधैवाऽनुद्रष्टव्यम्" (बृ. उ. ४।४।२०)। इत्येवमादिषु प्रपञ्चास्पृष्टमेव ब्रह्माऽवगम्यत इत्यर्थः।

यत एवं प्रपञ्चधर्मरहितं ब्रह्माऽत एव परमं तु ब्रह्म। तुशब्दोऽवधारणे। परममेवोत्कृष्टमेव, संसारधर्मानास्कन्दिततत्वात्, उद्गीतत्वेन ब्रह्मण उत्कृष्टत्वात्। "तं यथा यथोपासते" इति न्यायेनोत्कृष्टब्रह्मोपासनादुत्कृष्टमेव फलं मोक्षाख्यं भवत्येवेत्यभिप्रायः।

तात्पर्यदीपिका

उद्गीतमेतत्–यदि परब्रह्म परमात्मा सदा–सर्वदा प्रपञ्चमय, संसारमय होता, तो मोक्षप्राप्ति असंभव थी। परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। क्योंकि उपनिषद्ग्रन्थों में उसका वर्णन प्रपञ्च (संसार) से पृथक् करके किया गया है।

प्रपञ्च का लक्षण कार्यकारणस्वरूप है। परब्रह्म परमात्मा उससे रहित है। जैसा कि उपनिषद्ग्रन्थों के मंत्र उसका वर्णन करते हैं–

केन उपनिषद् कहती है–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (१।३)। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (१।४)। परब्रह्म परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञात संसार से भी ऊपर है और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिसे नहीं जाना जा सकता उस जीवात्माओं से भी ऊपर है। वाणी, मन, नेत्र, श्रोत्र, प्राण कोई भी वहां तक नहीं पहुँच सकता। उलटे वे परब्रह्म परमात्मा द्वारा ही संचालित होते हैं। वही परब्रह्म हैं। हम जिस प्रपञ्च की उपासना करते हैं, वह परब्रह्म परमात्मा नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है–'वह स्थूल नहीं है–'अस्थूलम्' (३।८।८)।

कठोपनिषद् कहती है–वह शब्दस्वरूप नहीं है, क्योंकि उसका श्रावण प्रत्यक्ष नहीं होता। वह स्पर्शरहित भी है, उसे कोई छू नहीं सकता–'अशब्दमस्पर्शम्' (१।३।१५)। इसी उपनिषद् में कहा गया है कि परब्रह्म परमात्मा न तो कारणस्वरूप है और न कार्यस्वरूप।–'स एष नेति, नेति'। वह उससे भी आगे है–'ततो यदुत्तरम्' (३।१०)। हम यह नहीं सह सकते कि उसकी सत्ता है और यह भी नहीं कह सकते कि उसकी सत्ता नहीं है। वह केवल शिवस्वरूप है–'न सन्न चाऽसत् शिव एव केवलः' (४।१८)।

कठोपनिषद् उसे धर्म से भी पृथक् कहती है–'अन्यत्र धर्मात्' (१।२)। तैत्तिरीय उपनिषद् उसे अन्धकार से भिन्न (प्रकाशस्वरूप) कहती है–'तमसः परः'। वाणी उसका साक्षात्कार करने में स्वयं को असमर्थ पाती है और मन के साथ वहाँ से लौट आती है–'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (२।४।१)।

छान्दोग्य उपनिषद् 'भूमा' नाम से परब्रह्म को सम्बोधित करती है–'यत्र नाऽन्यत् पश्यति, नाऽन्यत् शृणोति स भूमा' (७।२४।१) जो न अन्यत्र दृष्टिगोचर होता है और न शब्दगोचर होता है, वह भूमा है।

'योऽशनायाऽपिपासे शोकं मोहं भयं जरामत्येति' (बृ. उ. ३।५।१)–जो भूख, प्यास, शोक, मोह और वृद्धावस्था सभी का उल्लंघन करता है, अर्थात् इन सबसे मुक्त है।

मुण्डक उपनिषद् (२।१।२) के अनुसार तुरीय परब्रह्म अक्षर ब्रह्म से भी भिन्न और शुभ्र–निर्मल है, जिसे न तो प्राण है और न मन–'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः'।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'वह एकमात्र अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म है। उसके विभिन्न नाम वाणी का विलासमात्र है, वह उसकी विकृति है, प्रकृति नहीं।' 'एकमेवाऽद्वितीयम्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (६।२।१, ६।१।४)।

बृहदारण्यक उपनिषद् घोषणा करती है–'नेह नानास्ति किञ्चन' (४।४।१९)। इस ब्रह्माण्ड में परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। 'एकधैवाऽनुद्रष्टव्यम्' (४।४।२०)। 'उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार सर्वतोभावेन एक–अखण्ड स्वरूप में ही करना चाहिये।'

इन सभी उपनिषद्वाक्यों से परब्रह्म परमात्मा का जो साक्षात्कार किया जाता है, उसमें प्रपञ्च (संसार) का जरा भी स्पर्श नहीं है।

परमं तु ब्रह्म–क्योंकि परब्रह्म परमात्मा में वह कोई धर्म नहीं है, जो प्रपञ्च (संसार) में रहता है, अत एव वह परम–सर्वोत्कृष्ट है। यहां 'तु' अव्यय निश्चयार्थक है, जिसका तात्पर्य है वह उससे कम नहीं है। क्योंकि सांसारिक धर्मों का उसे जरा भी स्पर्श नहीं है। उपनिषदों में उसका गुणगान संसार से पृथक् करके किया गया है, अतः वह सर्वोत्कृष्ट है। 'जाकी रही भावना जैसी' इस न्याय के अनुसार उत्कृष्ट ब्रह्म की उपासना का फल उत्कृष्ट ही होता है और वह है मोक्ष, उससे भिन्न कुछ नहीं।

शाङ्करभाष्यम्

प्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्यम् आशंक्य तन्निरसनम्–नन्वेवं तर्हि ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसृष्टत्वे प्रपञ्चस्याऽपि ब्रह्मासंसर्गात्सांख्यवाद इव प्रपञ्चस्याऽपि पृथक्सिद्धत्वेन स्वतन्त्रत्वाद् ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'' (छा. उ. ६।१।१४) इति पारतन्त्र्याभ्युपगमेन मिथ्यात्वोपदेशपूर्वकमद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनोपदेशोऽनुपपन्नश्चेत्याशङ्क्याऽऽह–

'तस्मिंस्त्रयमि'ति। यद्यपि ब्रह्म प्रपञ्चासंस्पृष्टं स्वतन्त्रं च तथापि प्रपञ्चो न स्वतन्त्रः। अपि तु तस्मिन्नेव ब्रह्मणि त्रयं प्रतिष्ठितं 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारम्'

(१।१२) इति वक्ष्यमाणं भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणम्। "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" (१।९) इति वक्ष्यमाणं भोक्तृभोग्यार्थरूपं चाऽन्यद्वेदं श्रुतिसिद्धं विराट्सूत्राभ्यां कृतं नामरूपकर्मविश्वतैजसप्राज्ञजाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिरूपस्वरूपं प्रतिष्ठितं रज्ज्वामिव सर्पः। यत एतस्मिन् सर्वं भोक्त्रादिलक्षणं प्रपञ्चरूपं प्रतिष्ठितम्, अत एवाऽस्य भोक्त्रादित्रयात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्म सुप्रतिष्ठा शोभनप्रतिष्ठा। ब्रह्मणोऽन्यस्य चलनात्मकत्वाच्चल-प्रतिष्ठाऽन्यत्र। ब्रह्मणोऽचलत्वादत्राऽचलप्रतिष्ठा।

ब्रह्मणः प्रपञ्चाश्रयत्वेऽपि नित्यत्वसमर्थनम्–नन्वेवं तर्हि विकारभूत-प्रपञ्चाश्रयत्वेन परिणामित्वाद्दध्यादिवदनित्यं स्यादित्याशङ्क्याह–अक्षरं चेति। यद्यपि विकारः प्रपञ्चाश्रयस्तथाप्यक्षरं क्षरतीत्यक्षरम्। चशब्दोऽवधारणे, अविनाश्येव ब्रह्म, मायात्मकत्वाद्विकारस्य। विकाराश्रयत्वेऽप्यविनाश्येव कूटस्थं ब्रह्माऽवतिष्ठत इत्यभिप्रायः। मायात्मकत्वं च प्रपञ्चस्य पूर्वमेव प्रपञ्चितम्। तस्मात्सर्वात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्मकत्वेन ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसर्गात्पूर्णानन्दब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्षाख्यः परमपुरुषार्थो भवतीत्यर्थः।

तात्पर्यदीपिका

'तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठा'–ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि परब्रह्म परमात्मा प्रपञ्च से जरा भी सम्बद्ध नहीं है, तो इसका तात्पर्य यह भी होगा कि प्रपञ्च का भी उससे सम्बन्ध नहीं है, प्रकृति और पुरुष को पृथक् पृथक् मानना ही सांख्यदर्शन है। फिर प्रपञ्च का स्वतंत्र अस्तित्व मानना पड़ेगा। जब कि छान्दोग्य उपनिषद्–'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (६।१।४) इत्यादि मन्त्रों से प्रपञ्च को परब्रह्म के अधीन मानती है और उसके स्वतंत्र शाश्वत अस्तित्व को नकारते हुए उसकी सत्ता को ही मिथ्या (असत्य) घोषित करती है। साथ ही परब्रह्म परमात्मा का वर्णन अखण्ड-अद्वितीय रूप से होता है यह सब प्रतिपादन असंगत होगा। इस शंका का निरसन वेदमाता इस प्रकार करती है–'तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठा', उस परब्रह्म परमात्मा में तीनों लोक प्रतिष्ठित है। आचार्य शंकर इसकी भिन्न व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं–यद्यपि परब्रह्म परमात्मा प्रपञ्च से असम्बद्ध है, तथापि प्रपञ्च स्वतंत्र नहीं है, अपितु वह उसमें ही प्रतिष्ठित है। जैसा कि अग्रिम मंत्र है–'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' (१।१२)। प्रपञ्च के तीन स्वरूप हैं–भोक्ता, भोग्य और उसका प्रेरक (नियन्त्रक)। त्रिविध प्रपञ्च उस परब्रह्म-परमात्मा में ही प्रतिष्ठित है। 'अजा ह्येका भोक्तृ-भोग्यार्थयुक्ता' (१।९) इस अग्रिम मंत्र में परब्रह्म परमात्मा की अव्याकृत प्रकृति

(माया) को भोक्ता (जीव) के लिए भोग्यसम्पादन में नियुक्त स्वीकार किया गया है। वेदमाता कहती है कि निरुपाधिक परब्रह्म परमात्मा के सोपाधिक स्वरूप विराट् और सूत्रात्मा हैं, जिनके द्वारा नाम, रूप, कर्म, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि प्रपञ्च की रचना की जाती है, जो भ्रममात्र है। जिस प्रकार रस्सी को देखकर सांप का भ्रम होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में नाम-रूप आदि का भ्रम होता है। भोक्ता, भोग्य और उसका नियंत्रक-त्रिविध प्रपञ्च उस परब्रह्म परमात्मा में ही प्रतिष्ठित है। परब्रह्म प्रपञ्च का उत्तम आश्रयस्थान है। परब्रह्म अचल है और अन्य सब चल। अचल ब्रह्म में चल की प्रतिष्ठा युक्तिसंगत है।

'अक्षरं च'-पुनश्च यह आशङ्का उठती है, कि प्रपञ्च (संसार) परब्रह्म का उसी प्रकार विकार है, जिस प्रकार दही दूध का विकार है। सांख्यदर्शन परिणामवादी है, उसके अनुसार दूध ही दही में रूपान्तरित होता है। अतः परब्रह्म अनित्य है। इस शंका का समाधान 'अक्षरं च' कहकर वेदमाता कर रही है। यह सही है संसार का स्वरूप परब्रह्म का आश्रय लेकर ही बनता है, जो विकृतिस्वरूप है, तथापि परब्रह्म का क्षरण (नाश) नहीं होता, वह 'अक्षर' अविनश्वर है। प्रस्तुत मन्त्र में 'च' अव्यय का अर्थ समुच्चय नहीं, अपितु अवधारण है, उस परब्रह्म का कदापि क्षरण नहीं होता, वह अविनाशी ही है। क्योंकि विकृतिस्वरूप प्रपञ्च माया का विलास है। वेदान्तदर्शन विवर्तवादी है, उसके अनुसार प्रपञ्च वस्तुतः कुछ भी नहीं, अपितु आभासमात्र है। जिस प्रकार दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसका अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार संसार दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की तरह है, उसकी कोई सत्ता नहीं है, वह असत्य है। ब्रह्म कूटस्थ, तटस्थ अविनश्वर ही रहता है। मायामय संसार का पूर्व में ही विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया जा चुका है। अतः यद्यपि परब्रह्म परमात्मा में सभी कुछ अन्तर्भूत है, तथापि संसार मिथ्या होने के कारण और परब्रह्म का उसके साथ कोई सम्बन्ध न होने के कारण जो सम्पूर्ण अखण्ड-आनन्दमय परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है वह परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करता है।

शाङ्करभाष्यम्

पूर्णानन्दब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्षसिद्धिप्रकारः-**कथं तस्याऽऽत्मानं पश्यतो मोक्षसिद्धिरित्यत आह-अत्राऽस्मिन्नन्नमयाद्यानन्दमयान्ते देहे विराडाद्य-व्याकृतान्ते वा प्रपञ्चे पूर्वपूर्वोपाधिप्रविलयेनोत्तरोत्तरमप्यशनायाद्य-संस्पृष्टं वाचामगोचरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि विश्वाद्युपसंहारमुखेन लयं गता 'अहं ब्रह्मास्मी'ति ब्रह्मरूपेणैव स्थिता इत्यर्थः। तत्पराः समाधिपराः किं कुर्वन्ति? योनिमुक्ता भवन्ति गर्भजन्मजरामरणसंसारभयान्मुक्ता भवन्तीत्यर्थः।**

उक्तार्थे स्मृतिप्रमाणदर्शनम्–तथा च योगियाज्ञवल्क्यो ब्रह्मात्मनैवाऽवस्थितं समाधिं दर्शयति–

"यदर्थमिदमद्वैतं भारूपं सर्वकारणम्।
आनन्दममृतं नित्यं सर्वभूतेष्ववस्थितम्॥
तदेवाऽनन्यधीः प्राप्य परमात्मानमात्मना।
तस्मिन् प्रलीयते त्वात्मा समाधिः स उदाहृतः॥
इन्द्रियाणि वशीकृत्य यमादिगुणसंयुतः।
आत्ममध्ये मनः कुर्यादात्मानं परमात्मनि॥
परमात्मा स्वयं भूत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत् ततः।
तदा तु लीयते त्वात्मा प्रत्यगात्मन्यखण्डिते॥
प्रत्यगात्मा स एव स्यादित्युक्तं ब्रह्मवादिभिः॥" इति॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र के 'अत्रान्तरं ब्रह्मविदः' इत्यादि उत्तरार्द्ध में यह प्रतिपादित है कि ब्रह्मज्ञानी को मोक्षप्राप्ति किस उपाय से होती है।

ब्रह्मज्ञानी लोग पञ्चकोषमय शरीर के भीतर परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। क्योंकि वह जिस दिव्य ब्रह्मपुर में वास करता है, उसके पांच कोष हैं–अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अथवा यह सारा संसार विराट्पुरुष से लेकर अव्याकृत प्रकृति तक फैला हुआ है। उसमें वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। प्रथम ब्रह्मज्ञानी इसके अन्तर, पार्थक्य को समझते हैं। अनन्तर वे परब्रह्म परमात्मा में समाधियोग से चित्त को एकाग्र करते हैं। फिर विलयक्रम अर्थात् संहारक्रम से उत्तरोत्तर उपाधिका पूर्वपूर्व उपाधि में विलय करते हैं। क्योंकि जिस क्रम से सृष्टि होती है उसके विपरीत क्रम से षोडशकल परब्रह्म परमात्मा की उत्तरोत्तर प्रत्येक कला का पूर्व-पूर्व कला में विलय ही मुक्ति है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी भूख-प्यास इत्यादि प्रपञ्च से मुक्त होकर विशुद्ध वाणी द्वारा अगोचर परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। धीरे-धीरे वे उपसंहारक्रम से विश्व आदि को परब्रह्म में लीन करते हैं, उन्हें भूल जाते हैं और यह अनुभव करते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ। इस प्रकार वे कीटभ्रमर-न्याय से ब्रह्माकार हो जाते हैं। उसका फल यह होता है कि उन्हें देव, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, पशु, पक्षी आदि योनियों में अवतीर्ण नहीं होना पड़ता। गर्भ, जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु इत्यादि सांसारिक भयों से वे मुक्ति पाते हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कार करने वालों में अग्रगण्य योगिराज याज्ञवल्क्य मुनि उसी समाधि-लक्षण का चित्रण करते हैं, जिसमें जीवात्मा और परब्रह्म परमात्मा का एकात्मभाव प्रदर्शित किया गया है।

'यदर्थमिदमद्वैतम्'—वह परब्रह्म परमात्मा प्रकाशस्वरूप आनन्दस्वरूप, अमृत, नित्य, अद्वितीय-अखण्ड है, तथा सभी प्राणियों के अन्तर में विराजमान है और सभी का मूल कारण है। जिसकी बुद्धि अन्यत्र नहीं रहती, केवल परमात्मा में ही लगी रहती है, वह पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार आत्मस्वरूप में करता है और उसी में विलय प्राप्त करता है। जीवात्मा का परब्रह्म परमात्मा में तदाकार होते हुए विलय ही समाधि है।

'इन्द्रियाणि वशीकृत्य'—प्राणी को चाहिये कि वह प्रथम इन्द्रियों को वश में करे और यम-नियम आदि गुणों से सम्पन्न होकर मन को अपनी आत्मा से संयुक्त करे और आत्मा को परमात्मा से जोड़े।

'परमात्मा सर्वं भूत्वा'—जब प्राणी परमात्मस्वरूप हो, तब अन्य कुछ भी चिन्तन न करे, तब वह चित्त को अखण्ड प्रत्यगात्मा में विलीन करे। ब्रह्मवादी उसी को प्रत्यगात्मा कहते हैं॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

***अवतरणभाष्यम्*—नन्वद्वितीये परमात्मन्यभ्युपगम्यमाने जीवेश्वरयोरपि विभागाभावा'ल्लीना ब्रह्मणी'ति जीवानां ब्रह्मैकत्वपरा लयश्रुतिरनुपपन्नैवेत्याशङ्क्य व्यवहारावस्थायां जीवेश्वरयोरुपाधितो विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति—**

तात्पर्यदीपिका

अवतरण—अब यह प्रश्न उठता है कि जब परब्रह्म परमात्मा का अखण्ड अद्वितीय रूप से ज्ञान होता है, तब जीव और ईश्वर में भी अन्तर नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में **'लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः'** इत्यादि उस वेदमंत्र का चरण असंगत होगा, जिसमें जीवात्मा का परमात्मा में विलय प्रदर्शित किया गया है।

इसका समाधान यह है कि व्यावहारिक अवस्था में जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। यह भेद उपाधिकृत है, पारमार्थिक स्थिति में दोनों एक अखण्ड हैं। पुनश्च जब जीवात्मा को परमात्मा का विशिष्ट ज्ञान होता है, तभी अमृतत्व प्राप्ति होती है। यही विषय अग्रिम मंत्र में निरूपित है—

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चाऽऽत्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ ८॥

अन्वयः—एतत् क्षरम् अक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं संयुक्तम्। ईशः विश्वं भरते। भोक्तृभावात् अनीशः च आत्मा बध्यते, देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते॥ ८॥

मन्त्रार्थ–सम्पूर्ण स्थावर जड़ जगत् क्षरणशील–विनश्वर है और प्रकृति अक्षर–क्षरणरहित अविनाशी है। स्थावर जड–जगत् व्यक्त है और जङ्गम चेतन अव्यक्त है। दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। परमात्मा समस्त विश्व का भरण–पोषण करता है। जीवात्मा जबतक विषयोपभोग करता है, तबतक उसमें भोक्ता का भाव रहता है। इसीलिए वह परतन्त्र-माया के अधीन रहता है और बन्धन में पड़ा रहता है। जब जीवात्मा द्युतिशील प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का सर्वतोभावेन ज्ञान प्राप्त करता है, सभी पाशों से बन्धनमुक्त हो जाता है॥ ८॥

शाङ्करभाष्यम्

संयुक्तमेतदिति। व्यक्तं विकारजातमव्यक्तं कारणं तदुभयं क्षरमक्षरं च, व्यक्तं क्षरं विनाश्यव्यक्तमक्षरमविनाशि, तदुभयं परस्परसंयुक्तं कार्यकारणात्मकं विश्वं भरते बिभर्तीश ईश्वरः। तथा चाऽऽह भगवान्–

"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥"

(गीता १५। १६, १७) इति।

न केवलमीश्वरो व्यक्ताव्यक्तं भरतेऽनीशश्चाऽनीश्वरश्च स आत्माऽविद्या-तत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभिर्बध्यते भोक्तृभावात्। एतदुक्तं भवति–परस्पर-संयुक्त व्यष्टिसमष्टिरूप ईश्वरः। तद्वद्व्यष्टिभूतदेहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः। एवं समष्टिव्यष्ट्यात्मकत्वेन जीवपरयोरौपाधिकस्य भेदस्य विद्यमानत्वात्तदु-पाध्युपासनद्वारेण निरुपाधिकमीश्वरं ज्ञात्वा मुच्यत इति भोक्त्रात्मैक्यवादे नाऽनुपपन्नं किञ्चिद् विद्यत इति।

तात्पर्यदीपिका

संयुक्तमेतत्–जड़ और चेतन दोनों परस्पर मिलकर सम्पूर्ण विश्व का स्वरूप है। इसमें जड जगत् परब्रह्म का विकारस्वरूप व्यक्त और क्षरणशील है। चेतन जीवात्मा अव्यक्त कारणस्वरूप अक्षर अविनश्वर है। परब्रह्म परमात्मा कार्यकारणस्वरूप स्थावर-जंगमात्मक इस विश्व का भरण–पोषण करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से इसका समर्थन इस प्रकार करते हैं–

'क्षरः सर्वाणि भूतानि'–सम्पूर्ण प्राणिमात्र 'क्षर' क्षरणशील विनाशयुक्त है। क्योंकि ये उसके प्रकृतिजन्य विकार हैं। जब कि उसकी कूटस्थ प्रकृति अक्षर अविनश्वर कही जाती है। पुरुषोत्तम इन दोनों से भिन्न हैं, जिसे परब्रह्म परमात्मा कहते हैं। जो परमात्मा स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोकों में कण–कण में व्याप्त है। वह अव्यक्त अविनश्वर है और समस्त विश्व का भरण–पोषण करता है (गीता १५।१६–१७)।

साथ ही वह न केवल व्यक्त-अव्यक्त संसार का भरण-पोषण करता है, अपितु परतन्त्र हो जाता है। उसका कारण अविद्या है और उसके कार्य देह, इन्द्रिय आदि हैं। जब वह देहादि का आश्रय लेकर विषयों में आसक्त होता है, तब उसमें भोक्ता का भाव आ जाता है, जिसके कारण वह प्रपंच में बंध जाता है, इसी से वह 'अनीश' परतन्त्र हो जाता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–ईश्वर (परमात्मा) व्यष्टि और समष्टि का संयुक्त स्वरूप है। उसका व्यष्टिस्वरूप है देह और इन्द्रियों के रूप में अवतीर्ण उसकी माया के अधीन जीवात्मा। समष्टिस्वरूप परमात्मा और व्यष्टिस्वरूप जीवात्मा का यह भेद 'औपाधिक' अर्थात् उसकी उपाधि मायामयी प्रकृति द्वारा उत्पादित है। अतः ईश्वरप्राप्ति के लिये उसकी उपाधिजन्य उपासना आवश्यक है। उसके द्वारा ही उपाधिरहित निर्मल विशुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार जब यह ज्ञान होता है कि सोपाधिक ईश्वर भोक्ता है और देहेन्द्रियादि में आसक्त जीव उसका भोग्य, वस्तुतः दोनों अभिन्न अखण्ड हैं, तब कोई भी असंगति प्रतीति नहीं होती।

शाङ्करभाष्यम्

भेदस्यौपाधिकत्वम्–तथा चौपाधिकमेव भेदं दर्शयति भगवान् याज्ञवल्क्यः–

"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।
तथाऽऽत्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांऽशुमान्॥"

(याज्ञ. ३।१४४)

तथा च श्रीविष्णुधर्मे–

"परात्मनोर्मनुष्येन्द्र! विभागोऽज्ञानकल्पितः।
क्षये तस्याऽऽत्मपरयोर्विभागाभाव एव हि॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयं संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव विगतः शुद्धः परमात्मा निगद्यते॥
अनादिसंबन्धवत्या क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया।
युक्तः पश्यति भेदेन ब्रह्म त्वात्मनि संस्थितम्॥"

तथा च श्रीविष्णुपुराणे–

"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति?॥"

(६।७।१६)

तथा च वासिष्ठे योगशास्त्रे प्रश्नपूर्वकं दर्शितम्–

"यद्यात्मा निर्गुणः शुद्धः सदानन्दोऽजरोऽमरः।
संसृतिः कस्य तात! स्यान्मोक्षो वा विद्यया विभो!॥

क्षेत्रनाशः कथं तस्य ज्ञायते भगवन्! यतः।
यथावत् सर्वमेतन्मे वक्तुमर्हसि साम्प्रतम्॥''

वसिष्ठः—

''तस्यैव नित्यशुद्धस्य सदानन्दमयात्मनः।
अवच्छिन्नस्य जीवस्य संसृतिः कीर्त्यते बुधैः॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
भ्रान्त्याऽऽरूढः स एवाऽऽत्मा जीवसंज्ञः सदा भवेत्॥''

तात्पर्यदीपिका

उपाधिजन्य भेद—स्मृतिकार भगवान् याज्ञवल्क्य इसी उपाधिजन्य भेद को इस प्रकार प्रदर्शित कर रहे हैं—

आकाशमेकं हि यथा—[परमात्मा वस्तुतः एक है, वह निर्गुण निराकार है, किन्तु स्वेच्छा से आकार ग्रहण करता है, यह भेद उसका मायाविलास है। इसके दो उदाहरण भगवान् याज्ञवल्क्य प्रदर्शित कर रहे हैं—] उसका निर्गुण-निराकार रूप उसी प्रकार है, जिस प्रकार आकाश। जिस प्रकार आकाश एक होने पर भी घट मठ इत्यादि आश्रय भेद से भिन्न भिन्न दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार परमात्मा ईश्वर और जीव यद्यपि अभिन्न एक ही हैं, तथापि देहादि का आश्रय लेकर जीव परमात्मा से भिन्न-भिन्न, अनेक प्रतीत होता है।

परमात्मा का सगुण साकार स्वरूप उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य और उसके विभिन्न प्रतिबिम्ब। जिस प्रकार सूर्य, नदी, समुद्र, कूप आदि विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी विभिन्न देहों का आश्रय लेकर विभिन्न जीवात्माओं के रूप में अनेक प्रतीत होता है। अथवा उसके अनेक अवतार देखकर हम यह समझते हैं कि राम, कृष्ण, शिव, पार्वती, गणेश आदि अनेक देवता हैं, यद्यपि निर्गुण-निराकार केवल सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अखण्ड एक ही है। उसके अनेक भेद माया का विलास है। (याज्ञ. ३।१४४)

श्रीविष्णुधर्मोत्तमपुराण में परब्रह्म परमात्मा का मायाजन्य भेद इस प्रकार प्रदर्शित है—

परात्मनोर्मनुष्येन्द्र!—परमात्मा इन्द्र के रूप में अवतीर्ण होता है और जीवात्मा मनुष्य के रूप में। वस्तुतः यह भेद अज्ञान अथवा माया के द्वारा कल्पित है। क्योंकि अज्ञान का नाश होने पर जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है।

आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयम्—क्योंकि जबतक वह प्रकृतिजन्य सात्विक, राजस और तामस गुणों से सम्पन्न होता है, तबतक वह जीवात्मा 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। और जब उन गुणों से मुक्त शुद्ध-निर्मलस्वरूप होता है, तब वह परमात्मा कहलाता है।

अनादिसम्बन्धवत्या–वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा अनादिकाल से अविद्या (अज्ञान) से सम्बन्ध रखता आ रहा है और इसी कारण से स्वयं के अन्तःकरण में वास करने वाले चित्शक्तिसम्पन्न परमात्मा को वह भेदभाव से देखता है, अपने से भिन्न समझता है।

विष्णुपुराण (३।७६६)। कहता है–

विभेदजनकेऽज्ञाने–जब भेद को उत्पन्न करने वाला अज्ञान जड से नष्ट होगा, तब कौन भला जीवात्मा और परमात्मा में न रहने वाले भासमान भेद को करेगा?

योगवासिष्ठ भगवान् वसिष्ठ द्वारा प्रदर्शित वह योगदर्शन है, जिसमें भगवान् रामचन्द्र जी द्वारा की गयी ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान प्रश्नोत्तरपद्धति से इस प्रकार किया गया है। भगवान् रामचन्द्र जी महर्षि वसिष्ठ से प्रश्न करते हैं–

यद्यात्मा निर्गुणः शुद्धः–प्रभो! यदि परब्रह्म-परमात्मा निर्गुण निर्मल, नित्य, आनन्दस्वरूप, जरा और मरण से रहित है, तो कौन संसार के बन्धन में पड़ता है और विद्या (ज्ञान) के द्वारा किस का मोक्ष होता है?

क्षेत्रनाशः कथं तस्य–'भगवन्! देहान्त होने पर प्राणप्रयाण के समय जीवात्मा का क्षेत्रनाश अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि का जो अभिमान छूटता है। हम उसको किस प्रकार जान सकते हैं? इस समय आप ही इन समस्त प्रश्नों का निराकरण कर सकते हैं।'

इसका समाधान करते हुए महर्षि वसिष्ठ रामचन्द्र से कहते हैं–

तस्यैव नित्यशुद्धस्य–वह नित्य शुद्ध, सत्स्वरूप और आनन्दस्वरूप परमात्मा जीवभाव से व्याप्त होता है, तब उसे संसार में आना पड़ता है।

एक एव हि भूतात्मा–वह परब्रह्म परमात्मा एक है, तथापि प्रत्येक जीवात्मा में अवस्थित है। अतः वह एक होने पर भी उसी प्रकार अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है, जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्बित होने पर अनेक दृष्टिगोचर होता है। जब चित्शक्तिस्वरूप परमात्मा भ्रम में पड़ता है, अविद्या अथवा अज्ञान के अधीन-परतन्त्र होता है, तब सर्वदा उसे जीवात्मा कहा जाता है।

शाङ्करभाष्यम्

परस्यैवोपाधिकजीवादिभेदो बन्धमुक्त्यादिव्यवस्था च–तथा च ब्राह्मे पुराणे परस्यैवौपाधिकं जीवादिभेदं दर्शयति–कथं तर्ह्यौपाधिकभेदेन बन्धमुक्त्यादिव्यवस्था? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तपूर्वकं व्यवस्थां दर्शयति–

"एकस्तु सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते।
आभाति परमात्मा च सर्वोपाधिषु संस्थितः॥
ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाऽभ्यन्तरे स्थितम्।
आकाशमिव भूतेषु बुद्धावात्मा न चाऽन्यथा॥

एवं सति यथा बुद्ध्या देहोऽहमिति मन्यते।
अनात्मन्यात्मताभ्रान्त्या सा स्यात् संसारबन्धिनी॥
सर्वैर्विकल्पैर्हीनस्तु शुद्धो बुद्धोऽजरोऽमरः।
प्रशान्तो व्योमवद्व्यापी चैतन्यात्मासकृत्प्रभः॥
धूमाभ्रधूलिभिर्व्योम यथा न मलिनायते।
प्राकृतैरपरामृष्टो विकारैः पुरुषस्तथा॥
यथैकस्मिन् घटाकाशे जलैर्धूमादिभिर्युते।
नाऽन्ये मलिनतां यान्ति दूरस्थाः कुत्रचित् क्वचित्॥
तथा द्वन्द्वैरनेकैस्तु जीवे च मलिनीकृते।
एकस्मिन्नाऽपरे जीवा मलिनाः सन्ति कुत्रचित्॥''

तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः–

''यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥''

(माण्डू. का. ३। ५) इति।

तात्पर्यदीपिका

उपाधिकृत भेद से जीव का बन्ध और मोक्ष–ब्रह्मपुराण में भी दृष्टान्त के माध्यम से यह प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार परब्रह्म परमात्मा की उपाधि माया के कारण उसके जीव आदि जो भेद हैं, वे संसार के बन्धन में किस प्रकार पड़ते हैं और उनको मुक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है?

एकस्तु सूर्यो बहुधा–[परब्रह्म परमात्मा का सगुण और साकार प्रत्यक्ष स्वरूप] सूर्य एक है, वह जिस प्रकार नदी-कूप-समुद्र आदि विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है; उसी प्रकार परमात्मा अखण्ड-अभिन्न-अद्वितीय-एक होने पर भी उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है। परब्रह्म परमात्मा चित्-स्वरूप अव्यक्त एक है, वह समस्त शरीरों का आश्रय लेकर बाहर और उनके अन्तःकरण में विभिन्न जीवात्माओं के रूप में अवस्थित रहता है।

[इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का उपाधिकृत भेद प्रदर्शित किया गया है। जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा का ही अंश है। वह किस प्रकार संसार के बन्धन में पड़ता है? इसका समाधान अग्रिम पद्य में है–]

आकाशमिव भूतेषु–[पृथ्वी-जल-तेज-वायु और आकाश ये पञ्च महाभूत परब्रह्म परमात्मा के ही प्रत्यक्ष विग्रह हैं। उसी प्रकार बुद्धि, देह आदि भी परमात्मा के ही विभिन्न रूप हैं।] तथापि पञ्चभूतों में अन्यतम अव्यक्त एक आकाश जिसप्रकार अन्य भूतों में व्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार विभिन्न बुद्धियों में एक ही परमात्मा व्याप्त

होकर रहता है। जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है, और वह अन्य किसी भी प्रकार वहां नहीं रहता। ऐसी स्थिति में जब बुद्धि शरीर को आत्मा समझने लगती है और जब यह अनुभव करती है कि 'मैं देह हूँ', तब यह बुद्धि ही परमात्मा के अंशस्वरूप जीवात्मा को संसार के बन्धन में डालती है, और आत्मा से भिन्न देह को भ्रमवश आत्मा मान लेना उसका कारण होता है।

[प्राणी जीवन्मुक्त किस प्रकार होता है और वह संसार के बन्धन में पड़ने वाले जीव से किस प्रकार अलग रहता है इसका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन अग्रिम पद्यों में है–]

सर्वैर्विकल्पैर्हीनस्तु–वस्तुतः जीवात्मा चित्स्वरूप परमात्मा का अंश और नित्य प्रकाशमय है। उसमें जब किसी प्रकार के विकल्प नहीं रह जाते, तब उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। अज्ञानमल हटने के कारण वह प्रबुद्ध ज्ञानस्वरूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह जरा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है। उसका स्वभाव अत्यन्त शान्त हो जाता है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार वह सर्वत्र व्याप्त–विकसित हो जाता है।

धूमाभ्रधूलिभिर्व्योम–जिस प्रकार आकाश धूम, मेघ और धूलिकणों से मलिन नहीं होता, उसी प्रकार पुरुष (परब्रह्म परमात्मा) प्रकृति (माया) के विकारों से सम्बद्ध प्रभावित नहीं होता।

यथैकस्मिन् घटाकाशे–अनेक घट एक जगह हों और उनमें एक घट में जल और धूआं आदि भर गया हो, तो उस घट में रहने वाला आकाश (स्पेस) भले ही उससे मलिन हो। तथापि अन्य घटों में अवस्थित आकाश (स्पेस) जिस प्रकार उससे जरा भी प्रभावित नहीं होते। उसी प्रकार एक जीवात्मा भले ही सुख–दुःख, राग–द्वेष आदि विभिन्न द्वंद्वों से प्रभावित हो तथापि अन्य जीवों पर उसका जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता।

श्रीशुकाचार्य के शिष्य गौडपादाचार्य भी अपनी माण्डूक्यकारिका (३। ५) में इसी प्रकार इसका समर्थन करते हैं–

यथैकस्मिन् घटाकाशे–जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि–धूम आदि से प्रभावित होने पर भी उसका प्रभाव अन्य घटों में अवस्थित आकाशों (स्पेस) पर नहीं पड़ता; उसी प्रकार एक जीव के सुख–दुःखादि द्वंद्व से प्रभावित होने पर भी उसका प्रभाव अन्य जीवों पर नहीं पड़ता।

शाङ्करभाष्यम्

जीवगतदुःखसुखादेरीश्वरेऽप्राप्तिः–तस्माददि्वतीये परमात्मन्युपाधितो जीवेश्वरयोर्जीवानां च भेदव्यवस्थायाः सिद्धत्वान्न विशुद्धसत्त्वोपाधेरीश्वरस्याऽविशुद्धोपाधिजीवगताः सुखदुःखमोहाज्ञानादयः। तथा च भगवान् पराशरः–

"ज्ञानात्मकस्याऽमलसत्त्वराशेरपेतदोषस्य सदा स्फुटस्य।
किं वा जगत्यस्ति समस्तपुंसामज्ञातमस्याऽस्ति हृदि स्थितस्य॥"

(विष्णुपु. ५।१७।३२) इति!

जीवस्य जीवान्तरसुखदुःखादिना सम्पर्काभावः—नाऽपि जीवान्तरगतसुख-दुःखमोहादिना जीवान्तरस्य बद्धस्य मुक्तस्य वा संबन्धः, उपाधितो व्यवस्थायाः संभवात्। अत एकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति भवदुक्तस्य चोद्य-स्याऽनवकाशः॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

दुःख आदि का ईश्वर से सम्बन्ध नहीं—इस प्रकार यह सिद्ध है कि वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा उपाधिरहित-अखण्ड-अद्वितीय एक है। उपाधि के कारण ही जीव और ईश्वर का तथा विभिन्न जीवों का परस्पर भेद है। जीव माया की उपाधि से ग्रस्त एवं त्रस्त होता है। उसमें सात्विक, राजस और तामस विकार रहते हैं, अत एव सुख, दुःख, मोह, अज्ञान आदि दोष भी रहते हैं, अत एव वह अशुद्ध रहता है, जब कि ईश्वर में मात्र विशुद्ध सात्विक उपाधि रहती है, अन्य दोष नहीं। विष्णुपुराण (५।१७।३२) में भगवान् पराशर इसी प्रकार वर्णन करते हैं—

"ज्ञानात्मकस्याऽमलसत्त्वराशेः"—प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में ईश्वर वास करता है, जो मात्र ज्ञानस्वरूप अज्ञानमलरहित सत्वपुञ्ज, दोषरहित और नित्य प्रकाशमान है। जिस जीव को इसका ज्ञान होता है, उसे भला ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका ज्ञान नहीं होता? अन्तःकरण में अवस्थित प्रकाशमय चित्स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करने पर जीव को समस्त संसार का ज्ञान हो जाता है। साथ ही एक जीव में रहने वाले सुख-दुःख-मोह आदि का प्रभाव भी अन्य जीव पर नहीं पड़ता, चाहे वह जीव सांसारिक बन्धन में पड़ा हुआ हो, अथवा उन बन्धनों से मुक्त हो। अत एव जो यह शंका करते हैं कि एक जीव के मुक्त होने पर अन्य जीव मुक्त होने लगेंगे, उन्हें इस प्रकार की शंका का अवसर ही प्राप्त नहीं होगा। [क्योंकि यह सारी की सारी भेदव्यवस्था निरुपाधिक ब्रह्म की उपाधि माया पर आश्रित है। परमार्थदृष्टि से निरुपाधिक ब्रह्म, प्रपञ्च, ईश्वर, जीव सब कुछ अखण्ड अद्वितीय अभिन्न एक है।]॥ ८॥

अवतरणभाष्यम्—किञ्चेदमपरं वैलक्षण्यमित्याह—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चाऽऽत्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण–ईश्वर और जीव की अन्य विलक्षणता इस मंत्र में वर्णित है।

अन्वय–द्वौ ज्ञाज्ञौ अजौ ईशनीशौ; हि एका अजा भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता; हि आत्मा च विश्वरूपः अनन्तः अकर्ता; यदा त्रयं विन्दते (तदा) ब्रह्मम् एतत्॥ ९॥

मन्त्रार्थ–जीव और ईश्वर दोनों में यह समानता है कि दोनों का जन्म नहीं होता, वे अजन्मा है। किन्तु उनमें यह अन्तर है कि ईश्वर सर्वज्ञ और जीव अज्ञ है। ईश्वर सर्वसमर्थ स्वतन्त्र है, तो जीव असमर्थ परतन्त्र है। उस ईश्वर की एकमात्र उपाधि माया अथवा प्रकृति है, जो अजन्मा है, और जिसे ईश्वर ने इसीलिए नियुक्त किया है कि जो जीव विषयोपभोग करता है, उस भोक्ता जीव के लिये वह भोग्य सामग्री का सम्पादन करे।

चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा अन्तरहित और विश्वस्वरूप है, वह कर्तृत्वसम्पन्न नहीं होता। जब जीव ईश्वर, जीव और प्रकृति इस अन्तर को समझ जाता है, तब स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्

ज्ञाज्ञौ द्वाविति। न केवलं व्यक्ताव्यक्तं भरत ईशो नाप्यनीशः संबध्यते जीवः; अपि तु ज्ञाज्ञौ द्वौ ज्ञ ईश्वरोऽज्ञो जीवस्तावजौ जन्मादिरहितौ। ब्रह्मण एवाऽविकृतस्य जीवेश्वरात्मनाऽवस्थानात्। तथा च श्रुतिः–

"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥"

(बृ. उ. २।५।१८) इति।

"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (कठ. उ. २।२।९) इति च। ईशनीशौ, छान्दसं ह्रस्वत्वम्।

तात्पर्यदीपिका

ईश्वर केवल व्यक्त और अव्यक्त जगत् का पालन पोषण नहीं करता और जीव भी केवल माया के अधीन होकर संसार के बन्धन में नहीं पड़ता; अपितु दोनों में अन्य विलक्षणताएँ भी हैं–

ज्ञाज्ञौ द्वौ–ईश्वर और जीव दोनों यथाक्रम सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हैं।

अजौ–वे दोनों जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि विकारों से मुक्त हैं। क्योंकि विकाररहित ब्रह्म के ही दो रूप हैं–जीव और ईश्वर। इसके समर्थन में अन्य उपनिषद् मन्त्र भी प्रमाण है–

'पुरश्चक्रे द्विपदः' (बृ. उ.२।५।१८)–परब्रह्म-परमात्मा ने कई प्रकार के पुरों (शरीरों) का निर्माण किया–(१) द्विपद = दो पैरों वाला मनुष्य, (२) चतुष्पद = चार पैरों वाला पशु और (३) आकाशविहारी पक्षी। (इसी प्रकार जलचर-स्थलचर आदि

अन्य शरीरों की भी रचना की।) अनन्तर उसने जीवात्मा बन कर उनके अन्तःकरण में प्रवेश किया।

'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा'—(कठ. उ.२।२।९) परब्रह्म-परमात्मा अखण्ड-अद्वितीय एक है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में प्रकाशमान है। किन्तु जैसा शरीर होता है, तदनुरूप वह अपने को ढाल लेता है और प्रत्येक अन्तःकरण में अवस्थित है। साथ ही वह उनके बाहर भी चित्शक्ति के रूप में अवस्थित है।

ईशनीशौ—परब्रह्म परमात्मा सबका नियन्ता होने के कारण सर्वसमर्थ है। जीव माया के अधीन होने के कारण असमर्थ है। 'ईश-नीशौ' इस प्रयोग में 'ईश+अनीशौ = ईशानीशौ' इस प्रकार लौकिक संस्कृत में दीर्घ सन्धि होती है। किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में 'ईशा' के स्थान पर 'ईश' इस प्रकार ह्रस्व अकार का प्रयोग वैदिक है।

शाङ्करभाष्यम्

जीवेश्वरयोर्वैलक्षण्याभावशङ्कनम्—नन्वद्वैतवादिनो यदि भोक्तृभोग्य-लक्षणप्रपञ्चसिद्धिः स्यात्तदा सर्वेशः परमेश्वरः, अनीशो जीवः, सर्वज्ञः परमेश्वरः, असर्वज्ञो जीवः, सर्वकृत् परमेश्वरः, असर्वकृज्जीवः, सर्वभृत् परमेश्वरः, देहादिभृज्जीवः, सर्वात्मा परमेश्वरः, असर्वात्मा जीवः, विश्वैश्वर्य आप्तकामः परमेश्वरः, अल्पैश्वर्योऽनाप्तकामो जीवः, "सर्वतः पाणि०" (श्वेता उ. ३।१६), "सहस्त्रशीर्षा" (श्वेता. उ. ३।१४), "नित्यो नित्यानाम्" (श्वेता. उ. ६।१३) इत्यादिना जीवेश्वरयोर्विलक्षणव्यवहारसिद्धिः स्यात्। न तु भोक्त्रादिप्रपञ्चसिद्धिरस्ति, स्वतः कूटस्थापरिणाम्यद्वितीयस्य वस्तुनो-ऽभोक्त्रादिरूपत्वात्। नाऽपि परतो, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य भोक्त्रादिप्रपञ्चहेतु-भूतस्य वस्त्वन्तरस्याऽभावात्। वस्त्वन्तरसद्भावेऽद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—'अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ते'ति।

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उठता है कि अद्वैतवादियों के मत में जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न और एक दूसरे से विलक्षण किस प्रकार हो सकते हैं? जब तक वह विलक्षणता सिद्ध नहीं होती, तब तक प्रपञ्च (संसार) की सिद्धि भी नहीं होगी। क्योंकि प्रपञ्च की परिभाषा ही है—भोक्ता और भोग्यसामग्री। अद्वैतवादियों के मत में जीव और ईश्वर की विशेषताएं इस प्रकार है—परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण चराचर विश्व का स्वामी है और जीव स्वामी नहीं अपितु उसका सेवक है, क्योंकि वह परतन्त्र है। परमेश्वर सब कुछ करता है, जीव कुछ भी नहीं कर सकता। परमेश्वर सब का भरण-पोषण करता है, जब कि जीव मात्र शरीर आदि का ही भरण-पोषण करता है। परमेश्वर सब शरीरधारियों एवं सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है, किन्तु जीव सबकी आत्मा नहीं है। ईश्वर परमैश्वर्यसम्पन्न है, और वह

जो चाहता है, उसे प्राप्त होता है। किन्तु जीव अल्प ऐश्वर्यसम्पन्न है, अतः वह जो चाहता है, वह सब उसे प्राप्त नहीं होता। इसी उपनिषद् के 'सर्वतः पाणिपादं तत्' (३।१६), 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः' (३।१४) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (६।१३) इत्यादि मन्त्रों द्वारा यद्यपि जीव और ईश्वर की भेदव्यवस्था सिद्ध की गयी है, उससे भोक्ता आदि प्रपञ्च की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा स्वयं कूटस्थ परिणामरहित और अद्वितीय है। वह स्वयं वस्तु का भोक्ता नहीं बन सकता, विषयोपभोग नहीं कर सकता। साथ ही भोक्ता के रूप में किसी दूसरे की भी कल्पना असम्भव है। क्योंकि परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं है, जो प्रपञ्च का कारण हो और भोक्ता आदि हो। ऐसा मानने पर अद्वैत की हानि होगी।

इस प्रश्न का उत्तर है-'अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।' परब्रह्म-परमात्मा में अद्वितीय चित्शक्ति वास करती है, वह जन्म नहीं लेती, परब्रह्म-परमात्मा वहां से अभिन्न है। जब परमात्मा जीवात्मा के रूप में किसी शरीर में प्रवेश करता है, तब यह चित्शक्ति ही उस जीवात्मा के लिए भोग्य-सामग्री उपस्थित करती है, जो भोक्ता है और वह इसीलिए अधिकृत है।

शाङ्करभाष्यम्

मायया वैलक्षण्यसाधनम्-भवेदयमीश्वराद्यविभागः यदि प्रपञ्चासिद्धिरेव स्यात्। सिध्यत्येव प्रपञ्चः। हि यस्मादर्थे। यस्मादजा प्रकृतिर्न जायत इत्यजा सिद्धा प्रसवधर्मिणी। ''अजामेकाम्'' (श्वेता. उ. ४।५), ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'' (श्वेता. उ. ४।१०), ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृ. उ. २।५।१९) ''माया परा प्रकृतिः'', ''संभवाम्यात्ममायया'' (गीता ४।६), इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धा विश्वजननी देवात्मशक्तिरूपैका स्वविकार-भूतभोक्तृभोगभोग्यार्थप्रयुक्तेश्वरनिकटवर्तिनी किंकुर्वाणाऽवतिष्ठते। तस्मात् सोऽपि मायी परमेश्वरो मायोपाधिसंनिधेस्तद्वानिव कार्यभूतैर्देहादिभिस्तद्वदेव विभक्तैर्वा विभक्त ईश्वरादिरूपेणाऽवतिष्ठते। तस्मादेकस्मिन्नेकरसे परमात्म-न्यभ्युपगम्यमानेऽपि जीवेश्वरादिसर्वलौकिकवैदिकसर्वभेदव्यवहारसिद्धिः। न च तयोर्वस्त्वन्तरस्य सद्भावाद् द्वैतवादप्रसक्तिः, मायाया अनिर्वाच्यत्वेन वस्तुत्वायोगात्। तथाऽऽह-''एषा हि भगवन्माया सदसद्व्यक्तिवर्जिता'' इति।

तात्पर्यदीपिका

उक्त द्वितीय चरण की व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि अगर प्रपञ्च का अस्तित्व सिद्ध न होता, तो ईश्वर, जीव-भोक्ता-भोग्य आदि के विभाग की आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु प्रपञ्च का अस्तित्व तो सिद्ध ही है। 'अजा ह्येका' इस मन्त्र में 'हि' का प्रयोग 'यतः' (चूंकि) इस अर्थ में किया गया है। क्योंकि प्रकृति

(माया) का जन्म नहीं होना, अतः उसे 'अजा' कहा गया है, तथापि उसका धर्म है 'प्रसव' = संसार की रचना।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (४।५) और 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (४।१०), 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ. उ. २।५।१९) 'माया परा प्रकृतिः', 'संभवाम्यात्मभायया' (गीता ४।६) इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचन यह प्रतिपादित करते हैं कि वह माया जन्म नहीं लेती। जो अपने विविध रंग बिखेरती है, उसे माया समझना चाहिये। परब्रह्म परमात्मा उस माया के विविध स्वरूपों से विविध रूप धारण कर संसाररचना के लिए सक्रिय होता है। वही परब्रह्म परमात्मा की परा प्रकृति है, जिसके द्वारा वह प्रपञ्च की रचना करता है। इस प्रकार श्रुतियों एवं स्मृतियों के वचन उसके अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वही संसार की जननी है, वही परब्रह्म परमात्मा की उससे अभिन्न अद्वितीय चित्शक्ति है। भोक्ता, भोग और भोग्य उसी के विकार है। उसी के सम्पादन के लिए अधिकृत् होकर वह ईश्वर के निकट उसकी किंकरी बनकर रहती है। माया की निकटता के कारण ही परब्रह्म परमात्मा 'मायी' कहलाता है। माया के सान्निध्य के कारण वह मायायुक्त जैसा प्रतीत होता है। यद्यपि देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार आदि माया के कार्य, माया के ही विकार हैं, तथापि वे जिस प्रकार अलग-अलग प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार देह-इन्द्रिय आदि के रूप में परब्रह्म परमात्मा भी अलग-अलग प्रतीत होता है। इसलिये यद्यपि परमार्थतः यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा अखण्ड-अभिन्न-अद्वितीय एक और एकरस है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उसके जीव-ईश्वर आदि लौकिक और वैदिक भेदों को मानना पड़ेगा। इससे द्वैतमत की प्रतिष्ठा नहीं होगी। यह सब माया का खेल है, जो अनिर्वचनीय है। माया में कोई वस्तुधर्म नहीं है। जैसा कि कहा गया है-

"एषा हि भगवन्माया सदसद्व्यक्तिवर्जिता"।

परब्रह्म परमात्मा की यह माया अत्यन्त विलक्षण है। यह कहना कठिन है कि यह 'सत्' की अभिव्यक्ति करती है अथवा 'असत्' की। वह भाव-अभाव दोनों से रहित है।

शाङ्करभाष्यम्

यस्मादजैव भोक्त्रादिरूपा, तस्मात् तत्स्वीकृतस्य मिथ्यासिद्ध-वस्तुत्वसंभवादनन्तश्चाऽऽत्मा। चशब्दोऽवधारणे। अनन्त एवाऽऽत्मा। अस्याऽन्तः परिच्छेदो देशतः कालतो वस्तुतो वा न विद्यत इति। विश्वरूपो विश्वमस्यैव रूपमिति, परस्याऽविश्वरूपत्वात्। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति रूपस्य रूपिव्यतिरेकेणाऽभावाद्विश्वरूपत्वादप्यानन्त्यं सिद्ध-मित्यर्थः। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्माद् विश्वरूपवैश्वरूप्यं लक्षणं परमात्मन

इत्येवमादिभिरात्मनो विश्वरूपत्वमित्यर्थः। यत एवाऽनन्तो विश्वरूप आत्माऽत एवाऽकर्ता कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहित इत्यर्थः।

तात्पर्यदीपिका

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता—यतः प्रकृति ही जन्मरहित और भोक्ता, भोग्य आदि रूपों में परिवर्तित होती है, अतः उसके द्वारा कल्पित प्रपञ्च भी असत्य और मिथ्या है। 'च' का अर्थ निश्चय करने पर इस तृतीय चरण का अर्थ होगा—यह निश्चित है कि आत्मा का कोई 'अन्त' परिच्छेद नहीं है, अर्थात् उसको देश और काल के घेरे में बांधा नहीं जा सकता। समस्त विश्व, स्थावर जंगमात्मक जगत् परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है और कोई चराचर संसार का रूप ग्रहण ही नहीं कर सकता।

परमार्थतः **'वाचारम्भणं विकारो नामर्धयम्'** इस श्रुतिवचन के अनुसार रूप और रूप धारण करनेवाला दोनों भिन्न-भिन्न नहीं। अपितु एक होते हैं, क्योंकि प्रकृति में भासमान विकृति उससे भिन्न नहीं, केवल वाणी का विलासमात्र है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के रूप को देखकर यह समझ में आता है कि परब्रह्म परमात्मा के सत्चिदानन्द स्वरूप को देश-काल आदि की परिधि में बांधा नहीं जा सकता और उसका यह विश्वरूप अनन्त देश-काल आदि की सीमा से परे है, यह सब उसकी माया का खेल है। 'निर्मायिक' मायारहित सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा सांसारिक धर्मों से परे होता है, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म उससे सम्बन्ध नहीं रखते यही इसका तात्पर्य है।

शाङ्करभाष्यम्

कदैवमनन्तो विश्वरूपः कर्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो मुक्तः पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपेणैवाऽवतिष्ठते? इत्यत्राऽऽह—'*त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतदि*'ति। त्रयं भोक्तृभोगभोग्यरूपम्। मायात्मकत्वादधिष्ठान-भूतब्रह्मव्यतिरेकेण नास्ति किन्तु ब्रह्मैवेति यदा विन्दते तदा निवृत्तनिखिल-विकल्पपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मभावत्कर्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो वीत-शोकः कृतकृत्योऽवतिष्ठत इत्यर्थः। अथवा ज्ञाज्ञाजात्मकजीवेश्वरप्रकृति-रूपत्रयं ब्रह्म यदा विन्दते लभते तदा मुच्यत इति। ब्रह्ममिति मकारान्तं '*ब्रह्ममेतु मां मधुमेतु माम्*' इतिवच्छान्दसम्॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतदिति'—अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह संसार के रूप में दृश्यमान, देश काल आदि की परिधि से परे अनन्त आत्मा कब कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सांसारिक धर्मों से रहित सच्चिदानन्दस्वरूप होता है? मन्त्र का चतुर्थचरण इसी का समाधान कर रहा है।

भोक्ता, भोग एवं भोग्य यह त्रिपुटी माया का विलास है और उसका अधिष्ठान

है निरुपाधिक तुरीय परब्रह्म, जो हमसे भिन्न नहीं है। किन्तु जब जीव को इसका निश्चयात्मक भान होता है कि जो कुछ है, परब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, तब जीवात्मा में रहने वाले भ्रमात्मक सभी विकल्प नष्ट होते हैं और ये सब विकल्प अज्ञानमूलक होते हैं। अज्ञानमल हट जाने पर जीवात्मा अखण्ड-पूर्ण चित्स्वरूप आनन्दानुभूति करते हुए जब स्वयं अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, तब वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सांसारिक धर्मों से मुक्त हो जाता है। शोक-मोह आदि भावनाओं से वह जरा भी प्रभावित नहीं होता। वह यह समझ लेता है कि मेरा जन्म सफल हो गया, मैं कृतकृत्य हो गया।

अथवा ईश्वर 'ज्ञ' सर्वज्ञ है, जीव 'अज्ञ' अल्पज्ञ है, माया ईश्वर की प्रकृति है और वह भी 'अजा' है, उसका भी जन्म नहीं होता। वस्तुतः तीनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अपितु अखण्ड-अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हैं, जब देहधारी जीवात्मा को इस बात की अनुभूति होती है, तब वह मुक्त हो जाता है।

'ब्रह्ममेतत्' यह अकारान्त 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग वैदिक है। इस प्रकार अन्य प्रयोग भी मिलता है। यथा-'ब्रह्ममेतु माम्, मधुमेतु माम्' इत्यादि॥ ९॥

अवतरणम्-जीवेश्वरयोर्विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शितम्। इदानीं प्रधानेश्वरयोर्वैलक्षण्यं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति-

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याऽभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चाऽन्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण-पूर्व मन्त्र में यह प्रतिपादन किया गया है कि जीव और ईश्वर का भेद माया का विलास है। इस बात का ज्ञान होने पर जीव अमर-पद प्राप्त करता है। अग्रिम मन्त्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रधान और ईश्वर (परब्रह्म परमात्मा) में क्या अन्तर है? इसका ज्ञान होने पर भी जीव मुक्त होता है।

अन्वयः-प्रधानं क्षरम्, अमृताक्षरं हरः। एकः देवः क्षरात्मानौ ईशते। तस्य अभिध्यानाद् योजनात् तत्वभावात् च अन्ते भूयः विश्वमायानिवृत्तिः॥ १०॥

मन्त्रार्थ-'प्रधान' क्षरणशील होता है। उसका संहार करने के कारण परमेश्वर को 'हर' क़हते हैं, जो अमृत (मृत्युधर्मरहित) और अक्षर (अविनश्वर) है। परब्रह्म परमात्मा एक-अखण्ड-अद्वितीय है, जो चिन्मय होने के कारण प्रकाशस्वरूप है। वही अकेला नश्वर (क्षर) 'प्रधान' और अक्षर (अविनाशी) जीवात्मा दोनों पर नियन्त्रण रखता है। उस परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करने से, उस परमात्मा में जीव का संयोजन होने

से और परमेश्वर के रूप में अपनी भावना करने से माया का आवरण हट जाता है और जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार करता है, परमात्मस्वरूप हो जाता है॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्

'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर' इति। अविद्यादेर्हरणात् परमेश्वरो हरः। अमृतं च तदक्षरं चाऽमृताक्षरममृतं ब्रह्मैवेश्वर इत्यर्थः। स ईश्वरः क्षरात्मानौ प्रधानपुरुषावीशत इष्टे देव एकश्चित्सदानन्दाद्वितीयः परमात्मा। तस्य परमात्मनोऽभिध्यानात्। कथम्? योजनाज्जीवानां परमात्मसंयोजनात् तत्त्वभावात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति भूयश्चाऽसकृदन्ते प्रारब्धकर्मान्ते यद्वा स्वात्मज्ञाननिष्पत्तिरन्तस्तस्मिन् स्वात्मज्ञानोदयवेलायां विश्वमायानिवृत्तिः। सुखदुःखमोहात्मकाशेषप्रपञ्चरूपमायानिवृत्तिः॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

'प्रधान' संसार क्षर, विनाशशील होता है। उसके ऊपर पड़े हुए अविद्या इत्यादि के आवरण का हरण करने के कारण परमेश्वर को 'हर' कहते हैं। जो अमृत (मृत्यु-धर्मरहित) और 'अक्षर' अविनाशी है, वह परब्रह्म परमात्मा ही है, अन्य नहीं। द्युतिमान् प्रकाशस्वरूप 'देव' एक सत्स्वरूप, चिन्मय आनन्दस्वरूप, अखण्ड-अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही है और वही क्षर, विनाशशील प्रधान अर्थात् संसार और नवद्वार पुर (शरीर) में विद्यमान 'पुरुष' संज्ञक अक्षर अविनाशी जीवात्मा पर शासन करता है। उस परमात्मा का ध्यान करने से विश्व के ऊपर पड़ा हुआ माया का परदा हट जाता है। परमात्मा के ध्यान का प्रकार यह है कि जीवात्मा परमात्मा के साथ अपना संयोजन कर ले और 'मैं परब्रह्म-परमात्मा हूँ' यह परमात्मभावना कर ले। इसका फल यह होगा कि जब जीवात्मा प्रारब्ध कर्मों का उपभोग कर लेगा अथवा उसे जब आत्मज्ञान होगा, तब उस ब्रह्मसाक्षात्कार की वेला में ही उसके सांसारिक सुख, दुःख मोह आदि समस्त विकार नष्ट होंगे और उसके ऊपर पड़ा हुआ माया का आवरण हट जायेगा यही आचार्य शंकर का अभिप्राय है।

गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण' उपनिषद्-अंक (१९४९) में श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मंत्र की व्याख्या भिन्न की गयी है। उसके अनुसार 'प्रधान' का अर्थ है प्रकृति और 'हर' का अर्थ है इसको भोगने वाला जीवात्मा। वह व्याख्या इस प्रकार है-

" 'प्रधान' प्रकृति तो क्षर अर्थात् परिवर्तन होने वाली विनाशशील है और उसको भोगनेवाला 'हर' जीवसमुदाय अविनाशी है, अक्षरतत्व है। इन क्षर और अक्षर (जड़ प्रकृति और चेतन जीव समुदा) दोनों तत्त्वों पर एक परम देव परमेश्वर शासन करते हैं, वे ही प्राप्त करने के और जानने के योग्य हैं, उन्हें तत्त्व से जानना चाहिये'-इस प्रकार

दृढ़ निश्चय करके उन परमदेव परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने से, उन्हीं में रात-दिन संलग्न रहने से और उन्हीं में तन्मय हो जाने से अन्त में वह उन्हीं को पा लेता है। और इसके लिये सम्पूर्ण माया की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् मायामय जगत् से इसका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है।" (पृ. ३६८)

विभिन्न टीकाकारों के अनुसार इस मंत्र में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों के विभिन्न अर्थ इस प्रकार है-

प्रधानम्-मुख्यम् (शंकरानन्द), माया-नारायण, आकाशः (विज्ञानभगवान्), संसारः। प्रधान क्षर नश्वर है। क्षरं कार्यम्।

हरः-अविद्यायाः अभावः (शंकरानन्द), शिवः (नारायण), अविद्यानाशकं सम्यग् ज्ञानम् (विज्ञानभगवान्), क्षरस्य प्रधानस्य हरणात् हरः। अमृताक्षरं हरः। अक्षरं अकार्यम्।

क्षरात्मानौ-क्षरं प्रधानम्, आत्मा जीवात्मा। क्षरं कार्यं, संसारः, आत्मा अविद्या-युक्तं चैतन्यम् (शंकरानन्दः), क्षरः प्रतिबिम्बभूतो जीवः आत्मा पुरुषः (विज्ञानभगवान्), क्षरः जीवः, आत्मा प्रकृतिः (उपनिषद्ब्रह्मयोगी) ॥ १० ॥

अवतरणम्-**इदानीं तद्विदस्तद्ध्यायिनश्च तज्ज्ञानध्यानकृतं फलभेदं दर्शयति-**

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याऽभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥ ११ ॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण-अग्रिम मन्त्र में जो ब्रह्मसाक्षात्कार करता है उसका फल क्या है? और जो उसका ध्यान करता है उसका फल क्या है? इस अन्तर को प्रदर्शित किया गया है।

अन्वयः-देवं ध्यात्वा सर्वपाशापहानिः (भवति)। क्षीणैः क्लेशैः जन्म-मृत्युप्रहाणिः (भवति)। तस्य अभिध्यानात् देहभेदे (सति) तृतीयं विश्वैश्वर्यं (प्राप्यते)। आप्तकामः केवलः (भवति)।। ११ ॥

मन्त्रार्थ-प्रकाशमय चित्स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार होने पर जीवात्मा के सभी सांसारिक पाश नष्ट होते हैं। फलतः सभी प्रकार के दुःख दूर होने पर जीवात्मा के जन्म और मृत्यु का नाश होता है। उस परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करने पर देहान्त के पश्चात् जीव उस तृतीय अवस्था को प्राप्त करता है, जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य मिलता है और जब उसकी सम्पूर्ण कामनाएं पूर्ण होती हैं, तब वह 'कैवल्य' पद प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

शाङ्करभाष्यम्

ज्ञात्वेति। ज्ञात्वा देवम् 'अयमहमस्मि' इति, सर्वपाशापहानिः पाशरूपाणां सर्वेषामविद्यादीनामपहानिः। क्षीणैरविद्यादिभिः क्लेशैस्तत्कार्यभूतजन्ममृत्युप्रहाणिर्जननमरणादिदुःखहेतुविनाशः। ज्ञानफलं प्रदर्शितम्।

ध्याने किञ्चित् क्रममुक्तिरूपं विशेषमाह—तस्य परमेश्वरस्याऽभिध्यानाद्देहभेदे शरीरपातोत्तरकालमर्चिरादिना देवयानपथा गत्वा परमेश्वरसायुज्यं गतस्य तृतीयं विराड्रूपापेक्षयाऽव्याकृतपरमव्योमकारणेश्वरावस्थं विश्वैश्वर्यलक्षणं फलं भवति। स तदनुभूय तत्रैव निर्विशेषमात्मानं ज्ञात्वा केवलो निरस्तसमस्तैश्वर्यतदुपाधिसिद्धिरव्याकृतपरमव्योमकारणेश्वरात्मकतृतीयावस्थं विश्वैश्वर्यं हित्वाऽऽप्तकाम आत्मकामः पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपोऽवतिष्ठते।

तात्पर्यदीपिका

जब जीवात्मा को ज्योतिपुञ्जस्वरूप चिन्मय परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होता है, तब वह इस प्रकार अनुभव करता है—'अरे! यह (परब्रह्म परमात्मा) तो मैं (जीवात्मा) ही हूँ।' और यह अनुभव होने पर उसके अविद्या आदि उन पाशों का नाश होता है, जो जीवात्मा जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-मृत्यु आदि संसार के बन्धनों से जीवात्मा को जकड़ते हैं। अविद्या आदि वस्तुतः क्लेशकारक होने के कारण क्लेश ही हैं, जिनके नष्ट होने पर उनके कार्यस्वरूप जन्म-मृत्यु आदि दुःख कारणों का विनाश होता है। यही परब्रह्म-परमात्मा के ज्ञान अथवा साक्षात्कार का फल है।

ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मध्यान दोनों से मुक्ति मिलती है, किन्तु ब्रह्मध्यान से जो मुक्ति मिलती है उसके क्रम में कुछ अन्तर होता है। उसी को मन्त्र के उत्तरार्द्ध में प्रदर्शित किया गया है—

जब देहधारी प्राणी परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब उसका शरीर छूटने पर वह तृतीय अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें उसे समग्र ऐश्वर्य मिलता है। दूसरे शब्दों में वह स्वयं समग्र ऐश्वर्यमय हो जाता है। यह तृतीय अवस्था उसे तब प्राप्त होती है, जब वह अर्चि आदि अनेक देवयान मार्गों में से किसी अन्यतम मार्ग का आश्रय लेता है, और उसके द्वारा परब्रह्म परमात्मा के निकट पहुँच कर उसके सायुज्य को प्राप्त करता है। परब्रह्म परमात्मा का चतुर्थ रूप है उसका विराट् स्वरूप। उसकी अपेक्षा उसकी तृतीय अवस्था है उसका अव्याकृत व्योममय रूप, जो कारणब्रह्म है और यही तृतीय स्थिति विश्वैश्वर्य है। यह ध्यान का फल है। उसका उपभोग कर जब जीवात्मा अपने को परब्रह्म से निर्विशेष-सामान्य-एकरूप समझता है, तब वह 'कैवल्य' पद प्राप्त करता है। उस स्थिति में वह सम्पूर्ण ऐश्वर्य का त्याग करता हैं, उससे प्राप्त होने वाली समस्त सिद्धियों

को छोड़ देता है। जब उसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, तब वह सर्वसंगपरित्याग कर अखण्ड-सम्पूर्ण-आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यह तुरीय अवस्था ही जीवात्मा की 'कैवल्य'पदप्राप्ति है।

शाङ्करभाष्यम्

एतदुक्तं भवति—सम्यग्दर्शनस्य तथाभूतवस्तुविषयत्वेन निर्विषयपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मविषयत्वाद्विज्ञानानन्तरमविद्यातत्कार्यप्रहाणेन पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽवतिष्ठते। ध्यानस्य पुनः सहसा न निराकारे बुद्धिः प्रवर्तत इति सविशेषब्रह्मविषयत्वात् "तं यथा यथोपासते..." इति न्यायेन सविशेषविश्वैश्वर्यलक्षणब्रह्मप्राप्त्या विश्वैश्वर्यमनुभूय निर्विशेषपूर्णानन्द-ब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलात्मकामोऽवाप्ताशेषपुमर्थो मुक्तो भवति।

तात्पर्यदीपिका

इस कथन का तात्पर्य यह है कि जो सम्यक् ज्ञान अथवा साक्षात्कार होता है, उसका विषय, जिसकी सत्ता वास्तविक शाश्वत होती है वह निर्गुण-निराकार-विशेषणों से रहित परिपूर्ण-अखण्ड-अद्वितीय चित्स्वरूप आनन्दमय परब्रह्म परमात्मा है। अतः उसका साक्षात्कार होने के पश्चात् अविद्या (माया) और उसके कार्यस्वरूप संसार एवं सुख-दुःख-मोहादि की निवृत्ति होती है और जीवात्मा स्वयं परिपूर्ण आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप में रहने लगता है। किन्तु बुद्धि सहसा निराकार ब्रह्म के साक्षात्कार में प्रवृत्ति नहीं होती, उसका विषय सगुण-साकार ब्रह्म है। अतः 'जाकी रही भावना जैसी' इस सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा प्रथम उस सगुण साकार ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, जो विश्व का ऐश्वर्यस्वरूप होता है। उस सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अनुभूति के अनन्तर जीवात्मा निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है और मनोरथों के परिपूर्ण होने पर 'कैवल्य' पद प्राप्त करता है। वह सम्पूर्ण पुरुषार्थों को प्राप्त करता है और अन्त में उसे मोक्ष मिलता है। यही क्रमिक मुक्ति का रहस्य है।

शाङ्करभाष्यम्

तथा शिवधर्मोत्तरे ध्यानज्ञानयोर्विश्वैश्वर्यलक्षणं केवलात्मकामाप्त-कामलक्षणं च फलं दर्शयति—

"ध्यानादैश्वर्यमतुलमैश्वर्यात् सुखमुत्तमम्।
ज्ञानेन तत् परित्यज्य विदेहो मुक्तिमाप्नुयात्॥" इति।

तथा च दहरादिसविशेषसगुणोपासकानां "स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा. उ. ८। २। १) इत्यादिना विश्वैश्वर्यलक्षणं फलं दर्शयति। तथा च प्रश्नोपनिषदि "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणो-

मित्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः" (प्र. उ. ५।५) इत्यादिना परं पुरुषमभिध्यायतोऽर्चिरादिमार्गोपदेशपूर्वकं "स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्र. उ. ५।५) इति ब्रह्म-लोकं गतस्य तत्रैव सम्यग्दर्शनलाभं दर्शयित्वा "तमोङ्कारेणैवाऽऽयतने-नाऽन्वेति विद्वान् तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति" (प्र. उ. ५।७) इति सम्यग्दर्शनेन मोक्ष उपदिष्टः।"तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (नृ. पू. ता. १।६) इति विदुषोऽर्चिरादिगमनं विनैहैवाऽमृतत्वप्राप्तिं दर्शयति। "अथाऽकाम-यमानः" इत्यारभ्य "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति" (बृ. उ. ४।४६) इत्यादिना विनैवोत्क्रान्तिं विदुषो मोक्ष उपदिष्टः।"उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्यहो! नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः" (बृ. उ. ३।२।११) इति प्रश्नपूर्वकमुत्क्रान्त्यभावो दर्शितः।

तात्पर्यदीपिका

[सगुण-साकार ब्रह्म का ध्यान सम्भव है, जिसका फल है विश्व ऐश्वर्यप्राप्ति। निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साक्षात्कार का फल है कैवल्यमुक्ति। दोनों का फल विभिन्न धर्मग्रन्थों में वर्णित है।] शिवधर्मोत्तर पुराण में इसका फल इस प्रकार प्रदर्शित है-

'ध्यानादैश्वर्यमतुलम्'-जीवात्मा जब सगुण-साकार परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करता है, तब उसे अनुपम ऐश्वर्य प्राप्त होता है और उससे चरम सुख मिलता है। उसके अनन्तर जब उसे निर्गुण-निराकार-परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होता है, तब वह उसे तुच्छ समझकर छोड़ देता है और देहाभिमान छोड़कर जीवितावस्था में ही मुक्त हो जाता है। इसे ही 'जीवन्मुक्ति' अथवा 'विदेहमुक्ति' कहते हैं।

दहर आदि सविशेष और सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञानी के सभी संकल्प सिद्ध होते हैं, यह वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय में किया गया है। 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (८।२।१) इत्यादि मन्त्रों द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि जो जिस लोक की कामना करता है, उसे उसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार उसे समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

प्रश्नोपनिषद् कहती है कि जो त्रिमात्रिक प्रणव मंत्र का जप करते हुए निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करता है वह सूर्य के समान तेजस्वी होता है- 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' (प्र. उ. ५।५)। वह जीवात्मा जीवनधन हिरण्यगर्भ से भी अत्यन्त श्रेष्ठ नवद्वार पुर (शरीर) में सुप्तावस्था में अवस्थित अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा (पुरुषोत्तम) का साक्षात्कार करता है-'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र. उ. ५।५)। ओंकारमंत्रजप का अवलम्बन करके देहधारी ब्रह्मवेत्ता साधक उस परम-पद

को प्राप्त करता है, जो अत्यन्त शान्त, जरारहित, मृत्युधर्मरहित और भयमुक्त है– 'तमोङ्कारेणैवाऽऽयतनेनाऽन्वेति विद्वान् यत् तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति' (प्र. उ. ५।७) इन मन्त्रों में क्रमिक मुक्ति वर्णित है। प्रथम 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' इत्यादि द्वारा ध्यानकर्ता को 'अर्चि' आदि मार्गोपदेश किया गया है। अनन्तर 'पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस अंश से अन्तःकरण में ब्रह्मसाक्षात्कार और 'यत् तच्छान्तमजरममृतमभयं चेति' इस अंश से मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

नृसिंह पूर्वतापिनी का स्पष्ट कथन है कि ब्रह्मवेत्ता साक्षात् अमरपद प्राप्त करता है, उसके लिए उस मार्ग का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं–'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' उस नृसिंहस्वरूप परब्रह्म–परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला यहीं पर अमरपद प्राप्त करता है (नृ. पू. ता. १।६)।

बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि ब्रह्मज्ञानी को प्राणोत्क्रमण के बिना जीवितावस्था में भी मोक्ष मिलता है। 'अथाऽकामयमानः' से लेकर 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति' (४।४६) और 'उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्यहो! नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (३।२।११) इन मन्त्रों में यह प्रदर्शित किया गया है कि जो कामनारहित होता है, उसके प्राण यद्यपि नहीं निकलते, तथापि वह जीवितावस्था में ही ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मपद प्राप्त करता है। 'क्या प्राण निकलने पर उसे मोक्ष प्राप्ति होती है?' इस प्रश्न का याज्ञवल्क्य स्पष्ट निषेध करते हैं–'नेति नेति' नहीं–नहीं, उसे जीवितावस्था में ही मोक्ष मिलता है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् जीवन्मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करती है।

शाङ्करभाष्यम्

तथा च ब्राह्मे पुराणे जीवन्मुक्तिं गत्यभावं च दर्शयति–

"यस्मिन् काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्।
तस्मात् कालात् समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ॥
मोक्षस्य नैव किञ्चित् स्यादन्यत्र गमनं क्वचित्।
स्थानं परार्ध्यमपरं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥
अज्ञानबन्धभेदस्तु मोक्षो ब्रह्मलयस्त्विति।"

तथा लैङ्गे विदुषो जीवन्मुक्तिं दर्शयति–

"इह लोके परे चैव कर्तव्यं नास्ति तस्य वै।
जीवन्मुक्तो यतस्तस्माद् ब्रह्मवित् परमार्थतः॥"

शिवधर्मोत्तरे–

"वाञ्छात्ययेऽपि कर्तव्यं किञ्चिदस्य न विद्यते।
इहैव स विमुक्तः स्यात् सम्पूर्णः समदर्शनः॥"

तात्पर्यदीपिका

और उसी प्रकार ब्राह्म पुराण में बिना प्राणोत्क्रमण के जीवन्मुक्ति की स्थिति प्रदर्शित की गयी है–

'यस्मिन् काले स्वमात्मानम्'–जिस क्षण में समाधि में अवस्थित योगी परब्रह्म-परमात्मा के केवल (विशुद्ध-अखण्ड-परिपूर्ण) स्वरूप का साक्षात्कार करता है, उसी क्षण के प्रारम्भ से वह 'जीवन्मुक्त' हो जाता है।

'मोक्षस्य नैव किञ्चित् स्यात्'–जहां पर योगी पहुँचते हैं, वह सर्वश्रेष्ठ स्थान है। ब्रह्मलोक के अतिरिक्त मोक्ष की अन्यत्र गति सम्भव ही नहीं है। क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही है अज्ञानस्वरूप बन्धन का विनाश और जीव का परब्रह्म परमात्मा में विलय हो जाना।

लिङ्गपुराण में ब्रह्मवेत्ता योगी की जीवन्मुक्त अवस्था इस प्रकार प्रदर्शित की गयी है–**'इह लोके परे चैव'**–(जो योगी सच्चिदानन्दस्वरूप परिपूर्ण अखण्ड-अद्वितीय निर्मल विशुद्ध परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है) उसका इहलोक और परलोक दोनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञानी पारमार्थिक दृष्टि से जीवन्मुक्त हो जाता है।

शिवधर्मोत्तर पुराण में जीवन्मुक्ति का इस प्रकार वर्णन है–**'वाञ्छात्ययेऽपि कर्तव्यम्'**–जिसकी सभी विषय-वासनाएं नष्ट हो जाती हैं, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। क्योंकि वह इस लोक और इस जीवन में ही मोक्ष प्राप्त करता है। भेदभाव मिटने के कारण वह परिपूर्ण स्थिति प्राप्त करता है और सुख दुःख आदि किसी भी स्थिति में उसकी दृष्टि समान हो जाती है।

शाङ्करभाष्यम्

तस्मादुपासको देहादुत्क्रम्याऽर्चिरादिना देवयानेन विश्वैश्वर्यं ब्रह्म प्राप्य विश्वैश्वर्यमनुभूय तत्रैव केवलं प्रत्यस्तमितभेदपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलात्मकामो मुक्तो भवति। विद्वान्निर्विशेषपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्म-विज्ञानादशेषगन्तृगन्तव्यगमनादिभेदप्रत्यस्तमयाद् विनैवोत्क्रान्तिं देवयानं च ब्रह्मज्ञानसमनन्तरं जीवन्मुक्तो ब्रह्मज्ञानसमनन्तरं ब्रह्मानन्दमनुभूय आत्मरति-रात्मतृप्त आत्मनैवाऽन्तःसुखोऽन्तरारामोऽन्तर्ज्योतिरात्मक्रीड आत्मरतिरात्म-मिथुन आत्मानन्द इहैव स्वाराज्ये भूम्नि स्वे महिम्न्यमृतोऽवतिष्ठते तद्धेतुत्वाद् बाह्यविषयपरित्यागेन ब्रह्मण्याधाय वाङ्मनःकायनिष्पाद्यं श्रौतस्मार्तलक्षणं कर्म कृत्वा विशुद्धसत्त्वो योगारूढो भूत्वा शमादिसाधनसंपन्नः–

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

एवं युञ्जन् सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥"

(गीता ६।१०, २८, २९)

"समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥"

(गीता १३।२८) इति स्मृतेः॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

उपासक और ब्रह्मज्ञानी की भिन्न-भिन्न गति—निष्कर्ष यह है कि उपासक का जब प्राणोत्क्रमण होता है, तब वह अर्चिर आदि देवयान से सूर्यलोक आदि में पहुँच कर प्रथम उस कारणब्रह्म का साक्षात्कार करता है, जिससे समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होता है। उसका पूर्ण उपभोग करने के पश्चात् वह स्वयं (जीवात्मस्वरूप) को उसमें विलीन करता है। और वहीं अखण्ड परिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार करता है। अब उसे केवल परब्रह्म परमात्मा की कामना रहती है और तदाकार होकर वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार उपासक क्रमिक मुक्ति प्राप्त करता है।

(समाधिस्थ योगी को जब ब्रह्मज्ञान होता है, तब उस) ब्रह्मज्ञानी को निर्गुण-निराकार परिपूर्ण आनन्दमय अखण्ड, परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार होने के कारण उसके गमनकर्ता, गन्तव्य स्थान आदि सम्पूर्ण भेद मिट जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह बिना प्राणोत्क्रमण के ही देवयान का अवलम्बन किये बिना ही ब्रह्मज्ञान के समय ही उसी क्षण में बिना किसी व्यवधान के परिपूर्ण परब्रह्म में अवस्थित हो विलक्षण स्थिति में पहुँच जाता है। वह ब्रह्मास्वाद ऐसा होता है कि वह अपने से ही रमण करता है, अपने में ही मिथुनभाव की कल्पना करता है, अपने में ही तृप्ति का, परमसुख का अनुभव करता है। उसे स्वयं में पराज्योतिपुंज की अनुभूति होती है। अपने साथ ही क्रीडा करता हुआ वह उस धरातल पर पहुँचता है, जिसे 'स्वास्थ्य' कहते हैं। वहाँ वह सर्वतंत्रस्वतंत्र और अपनी ही महिमा में अमर पद प्राप्त करता है। ब्रह्मस्वरूप होने के कारण वह बाह्य विषयों का परित्याग होता है। वह जीवितावस्था में वाचिक, मानसिक और शारीरिक श्रुति स्मृति-सम्मत कर्म करते हुए शम-दम आदि उन साधनों से सम्पन्न होकर निर्मल अन्तःकरण हो सदा समाधिस्थ हो जाता है, जो ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु है।

श्रीमद्भगवद्गीता में निरन्तर योगाभ्यास का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

'योगी युञ्जीत सततम्'(६।१०)—समाधिस्थ योगी को निरन्तर एकान्त में अकेले रहना चाहिये। उसे अपने चित्त पर संयम बरतना चाहिये। सभी कामनाओं को छोड़ देना

चाहिये और परिग्रह का त्याग करना चाहिये। फिर उसे सतत परब्रह्म परमात्मा से निरन्तर मिलन का अभ्यास करना चाहियें।

'एवं युञ्जन् सदाऽऽत्मानम्' (६।२८)–इस प्रकार योगांभ्यास के द्वारा स्वयं (जीवात्मस्वरूप) को परब्रह्म परमात्मा के साथ संयुक्त करनेवाले योगी का समस्त अज्ञानमल अथवा पापराशि नष्ट होती है। वह अनायास ब्रह्मसाक्षात्कार करता हुआ चरम आनन्द की अनुभूति करता है।

'सर्वभूतस्थमात्मानम्' (६।२९)–समाधियोग द्वारा परब्रह्म परमात्मा के साथ स्वयं का विलय करने वाला ब्रह्मज्ञानी समान दृष्टि रखता है। वह यह अनुभव करता है कि मैं (जीवात्मा) सभी प्राणियों में विराजमान हूँ। और सभी प्राणी मुझमें वास करते हैं। इस प्रकार वह सभी जीवों के साथ समान अनुभूति रखता है।

'समं पश्यन् हि सर्वत्र' (१३।२८)–इस प्रकार जो ब्रह्मज्ञानी सब जगह परब्रह्म-परमात्मा का समानभाव से एक साथ साक्षात्कार करता है, वह आत्मघात नहीं करता। फलतः अन्त में उत्कृष्ट गति (मुक्ति) प्राप्त करता है।

इन वचनों से यह प्रमाणित होता है कि जो समाधिस्थ योगी साक्षात् मुक्ति प्राप्त करता है, वह 'जीवन्मुक्त' होता है। जब कि उपासक को प्राणोत्क्रमण के अनन्तर क्रमिक मुक्ति प्राप्त होती है॥ ११॥

अवतरणभाष्यम्–यस्माज्ज्ञानानन्तरं परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्–

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवाऽऽत्मसंस्थं
नाऽतः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥ १२॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण–यतः परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार करने के पश्चात् परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः यह तथ्य समझना चाहिये–

अन्वय–आत्मसंस्थम् एतत् नित्यम् एव ज्ञेयम्। अतः परं किञ्चित् वेदितव्यं न। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वम् एतत् त्रिविधं ब्रह्मं प्रोक्तम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ–अपने अन्तःकरण में विद्यमान जीवात्मा का नित्य ही परब्रह्म-परमात्मा के रूप में साक्षात्कार करना चाहिए। क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी जानने योग्य नहीं है। समग्र विश्व में तीन वस्तुएँ हैं–(१) भोक्ता = भोग करने वाला जीव, (२) भोग्य = उपभोग की वस्तु जगत् और (३) प्रेरिता = ईश्वर। और यह त्रिविध विश्व परब्रह्म परमात्मा का ही है॥ १२॥

शाङ्करभाष्यम्

एतत् प्रकृतं केवलात्माकाशब्रह्मरूपं नित्यं नियमेन ज्ञेयम्। किमत्राऽन्यसंस्थं न स्वात्मसंस्थं ज्ञेयं नानात्मनि बाह्ये। श्रूयते च–"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्"(क.उ. २।२।१२)इति।

तथा च शिवधर्मोत्तरे योगिनामात्मनि स्थितिः–

"शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
आत्मस्थं यः परित्यज्य बहिःस्थं यजते शिवम्॥
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिह्यात् कूर्परमात्मनः।
सर्वत्राऽवस्थितं शान्तं न पश्यन्तीह शङ्करम्॥
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्धः सूर्यं यथोदितम्।
यः पश्येत् सर्वगं शान्तं तस्याऽध्यात्मस्थितः शिवः॥
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम्।
आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत्॥
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति।"

तात्पर्यदीपिका

इस प्रकृत केवल (निरुपाधिक निर्मल अज्ञानमलरहित निर्गुण निराकार विशुद्ध) आकाश के समान व्यापक परब्रह्म परमात्मा का नित्य प्रतिपल यम-नियमपूर्वक साक्षात्कार करना चाहिए। क्या यह कहीं अन्यत्र स्थित है? नहीं, यह अपने ही नवद्वार पुर के भीतर जीवात्मा के रूप में विद्यमान है। वह वहाँ बाहर विद्यमान है, जो आत्मस्वरूप नहीं है। (इसके विषय में श्रुतिवचन एवं पुराणवचन प्रमाण है।) कठोपनिषत् का यह मन्त्र (२।२।१२) द्रष्टव्य है–

"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥"

जो धैर्यशाली जीवात्मा में उस परब्रह्म-परमात्मा का दर्शन करते हैं, वे शाश्वत स्थायी शान्ति प्राप्त करते हैं। दूसरों को वह शान्ति नहीं मिलती।

शिवधर्मोत्तरपुराण में समाधिस्थ योगी जिस प्रकार अपने में ही अवस्थित रहते हुए परब्रह्म परमात्मा का दर्शन करते हैं, इसका चित्रण इस प्रकार है–

'शिवमात्मनि पश्यन्ति'–समाधिस्थ योगी अपनी आत्मा (चैतन्यस्वरूप जीवात्मा) में ही शिवस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। वे बाह्यमूर्तियों में उसका दर्शन नहीं करते।

'आत्मस्थं यः परित्यज्य'–जो अपनी अन्तरात्मा को छोड़कर बाहर प्रतिमा आदि में अवस्थित शिव का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति उस व्यक्ति के समान होती है, जो हाथ का कौर हाथ से नीचे गिराकर केवल अपनी हथेली चाटता है।

'सर्वत्राऽवस्थितं शान्तम्'—जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति सूर्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानदृष्टि से शून्य व्यक्ति सर्वत्र विद्यमान चित्स्वरूप शान्त (शम-सम्पन्न) शिव का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

'यः पश्येत् सर्वगं शान्तम्'—जो सब जगह व्याप्त शान्तप्रकृति शिव का साक्षात्कार करता है, उसकी अन्तरात्मा में ही वह वास करता है और जो अपनी अन्तरात्मा में शिव का साक्षात्कार नहीं करते वे व्यर्थ ही प्रत्येक तीर्थ में शिव को ढूंढने का प्रयास करते हैं।

'आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य'—जो अपनी अन्तरात्मा में विद्यमान तीर्थ का परित्याग कर बाहर तीर्थ आदि में पर्यटन करता है, वह हाथ में रहने वाले महारत्न को त्याग कर रास्ते में कांच को ढूंढता हुआ व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता है।

शाङ्करभाष्यम्

अथवैतद् यदपरोक्षं प्रत्यगात्मत्वं तन्नित्यमविनाशि स्वे महिम्नि स्थितं ब्रह्मैव ज्ञेयम्। कस्मात्? हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मान्नाऽतः परं वेदितव्यमस्ति किञ्चिदपि। श्रूयते च बृहदारण्यके—"तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा" (बृ. उ. १।४।७) इति।

कथमेतज्ज्ञेयम्? इत्याह—भोक्ता जीवो भोग्यमितरत् सर्वं प्रेरिताऽन्तर्यामी परमेश्वरः। तदेतत् त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैवेति। भोक्त्राद्यशेषभेदप्रपञ्चविलापनेनैव निर्विशेषं ब्रह्मात्मानं जानीयादित्यर्थः। तथा चोक्तं कावषेयगीतायाम्—

"त्यक्त्वा सर्वविकल्पांश्च स्वात्मस्थं निश्चलं मनः।
कृत्वा शान्तो भवेद् योगी दग्धेन्धन इवानलः॥"

तथा च श्रीविष्णुपुराणे—

"तस्यैव कल्पनाहीनस्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥"

(६।६।६२) इति॥ १२॥

तात्पर्यदीपिका

अथवा इस मंत्र की भिन्न व्याख्या भी हो सकती है, जो इस प्रकार है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवाऽऽत्मसंस्थम्—यह जो प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा है, नित्य अविनश्वर और अपनी महिमा में ही अवस्थित है, वह परब्रह्म परमात्मा ही है, उसका साक्षात्कार करना चाहिए।

नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्—क्योंकि इससे अन्य कोई वस्तु जानने योग्य नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है—'तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा' (१।४।७)। सभी प्राणियों का गन्तव्य स्थल यही परब्रह्म परमात्मा है।

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यादि। इसे किस प्रकार समझना चाहिये? उसका निरूपण मन्त्र का उत्तरार्ध कर रहा है। जो जीव विषय-वस्तुओं का उपभोग करता है, वह 'भोक्ता' होता है। उसके अतिरिक्त अन्य स्थावर जगत् 'भोग्य' होता है। उनका 'प्रेरिता' प्रेरक अन्तर्यामी परमेश्वर होता है। यह तीनों परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है। इसका तात्पर्य यह है कि समाधिस्थ योगी को क्रमशः समस्त भेदरूप संसार का विलय करना चाहिये और अन्त में निर्विशेष निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिये।

कावषेय गीता में भी इसका निरूपण इसी प्रकार किया गया है—

'त्यक्त्वा सर्वविकल्पांश्च'—समाधिस्थ योगी का कर्तव्य यह है कि वह सभी विकल्पों का परित्याग करे और अपने चञ्चल मन को निश्चल-स्थिर करके आत्मकेन्द्रित करे। अनन्तर वह उसी प्रकार शान्ति धारण करे, जिस प्रकार आग समस्त इन्धनों को जलाकर शान्त हो जाती है।

श्रीविष्णुपुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध है—

'तस्यैव कल्पनाहीनः'(६।६।९२)—उस परब्रह्म परमात्मा का ध्याता, ध्यान, ध्येय आदि विभिन्न विकल्पभेदों से मुक्त ध्यान द्वारा मनोयोगपूर्वक जो साक्षात्कार किया जाता है, उसी को 'समाधि' कहते हैं॥ १२॥

अवतरणम्—इदानीम् ''ओमित्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'' (प्र. उ. ५।५), ''ओमित्यात्मानं युञ्जीत'' (महानारा. २४।१), ''ओमित्यात्मानं ध्यायीत'' इति श्रुतेरात्मानमन्विष्य पराभिध्याने प्रणवस्य नियमादभिध्यानाङ्गत्वेन प्रणवं दर्शयति—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति-
र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद् वोभयं वै प्रणवेन देहे॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण—अग्रिम मन्त्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रणव अर्थात् ओङ्कार का जप परब्रह्म-परमात्मा के ध्यान का अन्यतम अङ्ग है। जैसा कि अन्य उपनिषत्-मंत्र भी इसको प्रमाणित करते हैं।

प्रश्नोपनिषत् (५।५) कहती है—'ओमित्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' ओम् (ॐ) इस एकाक्षरमन्त्र जप से ही षोडशकलापरिपूर्ण परम पुरुष का ध्यान करना चाहिये।

महानारायणोपनिषत् (२४।१) उपदेश देती है–'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' ॐ इस मन्त्रजप द्वारा स्वयं को परब्रह्म परमात्मा से संयुक्त करना चाहिए। अन्य मंत्र का कथन है, 'ॐ' इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।–'ॐ इत्यात्मानं ध्यायीत'।

अन्वयः–यथा योनिगतस्य वह्नेः मूर्तिः न दृश्यते, नैव च लिङ्गनाशः भवति, सः भूयः एव इन्धनयोनिगृह्यः तद्वा उभयं (आत्मा) देहे प्रणवेन (गृह्यः)॥ १३॥

मन्त्रार्थ–जिस प्रकार अरणी में वर्तमान अग्नि प्रत्यक्षगोचर नहीं होता, तथापि उसमें उसके सूक्ष्मस्वरूप (लिङ्ग) का लोप नहीं होता। फिर अरणीमन्थन के द्वारा वह अग्नि जिस प्रकार प्रकट होता है, उसी प्रकार प्रणवजप द्वारा शरीर में सुप्तावस्था में अवस्थित चित्स्वरूप परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार सम्भव है॥ १३॥

शाङ्करभाष्यम्

वह्नेर्यथेति। वह्नेर्यथा योनिगतस्याऽरणिगतस्य मूर्तिः स्वरूपं न दृश्यते मथनात् प्राङ् नैव च लिङ्गस्य सूक्ष्मदेहस्य विनाशः। स एवाऽरणिगतोऽग्निर्भूयः पुनः पुनरिन्धनयोनिना मथनेन गृह्यः। योनिशब्दोऽत्र कारणवचनः। इन्धनेन कारणेन पुनः पुनर्मथनाद् गृह्यः। 'तद् वोभयम्'-इवार्थो वाशब्दः। तच्चोभयं तदुभयमिव मथनात् प्राङ् न गृह्यते। मथनेन च गृह्यते, तद्वदात्मा वह्निस्थानीयः प्रणवेनोत्तरारणिस्थानीयेन मननाद् गृह्यते देहेऽधरारणिस्थानीये॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

अग्नि का उत्पत्तिस्थान (योनि) अरणी होता है। वह उसमें सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है, किन्तु मन्थन के पूर्व अग्नि वहां प्रत्यक्षगोचर नहीं होता और नहीं वहां से उसका अस्तित्व नष्ट होता है, वह वहां सूक्ष्मरूप (लिङ्ग) में अप्रत्यक्ष रहता है। और जब अरणी-मन्थन होता है, तब उसके द्वारा उसका प्रत्यक्षदर्शन किया जा सकता है। यहां 'योनि' शब्द का अर्थ है कारण। इसका तात्पर्य यह है कि शमीवृक्ष के काष्ठ में अग्नि मूलरूप में वर्तमान होता है। उससे जिस अरणी का निर्माण किया जाता है, वह अरणी उसके प्राकट्य में कारण होती है। बार बार मंथन से उसका साक्षात्कार किया जाता है।

'तद्वोभयम्' में 'वा' अव्यय 'इव' के स्थान पर प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है सादृश्य। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार अरणी-मन्थन के द्वारा ही अग्नि और उसके सूक्ष्मस्वरूप दोनों का ग्रहण किया जाता है। उसी प्रकार शरीर में चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा सुप्तावस्था में वास करता है, वह वहां सूक्ष्मरूप से रहता है। किन्तु वह तबतक प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होता, जब तक प्रणव-जप नहीं किया जाता। प्रणवजप द्वारा योगियों को वह प्रत्यक्षगोचर होता है। 'अरणी' के दो भाग होते हैं–ऊपर का भाग और नीचे का भाग। दोनों के मंथन से अग्नि प्रकट होता है। इस दृष्टान्त में प्रणव (ओङ्कार) अरणी के ऊपरी

भाग (उत्तरारणि) के समान है और शरीर निचले भाग (अधरारणि) के समान है। जब देहधारी प्रणव-जप करता है, तब शरीर के साथ उसका जो संघर्ष होता है, उसके द्वारा योगी अन्तर्यात्मी चैतन्यस्वरूप परब्रह्म-परमात्मा का वहां प्रत्यक्षदर्शन करता है॥ १३॥

तदेव प्रपञ्चयति-

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं प्रश्येन्निगूढवत्॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

अग्रिम मंत्र में अरणीमन्थन के दृष्टान्त को विस्तार से समझाया गया है।

अन्वयः-स्वदेहम् अरणिं प्रणवं च उत्तरारणिं कृत्वा ध्यानिर्मर्थनाभ्यासाद् देवं निगूढवत् पश्येत्॥ १४॥

मन्त्रार्थ-साधक को चाहिये कि वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये अपने शरीर को अरणि के निचले भाग (अधरारणि) के रूप में प्रयुक्त करे और अरणि के ऊपरी भाग (उत्तरारणि) के समान प्रणवजप का प्रयोग करे। फिर जिस प्रकार अरणीमन्थन से उसमें गुप्त रूप से वास करने वाले अग्नि का दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार बार बार ध्यान द्वारा वह वहां स्वप्रकाश चित्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करे॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्

स्वदेहमिति। स्वदेहमरणिं कृत्वाऽधरारणिं ध्यानमेव निर्मथनं तस्य निर्मथनस्याऽभ्यासाद् देवं ज्योतीरूपं प्रपश्येन्निगूढाग्निवत्॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

योगी जिस देह को धारण करता है उसका वह अपना शरीर ही अरणीस्थित नीचे का काष्ठखण्ड है। परमात्मा का बार बार ध्यान अरणीमन्थन है। योगी का कर्तव्य है कि प्रणवजप द्वारा बार बार परब्रह्म का ध्यान करके वह अपने देह में ज्योतिपुञ्जस्वरूप चैतन्यमय आत्मा का उसी प्रकार साक्षात्कार करे, जिस प्रकार अरणीमंथन द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष दर्शन किया जाता है॥ १४॥

उक्तस्याऽर्थस्य द्रढिम्ने दृष्टान्तान् बहून् दर्शयति-

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पि-
राप: स्त्रोतःस्वरणीषु चाऽग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥ १५॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण—अग्रिम मन्त्र में ब्रह्मसाक्षात्कार की पुष्टि में विविध दृष्टान्त प्रदर्शित है।

अन्वयः—तिलेषु तैलम् इव, दधिनि सर्पिः इव, स्रोतःसु आपः इव अरणीषु च अग्निः इव, एवं आत्मनि असौ आत्मा गृह्यते, यः सत्येन तपसा एनम् अनुपश्यति॥ १५॥

मन्त्रार्थ—जिस प्रकार तिलराशि में तेल रहता है, दही में घी रहता है, भूस्रोतों में जलधाराएं रहती हैं, और अरणि में अग्नि रहता है, और उस उसका साक्षात्कार प्रयत्न-पूर्वक किया जाता है, उसी प्रकार अपनी अन्तरात्मा में ही वह उस परमात्मा का दर्शन कर सकता है, जो सत्य और तप के द्वारा उसके साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील रहता है॥ १५॥

शाङ्करभाष्यम्

तिलेष्विति। यन्त्रपीडनेन तैलं गृह्यते। दधिनि मथनेन सर्पिरिव। आपः स्रोतःसु नदीषु भूखननेन। अरणीषु चाऽग्निर्मथनेन। एवमात्माऽऽत्मनि स्वात्मनि गृह्यतेऽसौ मननेनाऽऽत्मभूतदेहादिष्वन्नमयाद्यशेषोपाधिप्रविलापनेन निर्विशेषे पूर्णानन्दे स्वात्मन्येवाऽवगम्यत इत्यर्थः।

केन तर्हि पुरुषेणाऽऽत्मन्येव गृह्यते? इत्यत आह—सत्येन यथाभूतहितार्थवचनेन भूतहितेन, "सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्" इति स्मरणात्। तपसेन्द्रियमनसामैकाग्र्यलक्षणेन, "मनसश्चेन्द्रियाणां च एकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मरणात्। एनमात्मानं योऽनुपश्यति॥ १५॥

तात्पर्यदीपिका

कोल्हू अथवा अन्य मशीनों पर तिल को पेरने से उनमें से तेल निकलता है। दही को मथनी से मथने से उसमें से घी निकलता है। जमीन के नीचे बहने वाली जलधारा को जमीन खोद कर बाहर प्रवाहित किया जा सकता है। अरणी-मंथन से (अथवा दियासलाई को रगड़ने से) उसमें से आग प्रकट हो सकती है। इसी प्रकार अपनी ही अन्तरात्मा में सुप्त परमात्मा को जगाकर उसका दर्शन किया जा सकता है। उसके लिए आत्मचिन्तन (मनन) आवश्यक है। देह इन्द्रिय आदि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों (उपाधियों) से घिरे हुए हैं, जिन्हें हम हमारी आत्मा समझते हैं। उनके बीच में आत्मा वास करती है। उन उपाधियों का जब क्रमशः विलय होता है, तब हम अपनी अन्तरात्मा में ही परमात्मा का दर्शन करते हैं। वस्तुतः हमारी अन्तरात्मा निर्विशेष और अखण्ड आनन्दस्वरूप है, किन्तु उपाधियों से घिरी होने के कारण वहां पर हम परमात्मा का दर्शन नहीं कर सकते, उसके लिये उनका विलयन (प्रविलापन) अत्यंत आवश्यक है और वह मनन (निरन्तर ध्यान) द्वारा ही सम्भव है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार का अधिकारी पुरुष कौन है?

कौन पुरुष आत्मसाक्षात्कार करता है? उसका समाधान चतुर्थ चरण दे रहा है–'सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति', यहां 'सत्य' का अर्थ वह भाषण है, जिसके द्वारा प्राणिमात्र का कल्याणसम्पादन हो। जैसा कि स्मृतिवचन है–'सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्' जो प्राणिमात्र का हितकारी होता है, उसे ही 'सत्य' वचन कहते हैं। 'तप' का अर्थ है अपने पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना और त्वचा) तथा अन्तःकरण मन को एकाग्र करना। जैसा कि वेदवचन है–

'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः'।

आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी वही होता है जो जीवन में प्राणिमात्र के लिये कल्याणकारी सत्यभाषण करे और ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण को एकाग्र कर परमात्मा का निरन्तर ध्यान करे॥ १५॥

कथमेनमनुपश्यति? इत्यत आह–

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवाऽर्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम्॥
तद् ब्रह्मोपनिषत् परम्॥ १६॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषदः प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण–इस मन्त्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि ब्रह्मज्ञानी किस प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार करता है?

अन्वयः–क्षीरे सर्पिरिव अर्पितं सर्वव्यापिनम् आत्मविद्यातपोमूलम् आत्मानम् उपनिषत्परं तत् ब्रह्म उपनिषत्परं तद् ब्रह्म (अनुपश्यति)॥ १६॥

मन्त्रार्थ–जिस प्रकार दूध में घी सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार वह परमात्मा भी सर्वव्यापक है जो आत्मविद्या और तप का मूल है। वस्तुतः जब ब्रह्मज्ञानी जिस आत्मा का ध्यान करता है, वह उसकी अन्तरात्मा ही होती है, वही उपनिषदों में वर्णित रहस्यमय परब्रह्म परमात्मा है, वही रहस्यभूत परब्रह्म परमात्मा है॥ १६॥

शाङ्करभाष्यम्

सर्वव्यापिनमिति। सर्वं प्रकृत्यादिविशेषान्तं व्याप्याऽवस्थितं न देहेन्द्रियाद्यध्यात्ममात्रावस्थितमात्मानं क्षीरे सर्पिरिव सारत्वेन निरन्तरतयाऽऽत्मत्वेन सर्वेष्वर्पितमात्मविद्यातपसोर्मूलं कारणम्। श्रूयते च–''एष ह्येव साधु कर्म कारयति'' (कौषी. उ. ३।८), ''ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'' (गीता १०।१०) इति।

अथवाऽऽत्मविद्या च तपश्च यस्याऽऽत्मलाभे मूलं हेतुरिति। तथा च

श्रुतिः–''विद्ययाऽमृतमश्नुते''(ई.उ.११),''तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व''(तै. उ. ३।२।१) इति च।

ब्रह्मोपनिषत् परमुपनिषण्णमस्मिन् परं श्रेय इति। यः सत्यादिसाधन-संयुक्तः स एनं सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवाऽर्पितमात्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परमपश्यति सर्वगतं ब्रह्मात्मदर्शिनाऽऽत्मन्येव गृह्यते नाऽसत्यादियुक्तेन परिच्छिन्नब्रह्मान्नमयाद्यात्मना। श्रूयते च–

''सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।''

''न येषु जिह्ममनृतं न माया च''(प्र. उ. १।१६) इति।

द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्॥ १६॥

॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्कर-भगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

वह परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापी है। वह न केवल देह, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन, अहङ्कार आदि में ही वास करता है, अपितु प्रकृति से लेकर उसके सम्पूर्ण पञ्चभूतादि विकारों में वास करता है। जिस प्रकार दूध में साररूप में घी रहता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र साररूप में विद्यमान है।

आत्माविद्यातपोमूलम्–वही आत्मविद्या और तप का मूल कारण है। जैसा कि श्रुति-स्मृतियों के प्रमाणवचन हैं।

कौषीत्की उपनिषत् (३।८) कहती है–'एष ह्येव साधु कर्म कारयति', अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही प्राणी सत्कर्मों में प्रवृत्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के व्याज से प्राणिमात्र को यह उपदेश देते हैं–

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (गीता १०।१०)–मैं प्राणियों को उस सद्बुद्धि से युक्त करता हूँ, जिसकी प्रेरणा से वे मेरे पास ही पहुंचते हैं। प्राणिमात्र सद्बुद्धि से प्रेरित होकर ही ब्रह्मसाक्षात्कार करते हैं।

'आत्मविद्यायाः तपसः च मूलम्'–यह तत्पुरुष समास करने पर उक्त अर्थ होता है। अथवा–'आत्मविद्या च तपश्च यस्य मूलम्' यह बहुव्रीहि समास करने पर इसका अर्थ होगा आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के मूल कारण दो हैं–ब्रह्मविद्या और तप।

ईशावस्योपनिषद् (११) ब्रह्मविद्या को अमरपदप्राप्ति में कारण मानती हैं–'विद्ययाऽमृतमश्नुते', ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मविद्या द्वारा अमृतत्व का उपभोग करता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् (३।२।१) आदेश देती है–'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व', तप के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा करें।

'तत् ब्रह्मोपनिषत् परम्'—परब्रह्म परमात्मा में ही समस्त 'श्रेयस' विद्यमान है। जो सत्य, तप आदि साधनों से सम्पन्न होता है, वह सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार उसीप्रकार करता है, जिसप्रकार घी चाहने वाला दूध से दही बनाकर और उसको मथकर उससे घी प्राप्त करता है। 'ब्रह्मपुर' (शरीर) में सुप्त अन्तर्यामी आत्मा परब्रह्म परमात्मा ही है, जो आत्मविद्या और तप का मूल कारण है, वही उपनिषदों का परम रहस्य है। वह सर्वव्यापी है। आत्मदर्शी साधक अपनी अन्तरात्मा में ही उसका दर्शन करता है। परन्तु जो असत्य आदि से घिरा होता है अथवा अन्नमय आदि कोषों में विद्यमान परिच्छिन्न देह, इन्द्रिय आदि में उसका अन्वेषण करता है, वह आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता। जैसा कि प्रश्नोपनिषत् (१।१६) कहती है—सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और ब्रह्मचर्य द्वारा नित्य आत्मसाक्षात्कार सम्भव है। जिनमें कुटिलता, अनृत (असत्य) और कपट होता है, वे उसे प्राप्त नहीं कर सकते—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
न येषु जिह्ममनृतं न माया च'

'तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्' इसकी दो बार आवृत्ति अध्यायसमाप्ति का सूचक है। अथवा इस दृढ़ता को सूचित करने के लिए है कि परब्रह्म परमात्मा ही परम उपनिषत्-स्वरूप है, अन्य नहीं॥ १६॥

॥ इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् की 'तात्पर्यदीपिका'
हिन्दी व्याख्या का प्रथम अध्याय परिपूर्ण॥ १॥



द्वितीयः अध्यायः

द्वितीयाध्यायारम्भप्रयोजनम्–ध्यानमुक्तं 'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवदि'ति परमात्मदर्शनोपायत्वेन। इदानीं तदपेक्षितसाधनविधानार्थं द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तत्सिद्ध्यर्थं सवितारमाशास्ते–

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण–परमात्मा के साक्षात्कार का उपाय है ध्यान, जिसे 'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येद् निगूढवत्' (१।१७) इत्यादि मन्त्रद्वारा प्रथम अध्याय में निरूपित किया गया है। अब ध्यान के लिए अपेक्षित साधन–सामग्री का विधान करने के लिए द्वितीय अध्याय का उपक्रम है। उसके अन्तर्गत प्रथम उसकी सफलता के लिये सविता से अग्रिम मन्त्र में इस प्रकार प्रार्थना की गयी है–

अन्वयः–सविता प्रथमं मनः धियः तत्त्वाय युञ्जानः (धियः) अग्नेः ज्योतिः निचाय्य पृथिव्या अधि आभरत॥ १॥

मन्त्रार्थ–सविता हमारे मन और प्राणों अथवा बुद्धि को परमार्थतत्त्व की प्राप्ति के लिये अन्तर्मुख करते हुए अग्नि की ज्योति को देखकर पृथिवी के ऊपर (इस शरीर में) स्थापित करे॥ १॥

शाङ्करभाष्यम्

युञ्जान इति। 'युञ्जानः प्रथमं मनः'–प्रथमं ध्यानारम्भे मनः परमात्मनि संयोजनीयं धिय इतरानपि प्राणान्, "प्राणा वै धियः" इति श्रुतेः। अथवा–धियो बाह्यविषयज्ञानानि। किमर्थम्? तत्त्वाय तत्त्वज्ञानाय सविता धियो बाह्यविषयज्ञानादग्रेर्ज्योतिः प्रकाशं निचाय्य दृष्ट्वा पृथिव्या अध्यस्मिञ्शरीर आभरदाहरत्।

एतदुक्तं भवति–ज्ञाने प्रवृत्तस्य मम मनो बाह्यविषयज्ञानादुपसंहृत्य परमात्मन्येव संयोजयितुमनुग्राहकदेवतात्मनामग्न्यादीनां यत् सर्ववस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं तत् सर्वमस्मद्वागादिषु संपादयेत् सविता यत्प्रसादादवाप्यते योग इत्यर्थः। अग्निशब्द इतरासामप्यनुग्राहकदेवतानामुपलक्षणार्थः॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

['तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानं ध्यानम्' अर्थात् ध्यान वह स्मृति-परम्परा है, जो तेल की धारा के समान बीच में खण्डित न हो, अविच्छिन्न बनी रहे और वह ध्यानमात्र परमात्मा के स्वरूप का ही करना चाहिए, अन्य का नहीं। तभी उसकी प्राप्ति सम्भव है। उसके लिए मन की एकाग्रता आवश्यक होती है। जिस प्रकार गायत्री मन्त्र में भगवान् सविता (सूर्यनारायण) से यह प्रार्थना की जाती है कि उसका तेज हमारी बुद्धि को प्रेरित करे, उसी प्रकार इस मन्त्र के पूर्वार्ध में यह प्रार्थना की गयी है कि]–

भगवान् सविता (सूर्यनारायण) हमारे मन और धी (बुद्धि) को तत्त्व-ज्ञान के लिये परमात्मा से संयुक्त करे।

आचार्य शंकर के अनुसार 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इत्यादि का अर्थ है सर्वप्रथम अर्थात् ध्यान के आरम्भ में तत्त्वज्ञान के लिये मन को परमात्मा में लगाना चाहिये। साथ ही 'धी' अर्थात् प्राणों को भी लगाना चाहिये। क्योंकि श्रुति उसका अर्थ प्राण ही करती हैं। अथवा 'धी' का अर्थ बाह्य विषय ज्ञान करने पर इसका अर्थ होगा–मन को परमात्मा में लगाना चाहिये, साथ ही मन को बाह्यविषयों से हटाकर केवल परमात्मा से स्वयं को संयुक्त करना चाहिये।

आचार्य शंकर ने 'धियः' का अन्वय उत्तरार्द्ध से भी किया है, और वहां 'धी' शब्द के पञ्चमी विभक्ति को लिया है। आचार्य शंकर के अनुसार 'अग्नि' शब्द का अर्थ वागिन्द्रिय के अभिमानी अग्नि तथा अन्य इन्द्रियों के अभिमानी देवता है। फलतः उत्तरार्द्ध का भावार्थ यह होगा कि अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवता सविता अर्थात् सूर्यनारायण की ही प्रेरणा से अपने-अपने विषयों को अपने-अपने इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं। वे इन्द्रिय स्वाभाविक रूप से बाह्य विषयों को ग्रहण करते हैं।

परब्रह्म-परमात्मा बाह्य पार्थिव विषयों में नहीं अपितु हमारे पञ्चकोषमय शरीर के हृदयस्थल में ही रहता है–अत एव उसे 'पुरुष' कहते हैं–'पुरि नवद्वारे पुरे (शरीरे) शेते इति पुरुषः'।

भगवान् सविता (सूर्यनारायण) मन और इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं को यह प्रेरणा दे कि वे बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट न हों, अपितु हमारे ही शरीर के हृदय-स्थल में अवस्थित परमात्मा की ओर आकृष्ट हों, वागिन्द्रिय परमात्मा का गुणगान करे। पैर देवमन्दिरों की ओर बढ़ें। हाथ भगवान् की सेवा करें। आखें उन्हें ही देखें। कान उन्हें ही सुने। जीभ उनका नैवेद्य ही ग्रहण करे। त्वगिन्द्रिय उनके कपड़ों को धारण करे। घ्राणेन्द्रिय धूपदीपादि गंध की ओर आकृष्ट हो। यहां 'आभरत' यह 'लङ्' लकार का प्रयोग भूतकाल में नहीं, अपितु 'लोट्' के अर्थ में हुआ है॥ १॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या॥ २॥

अन्वयः—वयं युक्तेन मनसा सवितुः देवस्य सवे सुवर्गेयाय शक्त्या (प्रयतामहे)॥ २॥

मन्त्रार्थ—हमलोग परमात्मा के ध्यान में एकाग्र मन के द्वारा भगवान् सविता (सूर्यनारायण) की अनुमति प्राप्त होने पर स्वर्गप्राप्ति के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

युक्तेनेति। यदा तत्त्वाय मनो योजयन्ननुग्राहकदेवताशक्त्याधानेन देहेन्द्रियदार्ढ्यं करोति तदा युक्तेन सवित्रा परमात्मनि संयोजितेन मनसा वयं तस्य देवस्य सवितुः सवेऽनुज्ञायां सत्यां सुवर्गेयाय स्वर्गप्राप्तिहेतुभूताय ध्यानकर्मणे यथासामर्थ्यं प्रयतामहे। परमात्मवचनोऽत्र स्वर्गशब्दः। तत्प्रकरणात्तस्यैव सुखरूपत्वात्तदंशत्वाच्चेतरस्य सुखस्य। तथा च श्रुतिः—"एतस्यैवाऽऽनन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ. उ. ४। ३। ३२) इति॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

जब भगवान् सूर्यनारायण तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए मन को एकाग्र करके इन्द्रियाभिमानी देवताओं को शक्तिसम्पन्न करते हुए हमारे शरीर और इन्द्रियों को मजबूत करेंगे, तब भगवान् सूर्यनारायण की प्रेरणा से ध्यानस्थ मन के द्वारा हमलोग उसकी अनुमति मिलने पर ही स्वर्ग अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के कारणभूत ध्यानकर्म की ओर यथाशक्ति प्रयास करेंगे।

[यहाँ 'स्वर्ग' शब्द का विशिष्ट अर्थ है। 'स्वर्ग' की परिभाषा इस प्रकार है—

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥"

जिसमें जरा भी दुःख न मिला हो और न बाद में भी उससे दुःख हो, कामना के साथ ही जो प्राप्त हो उसे 'स्वर्ग' कहते हैं। शाश्वत-सुख का कारण परब्रह्म परमात्मा ही होता है, क्षणिक स्वर्गलोक आदि भोग्य-सामग्री शाश्वत सुख नहीं होता। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—पुण्यकर्मों का फल नष्ट होते ही मनुष्य स्वर्ग से पुनः मृत्युलोक अर्थात् जन्म-मरण-चक्र में प्रवेश करता है। अतः स्वर्गसुख क्षणिक है, परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का सुख शाश्वत है, अतः यहां स्वर्ग शब्द का अर्थ शाश्वतसुख का हेतु परब्रह्म परमात्मा है। क्योंकि यह सन्दर्भ परब्रह्म परमात्मा का ही है, वही सुखस्वरूप है, अन्य सभी सुख उसी के अंश हैं।]

बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।३२) इसी को प्रमाणित करते हैं- 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'।

इसकी व्याख्या इस प्रकार है-अन्यानि भूतानि = अन्य सभी प्राणी, एतस्यैव आनन्दस्य = इसी अखण्ड ब्रह्मानन्द के, मात्राम् उपजीवन्ति = अंशस्वरूप आनन्द का उपभोग कर जीवित रहते हैं॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

'युक्त्वाये'ति पुनरपि सोऽप्येवं करोत्विति प्रार्थना-

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

अवतरण-अग्रिम मंत्र में पुनश्च अन्य प्रार्थना की गयी है।

अन्वय-सविता सुवः यतः धिया दिवं बृहज्योतिः करिष्यतः देवान् मनसा युक्त्वाय तान् प्रसुवाति॥ ३॥

मन्त्रार्थ-सविता देवता 'स्वर्ग' (पूर्णानन्दमय परब्रह्म परमात्मा) की ओर जाने-वाली अपनी सम्यग् दृष्टि के द्वारा द्योतनशील ब्रह्म को प्रकाशमय करने वाले इन्द्रियों को मन के साथ (परब्रह्म परमात्मा से) संयुक्त करके उन्हें सामर्थ्य प्रदान करे॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्

युक्त्वाय योजयित्वा देवान् मनआदीनि करणानि तेषां विशेषणं सुवः स्वर्गसुखं पूर्णानन्दब्रह्म, यत इति द्वितीयाबहुवचनाम्, पूर्णानन्दब्रह्म गच्छतो न शब्दादिविषयान्।

पुनरपि विशेषणान्तरं धिया सम्यग्दर्शनेन दिवं द्योतनस्वभावं चैतन्यैकरसं बृहन्महद् ब्रह्म ज्योतिः प्रकाशं करिष्यतः पूर्णानन्द-ब्रह्माऽऽविष्करिष्यतः। अत्र द्वितीयाबहुवचनम्। सविता प्रसुवाति तान् करणानि। यथा करणानि विषयेभ्यो निवृत्तान्यात्माभिमुखान्यात्मप्रकाशमेव कुर्युस्तथाऽनुजानातु सवितेत्यर्थः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में सविता देवता से यह प्रार्थना की गयी है कि वे सभी इन्द्रियों को बाह्य-विषयों से विमुख करे और उन्हें परब्रह्म परमात्मा से सम्बद्ध करे।

आचार्य शंकर ने इस मन्त्र की व्याख्या मन्त्र में अवस्थित पदक्रम के अनुसार की है। उसकी अन्वयानुसारी व्याख्या इस प्रकार होगी-

सविता = भगवान् सूर्यनारायण, 'सुवः' = स्वर्ग से भी अधिक शाश्वत सुखदायक परब्रह्म परमात्मा की ओर, 'यतः' = आकृष्ट, 'धिया' = अपनी बुद्धि अथवा सम्यग् दृष्टि के द्वारा, 'दिवम्' = द्योतनशील अथवा चैतन्यमय, 'बृहत्' = विस्तृत ब्रह्म को, 'ज्योतिः

करिष्यतः' = भविष्य में आलोकित करनेवाले, 'देवान्' = इन्द्रियों को, 'मनसा' = मन के साथ, 'युक्त्वाय' = संयुक्त करके, 'तान्' = उन इन्द्रियों को, 'प्रसुवाति' = परब्रह्म परमात्मा की ओर जाने की प्रेरणा दे।

इस मन्त्र का खण्डान्वय होगा–'सविता देवान् मनसा युक्त्वाय तान् प्रसुवाति'। 'देवान्' के दो विशेषण हैं–

(१) सुवः यतः–यह द्वितीयान्त बहुवचन का प्रयोग है। 'सुवः' का सामान्य अर्थ है 'स्वर्ग', किन्तु उसका विशिष्ट अर्थ है अखण्ड-शाश्वत सुखदायी परब्रह्म परमात्मा। वे इन्द्रिय शब्द आदि विषयों की ओर आकृष्ट नहीं है, अपितु परब्रह्म परमात्मा की ओर ही आकृष्ट हैं यही इसका आशय है।

(२) 'धिया बृहत् ज्योतिः करिष्यतः'–परब्रह्म परमात्मा विस्तृत और प्रकाशशील है। भविष्य में वे इन्द्रिय सम्यग् दृष्टि द्वारा उसी प्रकाश से स्वयं को आलोकित करेंगे। अर्थात् परब्रह्म-परमात्मा के अखण्ड आनन्द की अनुभूति करेंगे।

इस मन्त्र का आशय यह है कि सविता देवता ऐसा उपाय करे, जिससे मन और ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय बाह्य विषयों से विमुख हो और परब्रह्म परमात्मा के साथ संयुक्त होकर उसके प्रकाश से स्वयं प्रकाशित हों और उसका प्रकाश चारों ओर फैलाएं। सविता देवता उन इन्द्रियों को यह शक्ति प्रदान करे॥ ३॥

तस्यैवमनुजानतो महती परिष्टुतिः कर्तव्येत्याह–

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ ४॥

अवतरण–वेदमाता कह रही हैं कि इस प्रकार इन्द्रियाभिमानी देवताओं को शक्ति प्रदान करने वाले सविता देवता (भगवान् सूर्यनारायण) की स्तुति उचित ही है–

अन्वयः–(ये) विप्राः मनः युञ्जते, उत धियः युञ्जते, (तैः विप्रैः), (यः) वयुनावित् एकः होत्राः इत् विदधे, विप्रस्य बृहतः विपश्चितः सवितुः देवस्य महती परिष्टुतिः (कर्तव्या।)॥ ४॥

मन्त्रार्थ–जो ब्राह्मण (परब्रह्म परमात्मा में) अपने अन्तःकरण मन तथा अन्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को लगाते हैं, उन ब्राह्मणों का यह कर्तव्य है कि वे सर्वत्र व्याप्त विशाल सर्वज्ञ सविता देवता (भगवान् सूर्यनारायण) की विशिष्ट स्तुति करें। क्योंकि सविता देवता ने ही समस्त यज्ञक्रियाओं का विधान किया है, सर्वज्ञानसम्पन्न वे ही एकमात्र साक्षी देवता हैं। (उन्हीं की प्रेरणा से इन्द्रियाभिमानी देवता कार्य करते हैं, वे ही मन और अन्य इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर परब्रह्म परमात्मा से संयुक्त कर सकते हैं।)॥ ४॥

शाङ्करभाष्यम्

युञ्जत इति। युञ्जते योजयन्ति ये विप्रा मन उत युञ्जते धिय इतराण्यपि करणानि। धीहेतुत्वात्करणेषु धीशब्दप्रयोगः। तथा च श्रुत्यन्तरम्–''यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह'' (क. उ. २।३।१०) इति। विप्रस्य विशेषेण व्याप्तस्य बृहतो महतो विपश्चितः सर्वज्ञस्य देवस्य सवितुर्मही महती परिष्टुतिः कर्तव्या। कैर्विप्रैः।

पुनरपि तमेव विशिनष्टि–'वि होत्रा दधे'। होत्राः क्रिया यो विदधे वयुनावित् प्रज्ञावित् सर्वज्ञानात् साक्षिभूत एकोऽद्वितीयः। ये विप्रा मनआदिकरणानि विषयेभ्य उपसंहृत्याऽऽत्मन्येव योजयन्ति तैर्विप्रस्य बृहतो विपश्चितो महती परिष्टुतिः कर्तव्या। होत्रा विदधे वयुनाविदेकः सविता॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

'युञ्जते मन उत युञ्जते धियः' इत्यादि। इसका सामान्य अर्थ होगा–वे ब्राह्मण, जो मन और बुद्धि को परमात्मा से संयुक्त करते हैं। मन अन्तःकरण, (आन्तरिक इन्द्रिय) है। 'धी' शब्द यहां केवल 'बुद्धि' अर्थ का वाचक न होकर पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि से प्रेरित इन्द्रिय है। इसमें कठोपनिषत् का वचन प्रमाण है– 'यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह' (२।३।१०), जब पांच ज्ञान या बुद्धियां अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ स्थिर रहते हैं।

यहाँ 'विप्र' शब्द का दो बार प्रयोग है–(१) प्रथमा बहुवचन में, (२) षष्ठी एकवचन में। इनमें प्रथम का अर्थ है ब्राह्मण, द्वितीय 'विप्र' पद सविता देवता का विशेषण है, जिसका अर्थ है विशेष रूप से व्याप्त–'विशेषेण व्याप्तस्य'।

मन्त्र के तृतीय चरण में सविता देवता का वर्णन है–सविता देवता ही यज्ञ यागादि का सम्पादन करता है। विप्रगण सविता देवता की ही प्रेरणा से यज्ञ-यागादि सम्पादन करते हैं और परमात्मा में मन लगाते हैं। वही 'वयुनावित्' = सर्वज्ञानसम्पन्न, सभी का साक्षी अद्वितीय देव है। वही बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाकर उन्हें परब्रह्म परमात्मा से संयुक्त करता है। उसकी विशिष्ट स्तुति करना ब्राह्मणों का प्रधान कर्तव्य है॥ ४॥

किञ्च (और भी)–

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि-
र्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ ५॥

अन्वयः—किञ्च, वां पूर्व्यं ब्रह्म नमोभिः युजे, सूरेः पथ्येव श्लोकः वि एतु, विश्वे अमृतस्य पुत्राः शृण्वन्तु ये दिव्यानि धामानि आतस्थुः॥ ५॥

मन्त्रार्थ—(देवताओं!) मैं आपसे सम्बद्ध पुरातन परब्रह्म परमात्मा में अपने मन तथा ज्ञानेन्द्रियों को नमन आदि विविध उपायों द्वारा लगाता हूँ। जिस प्रकार सन्मार्ग में प्रवृत्त विद्वान् की कीर्ति फैलती है, उसी प्रकार मेरे द्वारा की गयी स्तुति चारो ओर फैले। अमृत हिरण्यगर्भस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के पुत्रो! जिन्होंने दिव्य धामों पर अपना अधिकार जमा लिया है आप सभी मेरी इस प्रार्थना अथवा स्तुति को अवश्य सुनें॥ ५॥

शाङ्करभाष्यम्

युजे वामिति। युजे वां समादधे वां युवयोः करणानुग्राहकयोः संबन्धि प्रकाश्यत्वेन तत्प्रकाशितं ब्रह्मेत्यर्थः। अथवा वामिति बहुवचनार्थे युष्माकं करणभूतं ब्रह्म पूर्व्यं पूर्वं चिरन्तनं समादधे। नमोभिर्नमस्कारैश्चित्त-प्रणिधानादिभिः।

एष एवं समादधानस्य मम श्लोकः कीर्तितव्य एतु विविधमेतु पथ्येव सूरेः, पथि सन्मार्गे। अथवा पथ्या कीर्तिरित्येतद्वाक्यं प्रार्थनारूपं शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य ब्रह्मणः पुत्राः सूरात्मनो हिरण्यगर्भस्य। के ते? ये धामानि दिव्यानि दिवि भवान्यातस्थुरधितिष्ठन्ति॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

यहाँ 'वाम्' पद युष्मद् शब्द के षष्ठी द्विवचन का रूप है। इसका सम्बन्ध ब्रह्म से है। षष्ठी द्विवचन का रूप मानने पर सम्बोधन का अध्याहार करना होगा और वह सम्बोधन होगा—'हे मनः धियः च'। इसका अर्थ होगा—हे मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठाता देवताओं! 'वाम्' = आप दोनों पूर्व्यम् = पुरातन, ब्रह्म = ब्रह्म में नमोभिः= नमन, चित्तप्राणिधान, इत्यादि उपायों द्वारा, युजे = मन एवं ज्ञानेन्द्रियों को संयुक्त करता हूँ। यहां 'वां ब्रह्म' का अभिप्राय यह है कि यतः, मन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और इन्द्रियाभिमानी देवता दोनों ब्रह्म के आलोक से प्रकाशित हैं, अतः वह ब्रह्म उन दोनों का अथवा सभी का है। 'पद्ये यशसि च श्लोकः' इस अमरकोष के वचन के अनुसार यहां श्लोक शब्द के दो अर्थ हैं—श्लोक और कीर्ति। दोनों का संयुक्त अर्थ यहां लिया गया है—पद्यमय स्तुतिपाठ। 'पथ्येव' का दो प्रकार से सन्धि-विच्छेद होगा—'पथि+एव' और 'पथ्या+इव'। प्रथम पदच्छेद में 'एव' का अर्थ 'इव' होगा। उसका अन्वय इस प्रकार होगा 'पथि (वर्तमानस्य) सूरेः श्लोकः एव (मे श्लोका) वि एतु' इसका अर्थ होगा—जिस प्रकार सन्मार्ग पर प्रवृत्त विद्वान् की कीर्ति होती है, उसी प्रकार मेरे द्वारा किया गया मन्त्रमय स्तुतिपाठ चारो ओर प्रसारित हो।

द्वितीय पदच्छेद के अनुसार 'पथ्या' का अर्थ है–इस मन्त्र का स्तुतिपाठ। इस पद का सम्बन्ध तृतीय चरण के साथ करने पर यह अन्वय होगा–'हे विश्वे अमृतस्य पुत्राः पथ्या शृण्वन्तु' जिसका अर्थ होगा–

(हे) विश्वे = समस्त, अमृतस्य पुत्राः= अमर शाश्वत, हिरण्यगर्भ के सूर्य के समान तेजस्वी पुत्रों!, पथ्या = 'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः विश्लोक एतु' इत्यादि मन्त्रमय प्रार्थनावाक्य को, शृण्वन्तु = सुने।

अब यह जिज्ञासा होती है कि अमृतपुत्रों से स्तुतिपाठश्रवण की प्रार्थना क्यों की जा रही है? वे कौन हैं? इसका समाधान चतुर्थ चरण दे रहा है–आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः, हिरण्यगर्भ के प्रकाश से जो धाम आलोकित है, द्युलोक के उन समस्त दिव्य धामों पर उन्हीं अमृतपुत्रों का अधिकार है वे स्वयं भी उसी आलोक से प्रकाशित है। अतः यह प्रार्थना समुचित ही है॥ ५॥

अवतरणम्–'युञ्जानः प्रथमं मन' (२।१) इत्यादिना सवित्रादिप्रार्थना प्रतिपादिता। यस्तु पुनः प्रार्थनामकृत्वा तैरननुज्ञातः सन् योगे प्रवर्तते स भोगहेतौ कर्मण्येव प्रवर्तत इत्याह–

अग्निर्यत्राऽभिमथ्यते वायुर्यत्राऽधिरुध्यते।
सोमो यत्राऽतिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥ ६॥

अवतरण–'युञ्जानः प्रथमं मन' इत्यादि मन्त्र द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए सविता देवता आदि से प्रार्थना का विधान किया गया है। इस मन्त्र में यह प्रतिपादित है कि जो प्रार्थना नहीं करता, उसका मन व अन्य इन्द्रिय भोगदायी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, मोक्षदायी कर्मों में नहीं।

अन्वयः–यत्र अग्निः अभिमथ्यते, यत्र वायुः अधिरुध्यते, यत्र सोमः अतिरिच्यते, तत्र मनः सञ्जायते॥ ६॥

मन्त्रार्थ–जहाँ हवनादिकर्म के लिए स्थापनाहेतु अरणी द्वारा अग्निमन्थन किया जाता है, जहां वायु का अधिरोध होता है और जहां सोम आदि लता अधिक उत्पन्न होती है, वहाँ स्वाभाविक रूप से मन की प्रवृत्ति होती है॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

अग्निर्यत्रेति। अग्निर्यत्राऽभिमथ्यत आधानादौ। वायुर्यत्राऽधिरुध्यते प्रवर्ग्यादौ। सवित्रा प्रेरितः शब्दमभिव्यक्तं करोति। सोमो यत्र दशापवित्रात् पूयमानोऽतिरिच्यते तत्र क्रतौ संजायते मनः।

तात्पर्यदीपिका

जहाँ अग्नि–आधान आदि कर्म में अरणी द्वारा अग्निमन्थन किया जाता है, जहां प्रवर्ग्य आदि वायुस्तुति में वायु का अधिरोध होता है अर्थात् जहां वायु सविता से प्रेरित

होकर शब्द की अभिव्यक्ति करता है, जहां कपड़े से छाना हुआ सोमरस अधिक मात्रा में पाया जाता है, उस यज्ञ-यागादि अनुष्ठान में स्वाभाविक रूप से अन्तःकरण मन तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है।

शाङ्करभाष्यम्

'अग्निर्यत्राऽभिमथ्यत' इत्यत्राऽपरा व्याख्या—अग्निः परमात्मा, अविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात्। उक्तं च—

तेषामेवाऽनुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०।११) इति।

यत्र यस्मिन् पुरुषे मथ्यते 'स्वदेहमरणिं कृत्वे'त्यादिना पूर्वोक्त-ध्याननिर्मथनेन, वायुर्यत्राऽधिरुध्यते शब्दमव्यक्तं करोति रेचकादिकरणात्, सोमो यत्राऽतिरिच्यतेऽनेकजन्मसेवया तत्र तस्मिन् यज्ञदानतपःप्राणायाम-समाधिविशुद्धान्तःकरणे संजायते परिपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्माकारं मनः समुत्पद्यते, नाऽन्यत्राऽशुद्धान्तःकरणे।

तात्पर्यदीपिका

'अग्निर्यत्राऽभिमथ्यते' इत्यादि मन्त्र की भिन्न व्याख्या इस प्रकार है—

'अग्निर्यत्राऽभिमथ्यते'—परमात्मा हमारे इसी शरीर में वास करता है। 'अग्नि' शब्द यहां उसी परमात्मा का वाचक है, क्योंकि वह हमारी अविद्या और उसके कार्यों को जला डालता है। श्रीमद्भगवद्गीता भी इसी का समर्थन करती है—

'तेषामेवानुकम्पार्थम्' (१०।११) इत्यादि। इसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

''उनके हृदय में बैठ पार्थ! कृपार्थ अपने ज्ञान का।
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का॥'' (श्रीकृष्णगीता १०।११)

इस प्रकार प्रथम चरण का अर्थ होगा—जिस शरीररूपी अरणी के द्वारा ध्यान आदि उपायों से अविद्या और उसके कार्यों का दाह करनेवाले अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा का मन्थन किया जाता है। जैसा कि प्रथम अध्याय में विधान किया है—'स्वदेहमरणिं कृत्वा' इत्यादि (१०।१४)।

'वायुर्यत्राऽधिरुध्यते'—जहां वायु का अधिरोध होता है। अर्थात् प्राणवायु के अधीन मन्त्रोच्चारणादि होता है। जब प्राणायाम किया जाता है, तब रेचक आदि क्रिया के द्वारा वायु अव्यक्त शब्द करता है।

'सोमो यत्राऽतिरिच्यते'—जन्म जन्मान्तरों में अग्नि की उपासना से जिन यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों में सोमरस प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

'तत्र सञ्जायते मनः'—यज्ञ-दान-तप-प्राणायाम-समाधि आदि द्वारा निर्मल अन्तःकरण में ही हमारा मन उस परब्रह्म परमात्मा का आकार ले लेता है, जो परिपूर्ण आनन्दमय और अद्वितीय है। अर्थात् वह उसी परब्रह्म-परमात्मा में समा जाता है।

शाङ्करभाष्यम्

उक्तं च—''प्राणायामविशुद्धात्मा यस्मात् पश्यति तत्परम्।
तस्मान्नाऽतः परं किञ्चित् प्राणायामादिति श्रुतिः॥
अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये।
तत्क्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः॥
जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥''

तस्मात् प्रथमं यज्ञाद्यनुष्ठानम्। ततः प्राणायामादि, ततः समाधिस्ततो वाक्यार्थज्ञाननिष्पत्तिस्ततः कृतकृत्यतेति॥ ६॥

तात्पर्यदीपिका

'प्राणायामविशुद्धात्मा'—जिसका अन्तःकरण प्राणायाम क्रिया से निर्मल रहता है, वह जीवात्मा ही परब्रह्म-परमात्मा का आकार लेकर, तदाकार होकर साक्षात्कार करता है। अतः प्राणायाम से बढ़कर कुछ भी नहीं है ऐसा वेदमाता कहती है।

'अनेक जन्मसंसार' इत्यादि। हम जन्म-जन्मान्तरों से जो पाप-संचय कर रहे हैं, उनके क्षीण होने पर ही गोविन्द अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में आसक्ति होती है, उसके पूर्व नहीं।

'जन्मान्तरसहस्रेषु'—हजारों जन्मों में तपस्या, तत्त्वज्ञान और परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये समाधि इन उपायों से जब मनुष्यों के पाप कट जाते हैं, तब परब्रह्म-परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण में भक्ति होती है, उसके पूर्व नहीं।

इसलिये ब्रह्मप्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—(१) प्रथम यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान, (२) पुनः प्राणायाम आदि, (३) फिर समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता, (४) अनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का तात्पर्यज्ञान और (५) अनन्तर जन्मसाफल्य अर्थात् जीवात्मा का ब्रह्माकार होकर उसके साथ विलय॥ ६॥

यस्मादननुज्ञातस्य तस्य भोगहेतौ कर्मण्येव प्रवृत्तिस्तस्मात्—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत्॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

अन्वयः—सवित्रा प्रसवेन ब्रह्म जुषेत। तत्र योनिं कृणवसे। हि ते पूर्वं न अक्षिपत्॥ ७॥

अवतरण–प्रस्तुत मन्त्र में यह प्रतिपादित है कि सविता देव की अनुज्ञा से कर्मानुष्ठान करने पर वह कर्म बन्धनकारक नहीं होगा।

मन्त्रार्थ–सूर्यनारायण से अनुमति लेकर ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए। उसके लिए ध्यानयोग आवश्यक है। फलतः कर्मानुष्ठान बन्धनकारक नहीं होंगे॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

सवित्रा प्रसवेन सस्यप्रसवेनेति यावत्। जुषेत सेवेत ब्रह्म पूर्व्यं चिरन्तनम्। तस्मिन् ब्रह्मणि योनिं निष्ठां समाधिलक्षणां कृणवसे कुरुष्व। एवं कुर्वतो मम किं ततो भवति? इत्यत आह–न हि त इति। न हि ते पूर्तं स्मार्तं कर्मेष्टं श्रौतं च कर्माऽक्षिपन्न पुनर्भोगहेतोर्बध्नाति, ज्ञानाग्निना सबीजस्य दग्धत्वात्। उक्तं च–'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयत एवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा. उ. ५। २४। ३) इति, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (गीता ४। ३७) इति च॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् का जन्मदाता होने के कारण भगवान् सूर्यनारायण को 'सविता' कहते हैं, क्योंकि अन्न का उत्पादन उन्हीं के द्वारा होता है, उनकी अनुज्ञा प्राप्त करके ही उस ब्रह्म की उपासना करने चाहिये, जो 'पूर्व्य' = चिरन्तन, सब का आदिकारण है। उस परब्रह्म परमात्मा में अपनी निष्ठा रखो, समाधि लगाओ। यदि यह जिज्ञासा हो कि इससे मेरा क्या लाभ होगा? इसका समाधान वेदमाता इस प्रकार दे रही हैं–क्योंकि त्रिविध कर्मों में 'पूर्व्य' सञ्चित-कर्म, वह 'पूर्त' स्मार्त कर्म हो अथवा 'इष्ट' श्रौत कर्म, बन्धन का कारण-विघ्नकारक नहीं होंगे। भोग के कारण नहीं होंगे। जो कर्म सवितादेव की अनुज्ञा के बिना किये जाते हैं, वे भोगहेतु, विघ्नकारक, बन्धन में डालने वाले होते हैं। अतः सवितादेव की अनुज्ञा प्राप्त करके ही सभी कर्म करने चाहिए।

ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्मसंस्कार बीजसहित नष्ट होते हैं इसका समर्थन छान्दोग्य उपनिषद् इस प्रकार करती है–'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयत एवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (५। २४। ३)। जिस प्रकार आग में पड़ा हुआ सींक का टुकड़ा भस्मसात् होता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि में पड़े हुए समस्त पाप भस्म होते हैं।

गीता भी यही कहती है–

"(यथैधांसि समिद्धोऽग्निऽर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन!।)
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥" (गीता ४।३७)

इसका हिन्दी पद्यानुवाद 'श्रीकृष्णगीता' में इस प्रकार है–

''ज्यों पार्थ! पावक प्रज्वलित इंधन जलाती है सदा।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा॥''

(श्रीकृष्णगीता ४। ३७)॥७॥

तत्र योनिं कृणवस इत्युक्तम् कथं योनिकरणम्? इत्याशङ्क्य तत्प्रकारं दर्शयति—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण—पूर्व मन्त्र में समाधि द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार का उपदेश दिया गया है। वह समाधि ध्यानयोग द्वारा सम्भव है, जिसका प्रकार इस मंत्र में वर्णित है।

अन्वयः—विद्वान् त्रिरुन्नतं शरीरं समं स्थाप्य, इन्द्रियाणि मनसा हृदि संनिवेश्य, ब्रह्मोडुपेन सर्वाणि भयावहानि स्त्रोतांसि प्रतरेत॥ ८॥

मन्त्रार्थ—विद्वान् को चाहिए कि वह सिर, गर्दन और छाती इन तीन अवयवों को ऊँचा रखकर शरीर को सीधा करे। फिर मन के द्वारा अन्य ज्ञानेन्द्रियों को वक्षस्थल में केन्द्रित करे। ब्रह्मवेत्ता वहां ओंकाररूप नौका के द्वारा उन समस्त जलप्रवाहों को भी पार कर जाता है, जो अत्यन्त डरावने लगते हैं॥ ८॥

शाङ्करभाष्यम्

त्रिरुन्नतमिति। त्रीण्युरोग्रीवाशिरांस्युन्नतानि यस्मिञ्शरीरे तत् त्रिरुन्नतं संस्थाप्यते समं शरीरम्। हृदीन्द्रियाणि मनश्चक्षुरादीनि मनसा संनिवेश्य संनियम्य ब्रह्मैवोडुपस्तरणसाधनं तेन ब्रह्मोडुपेन। ब्रह्मशब्दं प्रणवं वर्णयन्ति। तेनोडुपस्थानीयेन प्रणवेन, काकाक्षिवदुभयत्र संबध्यते। तेनोपसंहृत्य तेन प्रतरेताऽतिक्रामेद् विद्वान् स्त्रोतांसि संसारसरितः स्वाभाविकाविद्याकाम-कर्मप्रवर्तितानि भयावहानि प्रेततिर्यगूर्ध्वप्राप्तिकराणि पुनरावृत्तिभाञ्जि॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'—'त्रीणि उन्नतानि यस्मिन् तत् त्रिरुन्नतम्' यह 'त्रिरुन्नतं' का समास-विग्रह है, जो 'शरीरं' का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि समाधि में ध्यान करते समय सर्वप्रथम शरीर के तीन अवयव-सिर, गर्दन और वक्षस्थल को ऊँचा कर समान रखना चाहिए।

हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य—पुनश्च मन के द्वारा ही मन और नेत्र, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वचा को हृदय में नियन्त्रित कर एकाग्र होना चाहिए।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् इत्यादि। ब्रह्म संसारसागर को पार करने वाली वह छोटी सी नाव है, जिनके द्वारा ब्रह्मज्ञानी भयानक से भयानक जलप्रवाहों को पार कर जाता है। यहां 'ब्रह्म' शब्द प्रणव का वाचक है। ओंकार के जप में वह सामर्थ्य है, जो एक ओर मन और ज्ञानेन्द्रियों को एकाग्र करता है तो दूसरी ओर संसार-सागर को पार करता है। यह अनुभव 'काकाक्षिन्याय' से समानता रखता है। कौवे के दो नेत्रगोलकों में एक ही आंख होती है, जिससे वह दोनों ओर देख सकता है। उसी प्रकार जहां एक वस्तु का दो वस्तुओं से सम्बन्ध होता है, उसे 'काकाक्षिन्याय' कहते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में ओंकार-ब्रह्म का एक ओर इन्द्रियसंनिवेश से सम्बन्ध है, और दूसरी ओर संसार-सागर के संतरण से। ओंकारब्रह्म ऐसी नौका है, जो भयानक से भयानक संकटों को पार करती है, वे संकट स्वाभाविक अविद्या, विषयवासना और कर्मों द्वारा हमें पुनः संसार सागर में डालते हैं और हम पुनः जन्म-मरणचक्र में पड़ते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, भूत-प्रेत आदि योनियों में पड़कर पुनः पुनः संसार सागर में हम डूबते-उतराते हैं। बार बार संसार में आवर्तन ही वह विषम परिणति है, जो अत्यन्त भयावह है। उससे मुक्त होने के लिए ध्यानयोग द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार आवश्यक है॥ ८॥

अवतरणभाष्यम्

प्राणायामनिर्देशः-प्राणायामक्षपितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडीशोधनं कर्तव्यम्। ततः प्राणायामेऽधिकारः। दक्षिणनासिकापुटमङ्गुल्याऽवष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेद् यथाशक्ति। ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेद् यथाशक्ति। त्रिः पञ्चकृत्वो वा एवम् अभ्यस्यतः सवनचतुष्टयमपररात्रे मध्याह्ने पूर्वरात्रेऽर्धरात्रे च पक्षान्मासाद् विशुद्धिर्भवति। त्रिविधः प्राणायामो-रेचकः, पूरकः कुम्भक इति।

तात्पर्यदीपिका

जिसका मन प्राणायाम द्वारा निर्मल होता है, उसका अन्तःकरण परब्रह्म परमात्मा में स्थिर होता है। अतः प्राणायाम का निर्देश किया जा रहा है। प्रथम नाडी का शोधन करना चाहिए। अनन्तर उसे प्राणायाम करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसके लिए प्रथम दाहिने नासिकापुट को अंगूठे से दबाकर बायें नासिकापुट से धीरे धीरे शक्ति के अनुसार हवा खीचनी चाहिए। इसके पश्चात् दाहिने नासिकापुट को छोड़कर बायें नासिकापुट को दबाना चाहिए। पुनः दाहिने नासापुट से हवा खींचकर उसे बायें नासापुट से यथाशक्ति छोड़ना चाहिए। जो इस प्रकार तीन अथवा पाँच बार, चार समय-अवशिष्ट रात्रि अरुणोदयवेला, मध्याह्नवेला, पूर्वरात्रि और अर्धरात्रि में प्राणायाम का अभ्यास करता है, उसकी नाडीशुद्धि (कम से कम) एक पखवारे में अथवा (अधिक से अधिक) एक महिने के भीतर होती है।

प्राणायाम के तीन प्रकार हैं–रेचक, पूरक और कुम्भक।

[दाहिने अथवा बायें नासिकापुट से जो हवा ऊपर खींची जाती है, उसे 'पूरक' प्राणायाम कहते हैं। उसी प्रकार दाहिने अथवा बायें नासिकापुट से जो हवा छोड़ी जाती है, उसे 'रेचक' प्राणायाम कहते हैं और जितनी देर हवा को खींचकर भीतर रोका जाता है, उसे 'कुम्भक' प्राणायाम कहते हैं।]

शाङ्करभाष्यम्

तदेवाह–"आसनानि समभ्यस्य वाञ्छितानि यथाविधि।
प्राणायामं ततो गार्गि! जितासनगतोऽभ्यसेत्॥"

तात्पर्यदीपिका

इसी विषय को अग्रलिखित प्रमाणवचन इस प्रकार प्रमाणित करते हैं–

[यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं। इसमें आसनसिद्धि के बाद ही प्राणायाम का क्रम है। उस आसनसिद्धि का प्रथम निरूपण किया गया है।]

'हे गार्गि! प्रथम अपने मनोनुकूल आसनों का शास्त्रीय विधान से अभ्यास करना चाहिए और उसके बाद जो आसन सिद्ध हो वह आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।'

शाङ्करभाष्यम्

"मृद्वासने कुशान् सम्यगास्तीर्याऽजिनमेव च।
लम्बोदरं च संपूज्य फलमोदकभक्षणैः॥
तदासने सुखासीनः सव्ये न्यस्येतरं करम्।
समग्रीवशिराः सम्यक् संवृतास्यः सुनिश्चलः॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वाऽपि नासाग्रन्यस्तलोचनः।
अतिभुक्तमभुक्तं च वर्जयित्वा प्रयत्नतः॥
नाडीसंशोधनं कुर्यादुक्तमार्गेण यत्नतः।
वृथा क्लेशो भवेत् तस्य तच्छोधनमकुर्वतः॥"

तात्पर्यदीपिका

सर्वप्रथम कोमल आसन पर अच्छी तरह कुशासन और मृगचर्म बिछाना चाहिए। तदनन्तर फल, मोदक आदि भोज्यसामग्री का नैवेद्य लगाकर यथाविधि गणेशजी का पूजन करना चाहिए। अनन्तर बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखकर उस आसन पर सुखपूर्वक बैठना चाहिए। आसन पर बैठते समय पर अपना गर्दन और सिर बराबर होना चाहिए और अपना मुख (किसी कपड़े से) ढंका होना चाहिए। उस समय अपने शरीर को निश्चल, स्थिर

रखना चाहिए। इस प्रकार का आसन पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर लगाना चाहिए। उस समय अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर होनी चाहिए। आसन लगाने के पूर्व न तो अतिभोजन करना चाहिए, और न बिना भोजन के खाली पेट आसन लगाना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रोक्त पद्धति से प्रयत्नपूर्वक नाडीशोधन करना चाहिए। जो नाडीशोधन नहीं करता, उसका प्रयास व्यर्थ होता है, उसे व्यर्थ कष्ट होता है।

शाङ्करभाष्यम्

''नासाग्रे शशभृद्बीजं चन्द्रातपवितानितम्।
सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिन्दुसंयुतम्॥
विश्वमध्यस्थमालोक्य नासाग्रे चक्षुषी उभे।
इडया पूरयेद् वायुं बाह्यं द्वादशमात्रकैः॥''

तात्पर्यदीपिका

आसनसिद्धि के पश्चात् नासिका के अग्रभाग पर अपनी उभयदृष्टि स्थिर करनी चाहिये और एकाग्र होकर वहां उस 'चन्द्रबीज' (ठँ अथवा मँ) का ध्यान करना चाहिये, जो चन्द्रप्रकाश को फैलाने वाला है और वहीं वर्णमातृका के सप्तम वर्ग के अनुस्वार अथवा बिन्दु से संयुक्त यकार (यं) का ध्यान करना चाहिये। फिर 'इडा' (वाम) नाडी द्वारा 'द्वादश मात्रा' क्रम से बाह्य वायु को ऊपर खींचना चाहिये।

[प्राणायाम के त्रिविध प्रकारों में यह 'पूरक' प्राणायाम की विधि है। 'चन्द्रबीज' के ध्यान के 'द्वादशमात्रा' क्रम से यह करना चाहिये। यहां 'मात्रा' का अर्थ है जानुमण्डल के चारो ओर एक बार अपने हाथ को घुमाना। इस प्रकार बारह बार जानुमण्डल के चारो ओर हाथ को घुमाना 'द्वादशमात्राक्रम' है। इस अवधि में 'इडा' या पिंगला नाडी द्वारा बाह्य वायु को ऊपर खींचना 'पूरक' प्राणायाम है।]

शाङ्करभाष्यम्

''ततोऽग्निं पूर्ववद् ध्यायेत् स्फुरज्ज्वालावलीयुतम्।
रेफं च बिन्दुसंयुक्तं शिखिमण्डलसंस्थितम्॥
ध्यायेद् विरेचयेद् वायुं मन्दं पिङ्गलया पुनः।''

तात्पर्यदीपिका

फिर नासाग्र पर पूर्ववत् अपनी उभयदृष्टि स्थिर करते हुए वहां ज्वालामण्डल के बीच में अवस्थित अग्निनारायण तथा 'अग्निबीज' रेफ का ध्यान करना चाहिए और वह रेफ भी बिन्दुमिश्रित अथवा अनुस्वारसंयुक्त होना चाहिये (रँ)। अनन्तर पिंगला (दायीं) नाड़ी से धीरे-धीरे खिंची हुई भीतर की वायु को बाहर निकालना चाहिये। (भीतरी हवा को बाहर निकलना ही 'रेचक' प्राणायाम है।)

शाङ्करभाष्यम्

"पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य घ्राणं दक्षिणतः सुधीः॥
तद्वद् विरेचयेद् वायुमिडया तु शनैः शनैः।"

तात्पर्यदीपिका

विद्वान् को चाहिये कि वह पुनश्च दक्षिण नासिकापुट से पिङ्गला (दायीं) नाडी द्वारा बाह्य वायु को ऊपर खींचे और उसी क्रम से धीरे-धीरे इडा (वाम) नाडी द्वारा भीतर वायु को बाहर निकाले।

"त्रिचतुर्वत्सरं चाऽपि त्रिचतुर्मासमेव वा॥
गुरुणोक्तप्रकारेण रहस्येवं समभ्यसेत्।
प्रातर्मध्यन्दिने सायं स्नात्वा षट्कृत्व आचरेत्॥
संध्यादिकर्म कृत्वैव मध्यरात्रेऽपि नित्यशः।
नाडीशुद्धिमवाप्नोति तच्चिह्नं दृश्यते पृथक्॥"

तात्पर्यदीपिका

सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट रीति से एकान्त स्थान में अधिक से अधिक तीन चार वर्षों तक अथवा कम से कम तीन चार महिनों तक प्राणायाम का यह अभ्यास करना चाहिये। और यह प्राणायाम का अभ्यास प्रातः मध्याह्न और सायं त्रिकाल स्नान-सन्ध्यादि करने के उपरान्त छः बार करना चाहिये। उतना ही नहीं, यह अभ्यास नित्य मध्यरात्रि में भी करना चाहिये। इससे नाडीशुद्धि होती है और उसके चिह्न इस प्रकार स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

"शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम्।
नादाभिव्यक्तिरित्येतल्लिङ्गं तच्छुद्धिसूचनम्॥
शुध्यन्ति न जपैस्तेन स्पर्शशुद्धेरहेतवः।"

तात्पर्यदीपिका

(१) शरीर की लघुता (हलकापन), (२) शरीर की कान्ति, (३) जठराग्नि का पर्याप्त होना अर्थात् खूब भूख लगना, (४) और नाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति ये नाडीशुद्धि के सूचक चिह्न हैं। यतः जप करने से नाडी की शुद्धि नहीं होती, अतः विविध जप नाडीशुद्धि के हेतु नहीं है।

"प्राणायामं ततः कुर्याद् रेचपूरककुम्भकैः॥
प्राणापानसमायोगः प्राणायामः प्रकीर्तितः।"

तात्पर्यदीपिका

इसके पश्चात् रेचक, पूरक और कुम्भक इस त्रिविध क्रम से प्राणायाम करना चाहिए। हृदयस्थ प्राण और गुदा स्थित अपान दोनों के संयोग को प्राणायाम कहते हैं।

"प्रणवं त्र्यात्मकं गार्गि! रेचपूरककुम्भकम्॥
तदेतत् प्रणवं विद्धि तत्स्वरूपं ब्रवीम्यहम्।"

तात्पर्यदीपिका

हे गार्गी, प्रणव के तीन रूप हैं–रेचक, पूरक और कुम्भक। उस प्रणव का साक्षात्कार करो, मैं उसके स्वरूप का निरूपण करता हूँ।

"यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्तेषु प्रतिष्ठितः॥
तयोरन्तं तु यद् गार्गि! वर्गपञ्चकपञ्चमम्।"

तात्पर्यदीपिका

(प्रणव ओङ्कार) के तीन अवयव हैं–'अ', 'उ' और 'म'। इनमें वेद के आदि में अकार है, वेदान्तों (उपनिषदों) में उकार है और इन दोनों के बाद अन्तिम वर्ण वर्णमातृका के पञ्चम वर्ग पवर्ग का अन्तिम वर्ण मकार है।

"रेचकं प्रथमं विद्धि द्वितीयं पूरकं विदुः॥
तृतीयं कुम्भकं प्रोक्तं प्राणायामस्त्रिरात्मकः।
त्रयाणां कारणं ब्रह्म भारूपं सर्वकारणम्॥"

तात्पर्यदीपिका

प्रणवस्वरूप ओङ्कार के तीन अवयवों में प्रथम वर्ण अकार रेचकस्वरूप, द्वितीय वर्ण उकार पूरकस्वरूप और तृतीय वर्ण मकार कुम्भकस्वरूप है। इस प्रकार त्रिविध प्राणायाम ओङ्कार से अभिन्न है। त्रिविध प्राणायाम का कारण प्रकाशस्वरूप ओङ्कारमय परब्रह्म है, जो सभी सृष्टि का कारण है।

"रेचकः कुम्भको गार्गि! सृष्टिस्थित्यात्मकावुभौ।
पूरकस्त्वथ संहारः कारणं योगिनामिह॥"

तात्पर्यदीपिका

हे गार्गी, त्रिविध प्राणायामों में रेचक सृष्टिस्वरूप, कुम्भक स्थितिस्वरूप और पूरक संहारस्वरूप है। इस प्रकार त्रिविध प्राणायाम यथाक्रम योगियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण हैं।

"पूरयेत् षोडशैर्मात्रैरापादतलमस्तकम्।
मात्रैर्द्वात्रिंशकैः पश्चाद् रेचयेत्सुसमाहितः॥
संपूर्णकुम्भवद् वायोर्निश्चलं मूर्धदेशतः।
कुम्भकं धारणं गार्गि! चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥"

तात्पर्यदीपिका

[इस पद्य में त्रिविध प्राणायाम की अवधि पृथक् पृथक् निर्धारित है।] 'पूरक' प्राणायाय सोलह मात्राओं का होना चाहिए। अर्थात् जानुमण्डल पर सोलह बार हाथ को

घुमाते हुए उस अवधि में इडा अथवा 'पिङ्गला' नाडी द्वारा वाम अथवा दक्षिण नासापुट से बाह्य वायु को पैर से लेकर मस्तक तक खींचना चाहिए। बीच की अवधि 'कुम्भक' की है। उसके पश्चात् पूर्वोक्त क्रम से 'इडा' अथवा 'पिङ्गला' नाडी द्वारा वाम अथवा दक्षिण नासिकापुट से बारह मात्राओं की अवधि में अर्थात् बारह बार जानुमण्डल पर हथेली घुमाते हुए जो समय लगता है उस अवधि में अन्तस्थ वायु को बाहर छोड़ना चाहिए। इस प्रकार समाधि की स्थिति में 'पूरक' प्राणायाम की अवधि सोलह मात्राओं की और 'रेचक' प्राणायाम की अवधि बारह मात्राओं की होती है। 'पूरक' प्राणायाम के बाद 'कुम्भक' प्राणायाम की बारी आती है। अर्थात् जब योगी समाधिस्थ होकर सोलह मात्राओं की अवधि में 'पूरक' प्राणायाम करते हुए बाह्य वायु को मस्तकपर्यन्त पहुंचाता है, उसके पश्चात् चौसठ मात्राओं की अवधि में मस्तक में खींचे हुए वायु को चौसठ मात्राओं से 'कुम्भक' प्राणायाम द्वारा (सुषुम्णा) नाडी से धारण करना चाहिये। यतः जिस प्रकार घड़े में अथवा फुटबाल में हवा भरी जाती है, उसी प्रकार बाह्य वायु को निश्चल होकर मस्तक में धारण करने का विधान इस प्राणायाम में किया जाता है, अतः इसे 'कुम्भक' प्राणायाम कहते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

"ऋषयस्तु वदन्त्यन्ये प्राणायामपरायणाः।
पवित्रभूताः पूतान्त्राः प्रभञ्जनजये रताः॥
तत्राऽऽदौ कुम्भकं कृत्वा चतुःषष्ट्या तु मात्रया।
रेचयेत्षोडशैर्मात्रैर्नासेनैकेन सुन्दरि!॥
तयोश्च पूरयेद् वायुं शनैः षोडशमात्रया।
प्राणस्याऽऽयमनं त्वेवं वशं कुर्याज्जयी वशी॥"

तात्पर्यदीपिका

हे सुन्दरी, प्राणवायु के विषय में तत्पर (बाह्य वायु को 'पूरक' प्राणायाम द्वारा) भूतशुद्धि से अपनी आंतो को पवित्र करने वाले प्राणायामपरायण कतिपय अन्य मन्त्रद्रष्टा साधक ऋषि कहते हैं कि–

सर्वप्रथम चौसठ मात्राओं से 'कुम्भक' प्राणायाम करना चाहिये और उसके बाद एक नासिकापुट से (इडा अथवा पिंगला नाडी द्वारा) सोलह मात्राओं से 'रेचक' प्राणायाम करना चाहिये।

पुनश्च दोनों नासिका पुटों से एक साथ सोलह मात्राओं की अवधि में धीरे धीरे 'पूरक' प्राणायाम करते हुए बाह्य वायु को भीतर खींचना चाहिए। इस प्रकार समस्त त्रिभुवन को वश में रखने वाला प्राणजयी योगी प्राणवायु को अपने वश (नियंत्रण) में रखे।

शाङ्करभाष्यम्

"पञ्च प्राणाः समाख्याता वायवः प्राणमाश्रिताः।
प्राणो मुख्यतमस्तेषु सर्वप्राणभृतां सदा॥
ओष्ठनासिकयोर्मध्ये हृदये नाभिमण्डले।
पादाङ्गुष्ठाश्रितः प्राणः सर्वाङ्गेषु च तिष्ठति॥"

तात्पर्यदीपिका

(प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पांच वायु समस्त शरीर में व्याप्त हैं। इनमें प्राण प्रधान है और अन्य चार) प्राण पर आश्रित रहते हैं। अत एव सभी पांच वायुओं को 'पञ्चप्राण' ही कहा गया है। यतः समस्त वायु प्राण पर आश्रित हैं, अतः सभी वायुओं में वह मुख्य है।

वह सदा सभी प्राणधारियों के ओंठ और नासिका के बीच में, हृदय में, नाभिमण्डल में, पैरों के दोनों अंगूठों में और शरीर के प्रत्येक अवयव में वास करता है।

"नित्यं षोडशसंख्याभिः प्राणायामं समभ्यसेत्।
मनसा प्रार्थितं याति सर्वप्राणजयी भवेत्॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहाराच्च संसर्गान् ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान्॥
प्राणायामशतं स्नात्वा यः करोति दिने दिने।
मातापितृगुरुघ्नोऽपि त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति॥"

तात्पर्यदीपिका

नित्य प्रतिदिन सोलह बार प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये, जिससे योगी को समस्त मनोवांछित फल प्राप्त होते हैं और वह सभी प्राणीयों पर विजय प्राप्त करता है।

योगी को चाहिये कि वह प्राणयामों द्वारा शारीरिक दोषों को, धारणा द्वारा कर्मजन्य पापों को, प्रत्याहार द्वारा संसर्ग अर्थ तज्जन्य पापों को और ध्यान द्वारा अदिव्य गुणों को भस्मसात् करे।

जो व्यक्ति प्रतिदिन सौ बार प्राणायाम करता है उसके समस्त पाप तीन वर्षों के भीतर नष्ट होते हैं चाहे वह अपने माता, पिता अथवा गुरुजनों का हत्यारा ही क्यों न हो॥ ८॥

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताऽप्रमत्तः॥ ९॥

अन्वयः–संयुक्तचेष्टः विद्वान् प्राणान् प्रपीड्य इह क्षीणे प्राणे (सति) नासिकया उच्छ्वसीत। (सः) अप्रमत्तः (सन्) दुष्टाश्वयुक्तम् एनं वाहम् इव मनः धारयेत्॥ ९॥

मन्त्रार्थ–ब्रह्मवेत्ता योगी का यह कर्तव्य है कि वह योग्य चेष्टा (आहार विहार) को करते हुए अपने प्राणों का निरोध करे। अनन्तर प्राणशक्ति क्षीण होने पर एक नासापुट द्वारा उच्छ्वास ले अर्थात् भीतरी हवा को बाहर निकलने दे। वह प्रमादरहित होकर अपने मन पर उसी प्रकार नियन्त्रण रखे, जिस प्रकार सारथी दुष्ट घोड़े से जुते हुए अपने रथ पर नियंत्रण रखता है॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्

तदेतदाह 'प्राणानि'त्यादिना–"प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः"– "नात्यश्नतः" (गी. ६। १६) इति श्लोकोक्तप्रकारेण संयुक्ता चेष्टा यस्य स संयुक्तचेष्टः। क्षीणे शक्तिहान्या तनुत्वं गते मनसि नासिकायाः पुटाभ्यां शनैः शनैरुत्सृजेन्न मुखेन। वायुं प्रतिष्ठाप्य शनैर्नासिकयोत्सृजेदिति। उदात्ताश्वयुतं रथनियन्तारमिव मननेन मनो धारयेताऽप्रमत्तः प्रणिहितात्मा॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

इसी विषय को इस मन्त्र में निरूपित किया गया है–"प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः"–[इसका सामान्य अर्थ यह है कि साधक को समुचित आहार विहार करना चाहिये, तभी वह प्राणनिरोध कर सकता है। 'संयुक्तचेष्टः' का समास विग्रह है 'संयुक्ता चेष्टा यस्य सः।' योगसाधना के अधिकारी-अनधिकारी के विषय में ध्यानयोग (अभ्यासयोग) नामक षष्ठ अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को इस प्रकार उपदेश देते हैं–

"नाऽत्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाऽतिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चाऽर्जुन!॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥"

(गीता ६। १६-१७)

हे अर्जुन! योगसाधना का वह अधिकारी नहीं होता, जो अत्यधिक भोजन करता है अथवा जो कुछ भी नहीं खाता। उसी प्रकार वह भी उसका अधिकारी नहीं है, जो नींद लेते हुए खूब सपने संजोता है अथवा केवल जागता रहता है।

जो समुचित मात्रा में आहार लेता है अथवा विहार करता है, जो समुचित मात्रा में अपने क्रियाकलाप करते हुए कर्तव्य कर्म करता है, जो समुचित मात्रा में नींद लेता है अथवा जागता है, वही योगसाधना का अधिकारी होता है, उसकी योगसाधना उसके दुःखों को दूर करती है।

इस प्रकार भगवद्गीता द्वारा उपदिष्ट मार्ग से योग्य आहार-विहार करते हुए सर्वप्रथम योगसाधना में प्राणनिरोध करना चाहिये। [इस मंत्र में जो 'संयुक्तचेष्टः' पद है, उसका अनुवाद गीता में 'युक्तचेष्टस्य' पद द्वारा किया गया है।]

अनन्तर प्राणधारण शक्ति का ह्रास होने पर मन भी जब कमजोर हो, तब अपनी नासिका के दोनों पुटों से भीतरी हवा को धीरे-धीरे बाहर छोड़े, मुख से कदापि उसे बाहर न छोड़े। इसका नाम है उच्छ्वास। इसका भाव यह है कि प्रथम कुम्भक प्राणायाम द्वारा बाहरी वायु को मस्तक में रोकना चाहिये और अनन्तर धीरे-धीरे दोनों नासिका-पुटों से उसे बाहर निकालना चाहिये। इसका दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार जिसके रथ में जुता हुआ घोड़ा नियंत्रण के बाहर रहता है वह सारथी उस दुष्ट घोड़े को सावधान होकर अपने वश में करता है, उसी प्रकार साधक अपने अनियंत्रित इन्द्रियों को वश में करे और प्रमादरहित होकर अपने मन पर नियंत्रण रखे, उसे इधर-उधर दौड़ने से रोके। और उसका उपाय है मनन-चिन्तन। और वह इस उपाय द्वारा अपने आप पर नियन्त्रण रख सकता है॥ ९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ १०॥

अन्वयः—समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः अनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे ममः प्रयोजयेत्॥ १०॥

मन्त्रार्थ—उस गुफा आदि वायुशून्य स्थान में अपने मन की समाधि लगानी चाहिये, जो समतल और सब प्रकार से पवित्र हो। जिसमें कंकड, आग, बालू आदि न हो। वह शब्द, जल, आश्रय आदि की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल हो। वह स्थान नेत्रों को कष्टकारक नहीं होना चाहिये। (इस प्रकार का स्थान ध्यानयोग के उपयुक्त होता है।)॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्

सम इति। समे निम्नोन्नतरहिते देशे। शुचौ शुद्धे। शर्करावह्नि-वालुकाविवर्जिते। शर्कराः क्षुद्रोपलाः, वालुकास्तच्चूर्णम्। तथा शब्दजला-श्रयादिभिः।शब्दः कलहादिध्वनिः जलं सर्वप्राण्युपभोग्यम्। मण्डप आश्रयः। मनोऽनुकूले मनोरमे चक्षुपीडने प्रतिवाद्यभिमुखे। छान्दसो विसर्गलोपः। गुहानिवाताश्रयणे गुहायामेकान्ते निवाते समाश्रित्य प्रयोजयेत् प्रयुञ्जीत चित्तं परमात्मनि॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में ध्यानयोग के उपयुक्त स्थान का निरूपण है। वह स्थान समतल होना

चाहिये, ऊबड़-खाबड़ नहीं। वह अत्यन्त शुचि, पवित्र होना चाहिये। वहां कंकड़-पत्थर (शर्करा) न हो, वहां आग लगने की सम्भावना न हो, वालुका कण भी वहां नहीं होने चाहिये। वह शब्द, जल आश्रय आदि की दृष्टि से अनूकूल होना चाहिये। अर्थात् वहां कलहादि प्रतिकूल कर्णकटु ध्वनि नहीं होनी चाहिये, पास में जलाशय तालाब, कूप, नदी आदि होना चाहिये। वहां उपयुक्त भीड़भाड़ से रहित आश्रयस्थान मण्डप आदि होना चाहिये। वहां समाधियोग्य मनोऽनुकूल दृश्य होने चाहिये, जो नेत्रों को पीड़ादायक न हो। 'चक्षुपीडने' यह वैदिक प्रयोग है। लौकिक संस्कृतप्रयोग में 'चक्षुःपीडने' इस प्रकार विसर्गसहित प्रयोग होता है। वैदिक प्रयोग में विसर्ग का लोप हुआ है। ऐसा स्थान गुफा आदि ही हो सकता है, जहां हवा तक न पहुंचे। ऐसे निर्जन स्थान में बैठकर समाधि लगानी चाहिये और परब्रह्म परमात्मा में अपने मन को एकाग्र करना चाहिये॥ १०॥

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥

अन्वयः—ब्रह्मणि योगे नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् एतानि पुरःसराणि रूपाणि अभिव्यक्तिकराणि भवन्ति॥ ११॥

मन्त्रार्थ—जो योगाभ्यास करता है, उसके सम्मुख प्रथम कुहरा छा जाता है, अनन्तर धुआं फैलता है, पश्चात् सूर्यमण्डल दृष्टिगोचर होता है, फिर शीतल हवा का आभास होता है, अनन्तर अग्नि, जुगनू, बिजली की चमक, स्फटिक की आकृति, चन्द्रमण्डल आदि प्रत्यक्षगोचर होते हैं, जो परब्रह्म परमात्मा का प्रकाश प्रकट होने के पूर्वचिह्न हैं॥ ११॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं योगमभ्यस्यतोऽभिव्यक्तिचिह्नानि वक्ष्यन्ते नीहार इत्यादिना—नीहारस्तुपारः। तद्वत्प्राणैः समा चित्तवृत्तिः प्रवर्तते। ततो धूम इवाऽऽभाति। ततोऽर्कवत्ततो वायुरिवाऽऽभाति। ततो वह्निरिवाऽत्युष्णो वायुः प्रकाशदहनः प्रवर्तते। बाह्यवायुरिव संक्षुभितो बलवान् विजृम्भते। कदाचित् खद्योतखचितमिवाऽन्तरिक्षमालक्ष्यते। विद्युदिव रोचिष्णुरालक्ष्यते। कदाचित् स्फटिकाकृतिः। कदाचित् पूर्णशशिवत्। एतानि रूपाणि योगे क्रियमाणे ब्रह्मण्याविष्क्रियमाणे निमित्ते पुरःसराण्यग्रगामीनि। तदा परमयोगसिद्धिः॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण—इस मन्त्र में योगाभ्यास साधक के अभिव्यंजक चिह्नों का निरूपण है—

यहां 'नीहार' का अर्थ है–तुषार या कोहरा। जब साधक योगाभ्यास करता है, उस समय प्राणों के साथ उसकी मनोवृत्ति के सामने कुहरा सा छा जाता है। फिर उसके सामने धुआं जैसा आभास होता है। पुनश्च सूर्यमण्डल का और वायु का आभास होता है। फिर अग्निमण्डल का तेज और दाहकारक गरम लू का आभास होता है। पुनश्च ऐसा प्रतीत होता है कि मानों चारो ओर क्षोभकारक प्रबल आंधी चल रही हो। कभी कभी सारा अन्तरिक्ष जुगनुओं के प्रकाश से चमचमाता प्रतीत होता है। कभी-कभी बिजली की चमक दृष्टिगोचर होती है। कभी स्फटिक की आकृति तो कभी पूर्ण चन्द्रबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। ये सभी पूर्व चिह्न साधक के भावी परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार के अभिव्यञ्जक है। उसके पश्चात् परमयोग की सिद्धि होती है॥ ११॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२॥

अन्वयः–पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते (सति) पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते (सति) योगाग्निमयं शरीरं प्राप्तस्य तस्य न रोगः, न जरा, न मृत्युः॥ १२॥

मन्त्रार्थ–जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतों का सम्यक् उत्थान होता है और जब इन पाञ्चभौतिक यौगिक गुणों पर सिद्धि प्राप्त होती है, तब ऐसे साधक का शरीर योगाग्निमय होता है। उसे न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु होती है॥ १२॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥ १३॥

अन्वयः–लघुत्वम् आरोग्यम् अलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं, शुभः गन्धः अल्पं मूत्रपुरीषं च प्रथमां योगप्रवृत्तिं वदन्ति॥ १३॥

मन्त्रार्थ–शरीर का हलकापन, नीरोग होना, विषयों में आसक्ति न रखना, शरीर की उज्वल कान्ति, स्वरसौष्ठव, शरीर में सुगन्धि और मल-मूत्र की अल्पता इन्हें योगसिद्धि का प्रथम सोपान कहा गया है॥ १३॥

शाङ्करभाष्यम्

पृथ्वीति। पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे पृथिव्यादीनि भूतानि द्वन्द्वैकवद्भावेन निर्दिश्यन्ते। तेषु पञ्चसु भूतेषु समुत्थितेषु। 'पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्त' इत्यस्य व्याख्यानम्। कः पुनर्योगगुणः प्रवर्तते? पृथिव्या गन्धवत्या गन्धो योगिनो भवति। तथाऽद्भ्यो रसः। एवमन्यत्र। उक्तं च–

"ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवतीं परा।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः॥
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकाऽपि प्रवर्तते।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः॥"

न तस्य योगिनो रोगो न जरा न मृत्युर्वा प्रभवति। कस्य? 'प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्'–योगाग्निसंप्लुष्टदोषकलापं शरीरं प्राप्तस्य। स्पष्टमन्यत्॥ १२-१३॥

तात्पर्यदीपिका

पृथ्व्यप्तेजोनिलखे–'पृथ्वी च अप् च तेजश्च अनिलश्च खं च इति पृथ्व्यप्-तेजोऽनिलखम्' इस समाहार द्वन्द्व समास से सम्बद्ध एकवद्भाव द्वारा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का निर्देश किया गया है। (तस्मिन्) समुत्थिते (सति) = उनका प्रादुर्भाव होने पर, पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते (सति) = [पृथ्वी का गुण गन्ध है, जल का गुण रस है, तेज का गुण रूप है, वायु का गुण स्पर्श है, और आकाश का गुण शब्द है।] जब योगियों को पञ्चमहाभूतसम्बन्धी गन्धादि का अनुभव होता है, योगाग्निमयं शरीरं प्राप्तस्य = उस योगी के समस्त पाप योगाग्नि से जल जाते हैं और उस योगी का शरीर योगाग्निमय हो जाता है, तस्य = उस योंगी के सम्मुख, न रोगः = रोग नहीं फटकता, न जरा = बुढापा नहीं फटकता, न मृत्युः = और न मृत्यु का प्रभाव उस पर पड़ता है।

पृथ्वी का लक्षण है–'गन्धवती पृथिवी'–अर्थात् पृथ्वी का स्वरूप ही है गन्ध। जब पानी बरसता है, तब खेत आदि से मिट्टी की गंध का हम अनुभव करते हैं। योगी इसका अनुभव सदैव करता है। इसी प्रकार वह जल आदि के गुण रस आदि का भी अनुभव करता है। जैसा कि प्रमाणवचन है–

'ज्योतिष्मती स्पर्शवती'–योगियों की चार प्रवृत्तियां होती है–(१) ज्योतिष्मती, (२) स्पर्शवती, (३) रसवती और (४) गन्धवती।

'आसां योगप्रवृत्तीनाम्'–इन चार प्रवृत्तियों में से यदि किसी को एक की भी प्रवृत्ति हो, तो योग का चिन्तन करनेवाले साधक उसे योग में प्रवृत्त कहते हैं।

मतान्तरः–'दीपिका'कार नारायण 'पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते' इस मन्त्रभाग की तांत्रिक व्याख्या करते हैं, जिसका आशय इस प्रकार है–

पृथ्वी का मंत्रबीजाक्षर 'लं', जल का मंत्रबीजाक्षर 'वं', अग्नि का मंत्रबीजाक्षर 'रं', वायु का मंत्रबीजाक्षर 'मं' और आकाश का मंत्रबीजाक्षर 'हं' है। साधक को चाहिये कि वह पैरों से घुटनों तक पृथ्वीमण्डल के बीजाक्षर द्वारा ब्रह्मा का ध्यान करे, घुटनों से गुदा तक जल में रहकर जल के बीजमंत्र द्वारा विष्णु का ध्यान करे, गुदा से हृदय

देश तक अग्निमण्डल में स्थित होकर उसके बीजमंत्र द्वारा रुद्र का ध्यान करे, हृदय से भौओं तक वायुमण्डल में स्थित होकर उसके बीजाक्षर द्वारा ईश्वर का ध्यान करे और भौओं के बीच से मस्तकपर्यन्त आकाशमण्डल के बीजाक्षर द्वारा सदाशिव का ध्यान करे। इस प्रकार ध्यान धारणा द्वारा योगी पञ्चभौतिक और उससे संबद्ध गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

विज्ञान भगवान् और उपनिषद् ब्रह्मयोगी इसकी भिन्न व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशमण्डल की यथाक्रम पांच शक्तियाँ हैं– निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता। इन शक्तियों द्वारा पञ्च महाभूतों को यथाक्रम अपने वश में करे।

दोनों के अनुसार पञ्च महाभूतों का यथेष्ट विनियोग ही पञ्चभौतिक योगगुणप्रवृत्ति है। 'लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं' इत्यादि मंत्र का अर्थ स्पष्ट है॥ १२-१३॥

किञ्च (और भी)–

यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥

अन्वयः–यथा मृदया उपलिप्तं (यत्) तेजोमयं बिम्बं तत् एव सुधान्तं भ्राजते, तद्वा देही आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य एकः वीतशोकः कृतार्थो भवते॥ १४॥

मन्त्रार्थ–जिस प्रकार मिट्टी से ढका हुआ कोई रत्न मिट्टी आदि हट जाने पर चमकने लगता है, उसी प्रकार शरीरधारी अज्ञानी जीवात्मा जब निर्मल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब उसका अज्ञानमल हट जाने के कारण वह कैवल्य अवस्था को प्राप्त होता है, उसके सभी दुःख दूर होते हैं और वह कृतकृत्य हो जाता है॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्

यथैवेति। यथैव विम्बं सौवर्णं राजतं वा मृदयोपलिप्तं मृदादिना मलिनीकृतं पूर्वं पश्चात् सुधान्तं सुधौतमित्यस्मिन्नर्थे सुधान्तमिति च्छान्दसम्। अग्न्यादिना विमलीकृतं तेजोमयं भ्राजते। तद्वा तदेवाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य दृष्ट्वैकोऽद्वितीयः कृतार्थो भवते वीतशोकः। परेषां पाठे 'तद्वत्सतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही'ति। तत्राऽप्ययमेवार्थः॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

यथैव बिम्बम् = अगर कोई सोने अथवा चांदी का टुकड़ा अथवा कोई रत्न, **मृदया उपलिप्तम्** = मिट्टी आदि के लेप से पहले गंदा किया गया हो और पश्चात् सुधान्तम्

= यह प्रयोग वैदिक है, लौकिक संस्कृत प्रयोग होगा–'सुधौतम्;' और फिर आग इत्यादि से तपाकर, धोकर उसे निर्मल किया गया हो यह इसका अर्थ है। तेजोमयं भ्राजते = तेज के प्रकाश से चमकने लगता है, तद्वा = उसी प्रकार, देही = देहाभिमान करनेवाला जीवात्मा, आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य = परब्रह्म परमात्मा के रहस्य का साक्षात्कार कर, एकः= वह परमात्मा में विलीन होकर अद्वितीय रह जाता है, वीतशोकः = उसके त्रिविध दुःख दूर होते हैं, कृतकृत्यः भवते = उसका जीवन सफल हो जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। कुछ लोग 'तद्वत् सतत्वं प्रसमीक्ष्य देही' यह पाठभेद स्वीकार करते हैं। उनके मत में भी यही अर्थ होगा॥ १४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

अन्वयः–यदा तु युक्तः इह दीपोपमेन आत्मतत्वेन ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत्, (तदा सः तम्) अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैः विशुद्धं देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते॥ १५॥

मन्त्रार्थ–और जब वह योगी दीपक के समान उज्ज्वल आत्मज्ञान प्राप्त कर परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब वह उस जन्म-मरणादिरहित समस्त शाश्वत तत्वों से विशुद्ध परम प्रकाशमय देव को जानकर सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होता है॥ १५॥

शाङ्करभाष्यम्

कथं ज्ञात्वा वीतशोको भवति? इत्याह–यदेति। यदा यस्यामवस्थायामात्मतत्त्वेन स्वेनाऽऽत्मना। किंविशिष्टेन? दीपोपमेन दीपस्थानीयेन प्रकाशस्वरूपेण ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत्। तुशब्दोऽवधारणे। परमात्मानमात्मनैव जानीयादित्यर्थः। उक्तं च–'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' (बृ. उ. १।४।१०) इति। कीदृशम्? अन्यस्मादजायमानं ध्रुवमप्रच्युतस्वरूपं सर्वतत्त्वैरविद्यातत्कार्यैर्विशुद्धमसंस्पृष्टं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः॥ १५॥

तात्पर्यदीपिका

(जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। वह उससे अभिन्न है।) **युक्तः** = योग-साधनारत साधक, **यदा तु** = जिस अवस्था में, **दीपोपमेन** = दीपक के समान उज्ज्वल प्रकाशस्वरूप, **आत्मतत्त्वेन** = आत्मभाव से, **ब्रह्मतत्त्वम्** = परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का, **प्रपश्येत्** = साक्षात्कार करता है, (**तदा सः** = उस अवस्था में वह साधक, **तम** = उस), **अजम्** = अन्य कारणों से न उत्पन्न होने वाले, **ध्रुवम्** = अपने स्वरूप से कभी भी न डिगने वाले शाश्वत, **सर्वतत्त्वैः विशुद्धम्** = अविद्या और उसके कार्यों के स्पर्श से रहित, **देवम्** = दिव्यस्वरूप का, **ज्ञात्वा** = साक्षात्कार कर, **सर्वपाशैः** = अविद्या

आदि समस्त बन्धनकारक पाशों से, **मुच्यते** = मोक्ष प्राप्त करता है, उसे छुटकारा मिल जाता है।

आत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत्–इसका अर्थ यह है कि परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। वह तभी होता है जब उसे यह बोध होता है कि मैं परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न, उसी का एक अंश हूँ। मेरा स्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं है। अन्य श्रुतिवचन इसी का समर्थन करता है– "**तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि**" (बृ. उ. १।४।१०) उसने स्वयं को इस प्रकार पहिचाना–'मैं ब्रह्म, ब्रह्मस्वरूप ही हूँ।' चौदहवें मंत्र में कहा गया है कि '**एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः**' अर्थात् परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर जीवों के दुःख दूर होते हैं। उसके दुख किस प्रकार दूर होते हैं? इस प्रश्न का समाधान इस मंत्र में है॥ १५॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥

अन्वयः–ह एषः देवः सर्वाः प्रदिशः अनुः सः ह पूर्वः जातः गर्भे अन्तः; सः एव जातः, सः जनिष्यमाणः, (सः) जनान् प्रत्यङ् तिष्ठति, (सः) सर्वतोमुखः (वर्तते)॥ १६॥

मन्त्रार्थ–निश्चय ही वही दिव्य परब्रह्म परमात्मा सभी दिशाओं में व्याप्त है। सर्वप्रथम उसी का प्रादुर्भाव हुआ है और वही ब्रह्माण्ड के मध्य अवस्थित है। उसी की उत्पत्ति पूर्व में हुई है और उसी का जन्म भविष्य में भी होने वाला है। वही सभी जनों के हृदयप्रदेश में वास करता है और उसके मुख चारो ओर हैं॥ १६॥

शाङ्करभाष्यम्

परमात्मानमात्मत्वेन विजानीयादित्युक्तम्। तदेव संभावयन्नाह–एष हेति। एष एव देवः प्रदिशः प्राच्याद्या दिश उपदिशश्च सर्वाः, पूर्वो ह जातः सर्वस्माद्धिरण्यगर्भात्मना, स उ गर्भेऽन्तर्वर्तमानः, स एव जातः शिशुः, स जनिष्यमाणोऽपि, स एव सर्वांश्च जनान् प्रत्यङ् तिष्ठति, सर्वप्राणिगतानि मुखान्यस्येति सर्वतोमुखः॥ १६॥

तात्पर्यदीपिका

परब्रह्म परमात्मा का निरूपण करते हुए श्रुति कहती है–**एष एव देवः** = और वही प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, **सर्वाः प्रदिशः अनु** = सभी दिशाओं और उपदिशाओं में है, [पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण चार मुख्य दिशाएं हैं और आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधर उपदिशाएं हैं।]

पूर्वो ह जातः = हिरण्यगर्भ के रूप में सर्वप्रथम इसी का प्रादुर्भाव हुआ। **स उ गर्भे अन्तः** = वही माता के गर्भ अथवा ब्रह्माण्ड के मध्य विराजमान रहता है। **स एव जातः** = भूतकाल में शैशवावस्था में उसी का जन्म हुआ है, **स जनिष्यमाणः** =

और भविष्यकाल में उसी का जन्म होने वाला है। सः जनान् प्रत्यङ् तिष्ठति = वह सभी जीवों के हृदयस्थल में अन्तर्यामी के रूप में विराजमान है। (सः) सर्वतोमुखः (वर्तते) = 'सर्वतः मुखानि अस्य इति सर्वतोमुखः' इस समास-विग्रह के अनुसार समस्त प्राणियों के मुख उसी परब्रह्म परमात्मा के ही मुख हैं॥ १६॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

अन्वयः—यः देवः अग्नौ, यः (देवः) अप्सु, यः (देवः) विश्वं भुवनम् आविवेश, यः (देव) ओषधीषु, यः (देवः) वनस्पतिषु (आविवेश), तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥

मन्त्रार्थ—जो दिव्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अग्नि, जल और समस्त भुवनों में प्रविष्ट होकर रहता है, जो औषधियों और वनस्पतियों में वास करता है उस दिव्य-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को बार बार प्रणाम॥ १७॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं योगवत्साधनान्तराणि नमस्कारादीनि कर्तव्यत्वेन दर्शयितुमाह— यो देव इति। यो विश्वं भुवनं स्वेन विरचितं संसारमण्डलमाविवेश। य ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु, तस्मै विश्वात्मने भुवनमूलाय परमेश्वराय नमो नमः। द्विर्वचनमादरार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थं च॥ १७॥

॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

इस मंत्र में योगसाधना के अन्य साधन नमस्कार का कर्तव्यरूप में विधान किया गया है—**यो देवः अग्नौ** = जो दिव्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अग्नि में वास करता है, **यः अप्सु** = उसी प्रकार जो जल में भी वास करता है, **यो विश्वं भुवनम् आविवेश** = जो अपने द्वारा सृष्ट त्रिभुवन में प्रविष्ट होकर रहता है, **यः ओषधीषु** = जो शालि आदि वनस्पतियों में वास करता है, **यः वनस्पतिषु** = और जो अश्वत्थ आदि वृक्षों में वास करता है, **तस्मै देवाय नमो नमः** = सम्पूर्ण चराचर विश्व के मूल कारण विश्वस्वरूप उस दिव्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को बार बार नमस्कार है। 'नमो नमः' इस प्रकार 'नमः' अव्यय का दो बार प्रयोग परब्रह्म परमात्मा के प्रति आदर प्रकट करने के लिये और अध्याय समाप्ति की सूचना के लिये किया गया है॥ १७॥

॥ इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् की 'तात्पर्यदीपिका'
हिन्दी व्याख्या का द्वितीय अध्याय परिपूर्ण॥ २॥



तृतीयः अध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वाल्लँोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

अन्वयः—यः एकः जालवान् ईशनीभिः ईशते, ईशनीभिः सर्वान् लोकान् ईशते, यः एकः एव सम्भवे उद्भवे च (समर्थः), ये च एतद् विदुः, ते अमृताः भवन्ति॥ १॥

मन्त्रार्थ—जो अकेले ही समस्त सांसारिक प्रपञ्च की माया का स्वामी अपनी विभिन्न प्रभुशक्तियों द्वारा शासन करता है, जो उन्हीं प्रशासकीय शक्तियों द्वारा त्रिभुवन पर शासन करता है, जो अकेले ही जगत् की सृष्टि और उसके प्रादुर्भाव (विस्तार) में समर्थ है और जो लोग इस परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं वे अमर हो जाते हैं॥ १॥

शाङ्करभाष्यम्

कथमद्वितीयस्य परमात्मन ईशित्रीशितव्यादिभावः? इत्याशङ्क्याऽऽह—य एक इति। य एकः परमात्मा स जालवान्, जालं माया दुरत्ययत्वात्। तथा चाऽऽह भगवान्—"मम माया दुरत्यया" (गी. ७।१४) इति। तद्वांस्तदस्यास्तीति जालवान् मायावीत्यर्थः। ईशत ईष्टे मायोपाधिः सन्। कैः? ईशनीभिः स्वशक्तिभिः। तथा चोक्तम्—ईशत ईशनीभिः परमशक्तिभिरिति। कान्? सर्वाल्लँौकानीशत ईशनीभिः। कदा? उद्भवे विभूतियोगे सम्भवे प्रादुर्भावे च। य एतद् विदुरमृता अमरणधर्माणो भवन्ति॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ही परमेश्वर में प्रशासक का और प्रशासकीय शक्तियों का भाव कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का समाधान इस मन्त्र में है।

'य एको' इत्यादि। यः एकः = जो अकेला परमेश्वर, जालवान् = जालम् अस्यास्तीति जालवान् = मायावी है। 'जाल' का अर्थ माया होता है, क्योंकि उसे पार करना अत्यन्त कठिन है। जैसा कि गीता का वचन है—

"देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (७।१४)

अर्थात्—'यह त्रिगुण दैवी घोरमाया अगम और अपार है'। मेरी (विष्णु की) सत्वरजस्तमोगुणमयी माया का उल्लंघन अत्यन्त कठिन है।

परब्रह्म परमेश्वर उस दुस्तर माया से सम्पन्न है। 'जालम् अस्ति अस्येति जालवान्' इस निर्वचन के अनुसार यहां 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (अ. ५।२।९४) इस सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय के उपरान्त 'मादुपधायाश्च मतोर्वो' (अ. ८।२।९) इस सूत्र में 'म' का 'व' आदेश होता है। ईशनीभिः = अपनी शक्तियों के द्वारा, ईशते =शासन करता है।

सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः = वह अपनी इन प्रशासकीय शक्तियों द्वारा समस्त लोकों पर शासन करता है। शंकरानन्द की दृष्टि से ईश्वरीय शक्ति का माया के साथ जब संपर्क होता है, तब उसकी विक्षेप और आवरण नामक दो उपाधियां भी ईश्वरीय शक्ति ही कहलाती हैं। नारायण की दृष्टि में ईश्वर की परम शक्ति ही प्रधान है, जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अन्तर्भाव है।

यः एक एव उद्भवे सम्भवे च = वह कब शासन करता है? इस प्रश्न का समाधान इस मंत्रभाग में है। जब सृष्टि और उसका विस्तार होता है, तब परमेश्वर समस्त चराचर विश्वपर शासन करता है।

शंकरानन्द कहते हैं–'उदूर्ध्वमनेकधा भवनमुद्भवः, तत्र च सम्भवे सम्यक् स्वात्मरूपेण भवनं सत्तामात्रेण वर्तमानत्वं सम्भवः संहार इत्यर्थः।' अर्थात् अनेक प्रकार से उत्पत्ति ही उद्भव है, और वहां केवल अस्तित्व के रूप में रहना सम्भव है। दूसरे शब्दों में परब्रह्म परमात्मा में विलीन होकर अपना अस्तित्व खो देना सम्भव अथवा संहार है। 'दीपिका'कार नारायण के अनुसार उद्भव का अर्थ है विलय और संभव का अर्थ है प्रादुर्भाव।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति–जो लोग इस रहस्य को जानते हैं, वे अमर (जन्ममरणरहित) हो जाते हैं॥ १॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचाऽन्त-
काले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥ २॥

अन्वयः–(सः) हि एकः रुद्रः, द्वितीयाय न तस्थुः, यः इमान् लोकान् ईशनीभिः ईशते। सः जनान् प्रत्यङ् तिष्ठति, विश्वा भुवनानि संसृज्य गोपाः अन्तकाले सञ्चुकोच॥ २॥

मन्त्रार्थ–वह रुद्र एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही, जो अपनी शक्तियों से इन दृष्टिगोचर सम्पूर्ण भुवनों पर शासन करता है। अत एव तत्त्ववेत्ता साधक (केवल उसी रुद्र पर आश्रित रहते हैं) अन्य दूसरे देवता की अपेक्षा नहीं रखते। वह समस्त प्राणियों के हृदयप्रदेश में अवस्थित है। वह प्रथम समस्त भुवनों की रक्षा करता है, अनन्तर उनके रक्षक की भूमिका का निर्वाह करते हुए प्रलयकाल में उन्हें अपने में संकुचित (विलीन) कर लेता है॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

कस्मात् पुनर्जालवान्? इत्याशंक्य आह–एको हीति। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मादेक एव रुद्रः स्वतो न द्वितीयाय वस्त्वन्तराय तस्थुर्ब्रह्मविदः परमार्थदर्शिनः। उक्तं च–'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुरि'ति। य इमाल्लोकानीशते नियमयतीशनीभिः। सर्वांश्च जनान् प्रत्यन्तरः प्रतिपुरुष-मवस्थितः। रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यर्थः।

किञ्च, सञ्चुकोच अन्तकाले प्रलयकाले। किं कृत्वा? 'संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः' गोप्ता भूत्वा। एतदुक्तं भवति–अद्वितीयः परमात्मा, न चाऽसौ कुम्भकारवदात्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीयमुपादानकारणमुपादत्ते। किं तर्हि? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन् स्त्रष्टा नियन्ता वाऽभिधीयत इति। उत्तरो मन्त्र-स्तस्यैव विराडात्मनाऽवस्थानं तत्स्त्रष्टृत्वं प्रतिपादयति॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

वह परमेश्वर मायावी किस प्रकार है? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत मन्त्र में है–हि एक एव रुद्रः = क्योंकि रुद्र अद्वितीय अकेला ही है, न द्वितीयाय तस्थुः = इसलिए तत्त्ववेत्ता लोग दूसरे किसी पर निर्भर नहीं रहते। जैसा कि कहा है–'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः।'

य इमाँलोकानीशत ईशनीभिः = जो रुद्र अपनी शक्तियों द्वारा इन समस्त लोकों पर शासन करता है। जनान् प्रत्यङ् तिष्ठति = वह समस्त जीवों के बीच में प्रति व्यक्ति अन्तर्यामी बनकर रहता है। उसकी विशेषता यह है कि व्यक्ति का जैसा व्यक्तित्व रहता है, तदनुरूप परमात्मा उसमें वास करता है। सञ्चुकोच अन्तकाले =और प्रलयकाल में वह संकुचित भी होता है। इसके पूर्व वह क्या करता है? इसका समाधान है–संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः। अर्थात् प्रथम वह सम्पूर्ण भुवनों की सृष्टि करता है, तदनन्तर उनके रक्षक की भूमिका का निर्वाह करता है।

इसका तात्पर्य यह है कि परब्रह्म परमात्मा की जोड़ का कोई दूसरा नहीं, अपितु वह अद्वितीय है। वह कुम्भार के समान मिट्टी के गोले की तरह स्वयं को उपादान कारण नहीं स्वीकार करता। फिर वह क्या करता है? इसका समाधान यह है कि अपनी शक्ति को क्षुब्ध करते ही वह समस्त संसार का सर्जक अथवा नियामक कहा जाता है।

अग्रिम मन्त्र उसी परमेश्वर का विराट् रूप से अवस्थित और जगत् की सृजन-शीलता का निरूपण कर रहा है॥ २॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥ ३॥

अन्वयः–विश्वतश्चक्षुः उत विश्वतोमुखः विश्वतोबाहुः उत विश्वतस्पात् द्यावाभूमी जनयन् सः एकः देवः बाहुभ्यां सं धमति तथा पतत्रैः सं (धमति)॥ ३॥

मन्त्रार्थ–वही एक दिव्यस्वरूप परमेश्वर है, जिसे चारो ओर (सभी ओर) आंखें हैं, सभी ओर मुख हैं, सभी ओर हाथ हैं और सभी ओर पैर हैं। वह अकेले ही आकाश और धरती की रचना करते हुए मनुष्यों को दो भुजाओं से तथा आकाशविहारी पक्षियों एवं अन्य कीट पतंगों को पंखों से जोड़ता है॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्

विश्वतश्चक्षुरिति। सर्वप्राणिगतानि चक्षूंष्यस्येति विश्वतश्चक्षुः। अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र चक्षू रूपादौ सामर्थ्यं विद्यत इति विश्वतश्चक्षुः। एवमुत्तरत्र योजनीयम्। सं बाहुब्यां धमति संयोजयतीत्यर्थः; अनेकार्थत्वाद् धातूनाम्। पक्षिणश्च धमति द्विपदो मनुष्यादींश्च पतत्रैः। किं कुर्वन्? द्यावापृथिवी जनयन् देव एको विराजं सृष्टवानित्यर्थः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

विश्वतश्चक्षुः–विश्वतः (सर्वप्राणिगतानि) चक्षूंषि अस्येति विश्वतश्चक्षुः–यतः सभी प्राणियों में विद्यमान आंखें परब्रह्म परमात्मा की ही आंखें हैं, अतः वह स्वेच्छा से कहीं भी देख सकता है, रूपादि का ग्रहण कर सकता है।

विश्वतोमुखः–विश्वतः सर्वप्राणिगतानि मुखानि अस्येति विश्वतोमुखः–यतः सभी प्राणियों के मुख परमेश्वर के ही मुख हैं, अतः उनके द्वारा प्राणी जो जो पदार्थ-ग्रहण करते हैं, वे परमात्मा को ही प्राप्त होते हैं।

विश्वतोबाहुः–विश्वतः बाहवः यस्य सः विश्वतोबाहुः–समस्त प्राणियों की भुजाएं परमेश्वर की ही भुजाएं हैं। अर्थात् जीवमात्र जो कुछ भी करता है, परमात्मा की इच्छा से ही करता है।

विश्वतस्पात्–विश्वतः पादः यस्य सः जीव मात्र के पैर परमेश्वर के ही पैर हैं। अर्थात् प्रत्येक प्राणी में रहने वाला परमात्मा कहीं भी अकुंठित गति से विचरण कर सकता है।

सः एकः देवः = उस एकाकी दिव्यस्वरूप परमेश्वर ने (बिना किसी की सहायता के), द्यावापृथिवी जनयन् = आकाश और धरती के रूप में विराट् पुरुष की रचना करते हुए, बाहुभ्यां संधमति = मनुष्यों को दोनों भुजाओं से युक्त करता है, (तथा) पतत्रैः संपतति = और आकाशविहारी पक्षियों और कीट पतंगों को पंखों से युक्त करता है। पतत्रैः = जो पतन से बचाता है, उसे 'पतत्र' कहते हैं हैं, यतः पंख पक्षियों को गिरने से बचाते हैं, अतः 'पंखों' का दूसरा पर्यायवाची 'पतत्र' शब्द सार्थक है।

मतान्तरः–उत्तरार्ध की व्याख्या विभिन्न व्यांख्याकारों ने भिन्न भिन्न की है। शंकरानन्द कहते हैं–'हस्ताभ्यां विश्वमुत्पादयन्नुत्पतिकाले विविधान् शब्दा-

नुत्पाद्योत्पादकादिरूपेण करोति।'.....'बाहुभ्यामिति द्विवचनसामर्थ्यात् सर्वकर्म-हेतुत्वाच्च धर्माधर्माभ्यामिति विवक्षितम्।.......यद्यपि धमतिरग्निग्रहणसंयोगार्थः, तथापि सन्तापकारित्वेन सुखदुःखयोः उत्पत्तौ स्थितौ संहारे च सुखदुःखकारित्वं व्याख्येयम्। सम्पतत्रैः पतनशीलैः पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः न परमाणुभिः........... धमतीत्यनुषङ्गः।'

'धम्' धातु के अनेक अर्थ है, उसका मुख्य अर्थ है–'अग्निसंयोग', आग धधकना। जब लकड़ियों में आग धधकती है, तब चट चट शब्द होता है। उसी को ध्यान में रखते हुए शंकरानन्द उक्त व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि जब परमेश्वर द्वारा द्यावापृथिवी (आकाश और धरती) की संरचना होती है, उस समय वह सृष्टि के समय उत्पाद्य, उत्पादक आदि रूप से नाना प्रकार के नाद करते हैं। 'भुजाभ्यां' इस प्रकार 'भुज' शब्द का द्विवचन में प्रयोग है, जो कर्मेन्द्रिय होने के कारण समस्त कर्मों के हेतु हैं। उसकी एक भुजा धर्म है और दूसरी अधर्म। पुण्य और पाप दोनों संसाररचना के कारण होते हैं, यही इसका तात्पर्य है। 'धमति' का अर्थ अग्निसंयोग करने पर उसका तात्पर्य होगा सन्तापकारिता। अर्थात् उत्पत्ति–स्थिति और संहार के समय प्राणिमात्र को जो सुख–दुःखानुभूति होती है, वह इससे विवक्षित है। सृष्टि के समय परमेश्वर जगत् को पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से युक्त करता है, परमाणुओं से नहीं।

नारायण तीर्थ इस मंत्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार करते हैं–"बाहुभ्यां विद्याकर्मभ्यां संधमति, पतत्रैः वासनारूपैः संधमति दीपयति जीवनिष्ठ-विद्याकर्मवासनादिभिरीश्वरो जगत् प्रवर्तयतीत्यर्थः।'

अर्थात् परमेश्वर अपनी विद्या और कर्मरूपी भुजाओं से तथा वासनारूपी पंखों से (जीव में रहने वाली विद्या, कर्म, वासना आदि के द्वारा) जगत् की ओर प्रवृत्त करता है।

विज्ञानभगवान् इसका भाष्य इस प्रकार करते हैं–'बाहुभ्यां मनुष्यायीन् संधमति संयोजयति......पतत्रैः पतनसाधनैः पादैः अथवा पतत्रैः पक्षैः पक्षिणः संधमति।'

वह मनुष्यों को दो भुजाओं से और 'पतत्र' अर्थात् गतिशीलता प्रदान करने वाले पैरों से तथा पक्षियों को गतिशील (उड़नेवाले) पंखों से संयोजित करता है।

इसका उवटभाष्य इस प्रकार है–'धमतिर्गत्यर्थः। (संधमति) संगमयति बाहुभ्यां सङ्गच्छते वा। सम्पतत्रैः संगच्छते पतत्रैः पद्भिः। ऐश्वर्ययोगाद् बहवोऽपि पादाः सम्भवन्ति।' इसका भाव भी पूर्ववत् है। केवल अन्तर यह है कि इस भाष्य के अनुसार ऐश्वर्य के योग से परमेश्वर के अनन्त चरण हो सकते हैं।

भाष्यकार महीधर कहते हैं–'बाहुभ्यां बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्यां सन्धमति धमतिर्गत्यर्थः। यद्वा धर्माधर्माभ्यां भूतैश्च सन्धमति सङ्गमयति जीवान्।'

यह व्याख्या भी शंकरानन्द के समान ही है। यह मंत्र ऋग्वेद (१०।८१।३),

अथर्ववेद (१३।२।२६), वाजसनेयी संहिता (१७।१९), तैत्तिरीयसंहिता (४।६।२४) और तैत्तिरीयारण्यक (१०।१।३) में भी उपलब्ध होता है॥ ३॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ ४॥

अन्वयः—यः रुद्रः देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपः महर्षिः (अस्ति), हिरण्यगर्भं च पूर्वं जनयामास, सः शुभया बुद्ध्या नः संयुनक्तु॥ ४॥

मन्त्रार्थ—जो रुद्र देवताओं के प्रादुर्भाव के कारण और ऐश्वर्यप्राप्ति के कारण हैं, जो विश्व के पालनकर्ता स्वामी हैं और जो सर्वमन्त्रद्रष्टा सर्वज्ञ महर्षि हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ की संरचना की है, वे रुद्रदेवता हमें सद्बुद्धि और शुभ बुद्धि से संयुक्त करें॥ ४॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं तस्यैव सूत्रसृष्टिं प्रतिपादयन् मन्त्रदृगभिप्रेतं प्रार्थयते—यो देवानामिति। यो देवानामिन्द्रादीनां प्रभवहेतुरुद्भवहेतुश्च। उद्भवो विभूतियोगः। विश्वस्याऽधिपो विश्वाधिपः पालयिता। महर्षिः—महांश्चाऽसावृषिश्चेति महर्षिः सर्वज्ञ इत्यर्थः। हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भोऽन्तःसारो यस्य तं जनयामास पूर्वं सर्गादौ। स नोऽस्मान् बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु परमपदं प्राप्नुयामेति॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

इस मंत्र में हिरण्यगर्भ के रूप में परब्रह्म परमात्मा की सृष्टि का विवेचन करते हुए मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की अभीष्टसिद्धि के लिए प्रार्थना की गयी है–

यः देवानां प्रभवः उद्भवश्च—जो इन्द्रादि देवताओं के प्रादुर्भाव और उनके विभूतियोग का कारण है।

विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः—रुद्र = शिव, 'विश्व' = चर-अचर ब्रह्माण्ड के 'अधिप' = पालनकर्ता स्वामी है।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्—जिसने सृष्टि के पूर्व उस 'हिरण्यगर्भ' की संरचना की थी, जिनके गर्भ में 'हिरण्य' कल्याणकारी उज्ज्वल ज्ञान है।

स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु—वह हमें मंगलमयी सद्बुद्धि से संयुक्त करें, जिससे हम परमपद मोक्ष प्राप्त कर सकें।

यह व्याख्या श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार है।

भिन्न व्याख्याएं—'**यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च**'—इस मंत्रभाग में प्रयुक्त 'प्रभव' और 'उद्भव' शब्द की व्याख्या विभिन्न टीकाकारों के अनुसार भिन्न-भिन्न है।

शंकरानन्द के अनुसार 'प्रकर्षेण भवनं प्रभवः उद् ऊर्ध्वं भवनं गमनं उद्भवः' यह व्याख्या है। अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही उत्पत्तिस्थान और ऊर्ध्वगति का कारण है। विज्ञानभगवान् और उपनिषद्योगी के मत में रुद्र से ही इन्द्रादि देवताओं की उत्पत्ति (प्रभव) और लय (उद्भव) होते हैं॥ ४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताऽभिचाकशीहि॥ ५॥

अन्वयः—रुद्र! या ते अघोरा अपापकाशिनी शिवा तनूः, गिरिशन्त! तया शन्तमया तनुवा नः अभिचाकशीहि॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! जो तुम्हारी यह पाप से भिन्न अर्थात् पुण्य को प्रकाशित करने वाली शान्त मंगलमयी काया (मूर्ति) है, हे गिरिशन्त! उस आनन्दमयी अपनी मूर्ति द्वारा हमारी ओर कृपादृष्टि करो॥ ५॥

शाङ्करभाष्यम्

पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयन्नभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन— या ते रुद्रेति। हे रुद्र! तव या शिवा तनूरघोरा। उक्तं च—"तस्यैते तनुवौ घोराऽन्या शिवाऽन्या" इति। अथवा शिवा शुद्धाऽविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्ता सच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मरूपा न तु घोरा शशिविम्बमिवाऽऽह्लादिनी। अपापकाशिनी स्मृतिमात्राघनाशिनी पुण्याभिव्यक्तिकरी। तयाऽऽत्मना नोऽस्माञ्शन्तमया सुखतमया पूर्णानन्दरूपया हे गिरिशन्त! गिरौ स्थित्वा शं सुखं तनोतीति। अभिचाकशीहि अभिपश्य निरीक्षस्व श्रेयसा नियोजयस्वेत्यर्थः॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

अग्रिम दो मन्त्रों में रुद्रदेव के ध्यान और उसकी अभीष्ट प्रार्थना की गयी है। रुद्र! = हे रुद्रशिव!, या = जो, ते = तुम्हारी, शिवा = कल्याणकारिणी मंगलमयी, अघोरा= शान्त, तनूः = मूर्ति (काया) है। जैसा कि प्रमाणवचन है—'तस्यैते तनुवौ घोराऽन्या, शिवाऽन्या।' उस रुद्र की दो मूर्तियां हैं—(१) घोर (भयंकर) और (२) शिव, मंगलमयी। अथवा—'शिवा अघोरा' अर्थात् अविद्या और उसके कार्यों से मुक्त होने के कारण शुद्ध—निर्मल सत्स्वरूप, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप है, वह घोर, भयंकर नहीं है अपितु चन्द्रमण्डल के समान आह्लादकारिणी रोम रोम गद्गद् करनेवाली है। अपापकाशिनी = केवल स्मरण करने से पापों का नाश करके पुण्यों को प्रकाशित करने वाली है। हे गिरिशन्त! = कैलास पर्वत पर रहकर भी कल्याण अथवा सुख प्रदान करने वाले, शंतमया = अत्यन्त आनन्दमयी, पूर्णानन्दस्वरूपा, तनूवा = अपनी मूर्ति (काया) के द्वारा, नः अभिचाकशीहि = हमारे सम्मुख रहो, हमारे ऊपर कृपादृष्टि करो और हमें कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करो॥ ५॥

किञ्च– (और भी)

यामिषुं गिरिशन्त! हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र! तां कुरु मा हिँ्सीः पुरुषं जगत्॥ ६॥

अन्वयः–गिरिशन्त! याम् इषुम् अस्तवे (त्वं) हस्ते बिभर्षि, गिरित्र! तां शिवां कुरु, पुरुषं जगत् मा हिंसीः॥ ६॥

मन्त्रार्थ–हे कैलासवासी शंकर! जिस बाण को फेंकने के लिये आपने उसे हाथ में धारण किया है, हे पर्वतराज के रक्षक देव! उस बाण को कल्याणकारी बनाओ। सारे संसार के प्राणियों की हिंसा मत करो॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

यामिषुमिति। यामिषुं गिरिशन्त! हस्ते बिभर्षि धारयस्यस्तवे जने क्षेप्तुं शिवां गिरित्र! गिरिं त्रायत इति तां कुरु। मा हिंसीः पुरुषमस्मदीयं जगदपि कृत्स्नम्। साकारं ब्रह्म प्रदर्शयेत्यभिप्रेतमर्थं प्रार्थितवान्॥ ६॥

तात्पर्यदीपिका

गिरिशन्त! = कैलास गिरि पर रहकर कल्याणमार्ग दिखाने वाले हे शंकर!, **याम् इषुम्** = जिस बाण को, **अस्तवे** = प्राणियों पर चलाने के लिये, **हस्ते बिभर्षि** = तुम उसे हाथ में धारण करते हो, **गिरित्र!** = पर्वतराज के रक्षक हे शिव, **तां शिवां कुरु** = उस बाण को मंगलमय बनाओ, **मा हिंसीः पुरुषं जगत्** = सारा प्राणिवर्ग हमारा है और चर अचर जगत् भी हमारा है, उसकी हिंसा मत करें।

यह प्रार्थना इसलिये की गयी हैं, जिससे हम समस्त ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार कर सकें। क्योंकि प्राणिमात्र में और जगत् में परमात्मा का वास है। उसकी हिंसा का अर्थ है परमात्मा का अन्तर्ध्यान होना॥ ६॥

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ ७॥

अन्वयः–(ज्ञानिनः) ततः परं ब्रह्मपरं सर्वभूतेषु यथानिकायं गूढं विश्वस्य परिवेष्टितारं तं बृहन्तम् एकं देवं ज्ञात्वा अमृताः भवन्ति॥ ७॥

मन्त्रार्थ–ज्ञानी लोग उस प्राणिमय चराचर जगत् के परवर्ती हिरण्यगर्भ-ब्रह्म से श्रेष्ठ सभी प्राणियों में उनकी शरीरसंरचना के अनुसार परिच्छिन्न गुप्तरूप से अवस्थित समस्त विश्व को वेष्टित करने वाले विशालतम उस अद्वितीय दिव्य परमेश्वर का साक्षात्कार कर अमर हो जाते हैं॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं तस्यैव कारणात्मनाऽवस्थानं दर्शयज्ञ्ज्ञानादमृतत्वमाह–ततः परमिति। ततः पुरुषयुक्ताज्जगतः परं कारणत्वात् कार्यभूतस्य प्रपञ्चस्य

व्यापकमित्यर्थः। अथवा ततो जगदात्मनो विराजः परम्। किं तद्? ब्रह्मपरं बृहन्तं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् परं बृहन्तं महद्व्यापित्वात्। यथानिकायं यथाशरीरं सर्वभूतेषु गूढमन्तरवस्थितं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं सर्वमन्तः कृत्वा स्वात्मना सर्वं व्याप्याऽवस्थितमीशं परमेश्वरं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में यह निरूपण किया गया है कि समस्त जगत् से परे परब्रह्म परमेश्वर का अस्तित्व है और वह समस्त चराचर जगत् का कारण है इस प्रकार जब जिज्ञासुओं को ज्ञात होता है, तब वे अमर पद प्राप्त करते हैं–

ततः परम्–यह समस्त चराचर जगत् नवद्वार 'ब्रह्मपुर' शरीर में रहने वाले जीवों से युक्त है, यह जगत् ही विराट् पुरुष का विग्रह है, इसका जनक कारण कोई अन्य है, जगत् तो उसका कार्य है। जगत् तो उस कारणब्रह्म के सम्मुख छोटा है, उसका जनक कारण उससे व्यापक है, जो जगत् से परे है।

शंकरानन्द के अनुसार 'ततः परम्' का अर्थ परब्रह्म परमात्मा हिरण्यगर्भ से श्रेष्ठ है। वह देश, काल, वस्तु आदि धर्मों से शून्य है। उसका स्वरूप क्या है? इसका समाधान इस प्रकार है–

ब्रह्मपरं बृहन्तम्–इतना ही नहीं हिरण्यगर्भस्वरूप ब्रह्म भी उसका ही कार्य-स्वरूप है, जिससे वह परवर्ती होने के कारण अत्यन्त व्यापक और विशाल है।

यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्–जगत् में अनन्त योनियां है–पशु, पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य, देव, राक्षस, यक्ष, सिद्ध आदि। उनके विभिन्न निकाय (शरीर) होते हैं। उन उन योनियों की शरीरसंरचना के अनुसार वह सभी प्राणियों में गुप्त रूप से रहता है।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्–सब प्राणियों का अन्तर्यामी होने पर भी वह समस्त चराचर विश्व को अपने भीतर समेटता है और सबको घेर कर रहता है। यह शक्ति अकेले उस परमेश्वर में ही है, अन्य में नहीं।

ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति–जिज्ञासु जन उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कर अमृतपद प्राप्त करते हैं॥ ७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ८॥

अन्वयः–(अहम्) तमसः परस्तात् आदित्यवर्णम् एतं महान्तं पुरुषं वेद। तमेव विदित्वा मृत्युम् अत्येति। अयनाय अन्यः पन्थाः न विद्यते॥ ८॥

मन्त्रार्थ–मैं अज्ञानान्धकार के अनन्तरवर्ती सूर्य के तेज के समान उज्ज्वल उस 'महापुरुष' (परमेश्वर) को जानता हूँ, उसी का साक्षात्कार करके प्राणिमात्र मृत्यु अर्थात् मरणभय को पार कर जाता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई चरमपदप्राप्ति का मार्ग नहीं है॥ ८॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीमुक्तमर्थं द्रढयितुं मन्त्रदृगनुभवं दर्शयित्वा पूर्णानन्दाद्वितीय-ब्रह्मात्मपरिज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नाऽन्येनेति दर्शयति—वेदाऽहमेतमिति। वेद जाने तमेतं परमात्मानम्। अथैतं प्रत्यगात्मानं साक्षिणं पुरुषं पूर्णं महान्तं सर्वात्मत्वात्। आदित्यवर्णं प्रकाशरूपं तमसोऽज्ञानात् परस्तात् तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति मृत्युमत्येति। कस्मात्? अस्मान्नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय परमपदप्राप्तये॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

श्वेताश्वतर महर्षि का प्रत्यक्ष अनुभव इसमें प्रमाण है। परब्रह्म परमेश्वर सम्पूर्ण आनन्दमय और अद्वितीय है। उसके स्वरूप के साक्षात्कार से ही चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अन्य उपाय से नहीं। इसी आशय को यह मन्त्र अभिव्यक्त कर रहा है—

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तम्—मैं उस विशालतम पुराणपुरुष परब्रह्म परमात्मा को अच्छी तरह जानता हूँ। वह 'प्रत्यगात्मा' सर्वसाक्षी है, नवद्वार ब्रह्मपुर (देह) में रहने के कारण 'पूर्ण-पुरुष' है। सर्वात्मक होने से महान् से भी महान् है।

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—वह सहस्रकिरण सूर्य के समान तेजोमय है। उसके परमोज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश इतना उज्ज्वल है कि अज्ञान का अन्धेरा वहां फटकता तक नहीं। वह अज्ञानान्धकार का पूर्णतया उल्लंघन करता है और उस पर विजय प्राप्त करता है।

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति—उसी ज्ञानप्रकाशोज्ज्वल परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार से जब जीव को शरीर की नश्वरता का ज्ञान होता है, तब वह जीव मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसे पार कर जाता है।

नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय—इसलिये यदि परमपद को प्राप्त करना है, तो आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वहां तक पहुँचने के लिये दूसरा मार्ग साधन नहीं है।

वह 'तमस्' क्या है, जिसके परे 'आदित्यवर्ण' परमात्मा का वास है। शंकरानन्द के अनुसार वह अविद्या है। नारायण इसे माया कहते हैं। विज्ञानभगवान् और उपनिषद्-ब्रह्मयोगी का मत शंकराचार्य के समान ही है। उन दोनों के मत में वह अज्ञान है॥ ८॥

यस्मात् परं नाऽपरमस्ति किञ्चिद्
यस्मान्नाऽणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ९॥

अन्वयः—यस्मात् परम् अपरं किञ्चित् न अस्ति; यस्मात् कश्चित् न अणीयः न ज्यायः अस्ति। वृक्षः इव एकः स्तब्धः दिवि तिष्ठति। तेन पुरुषेण सर्वम् इदं पूर्णम्॥ ९॥

मन्त्रार्थ—उस ज्ञानप्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है, न तो उससे कोई अणुतम (सूक्ष्मतम) है और न कोई विशालतम ही है। जिस प्रकार वृक्ष निश्चलभाव से रहता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी प्रकाशमय द्युलोक में निश्चल-भाव से रहता है। उस परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम से यह समस्त स्थावर-जंगम जगत् परिपूर्ण है॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्

कस्मात् पुनस्तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति? इत्युच्यते—यस्मादिति। यस्मात् परं पुरुषात् परमुत्कृष्टमपरमन्यन्नाऽस्ति, यस्मान्नाऽणीयोऽणुतरं न ज्यायो महत्तरं वाऽस्ति। वृक्ष इव स्तब्धो निश्चलो दिवि द्योतनात्मनि स्वे महिम्नि तिष्ठत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा तेनाऽद्वितीयेन परमात्मनेदं सर्वं पूर्णं नैरन्तर्येण व्याप्तं पुरुषेण पूर्णेन॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

पुनश्च यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव उसी को जानकर कैसे मृत्यु का उल्लंघन करता है? इस प्रश्न का समाधान इस मन्त्र में है।

यस्यात् परं नाऽपरमस्ति किञ्चिद्—जिस पूर्ण पुरुष से उत्कृष्ट अन्य कुछ भी नहीं है। वह परमदेव परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है।

यस्मान्नाऽणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्—इससे दूसरा कोई न तो 'अणु' (सूक्ष्मतम) है, और न इससे कोई दूसरा ज्येष्ठतम (विशालतम) है। अन्य श्रुति भी यही कहती है—'**अणोरणीयान् महतो महीत्मान्**'।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः—वह परमात्मा एक अद्वितीय है। उसकी बराबरी कोई दूसरा नहीं कर सकता। उसकी अपनी महिमा द्योतनात्मक है, जिसमें वह निश्चल भाव से उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार स्थावर वृक्ष आकाश में निश्चल भाव से खड़ा रहता है।

विज्ञानभगवान् के अनुसार—प्रमाता स्वयं में जो यह अनुभव करता है—'अहं ब्रह्माऽस्मि' यही परमपुरुष की द्योतनात्मक स्वस्वरूप में अवस्थिति है।

तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्—यह चर-अचर स्थावर-जंगम-स्वरूप समस्त ब्रह्माण्ड उस पुरुषस्वरूप परमेश्वर से ही परिपूर्ण है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् कहती है—'**ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्**'॥ ९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवाऽपियन्ति॥ १०॥

अन्वयः—ततः यत् उत्तरतरम्, तत् अरूपम् अनामयम्। ये एतद् विदुः, ते अमृताः भवन्ति, अथ इतरे दुःखमेव अपियन्ति॥ १०॥

मन्त्रार्थ—कारणब्रह्मस्वरूप उस हिरण्यगर्भ से भी जो अत्यन्त उत्कृष्ट है, वह रूपातीत और आमयरहित है। जो उसको जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। तथा दूसरे दुख ही पाते हैं॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं ब्रह्मणः पूर्वोक्तकार्यकारणतां दर्शयञ्ज्ञानिनाममृतत्वमितरेषां च संसारित्वं दर्शयति—तत इति। तत इदंशब्दवाच्याज्जगत उत्तरं कारणं ततोऽप्युत्तरं कार्यकारणविनिर्मुक्तं ब्रह्मैव इत्यर्थः। तदरूपं रूपादिरहितम्, अनामयमाध्यात्मिकादितापत्रयरहितत्वात्। य एतद् विदुरमृतत्वेन अहमस्मीत्यमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति। अथेतरे ये न विदुस्ते दुःखमेवाऽपियन्ति॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

रुद्र ने सर्वप्रथम जिस हिरण्यगर्भ की सृष्टि की, वह जगत् का कारणब्रह्म है और जगत् उसका कार्यस्वरूप है। उससे परे जो ब्रह्म है, वह कार्यकारणभावमुक्त है। उसका साक्षात्कार करने वाले अमृतपद प्राप्त करते हैं और अन्य जन्ममरणचक्र में पड़ते हैं इसी आशय को यह मंत्र प्रकट कर रहा है—

ततः यत् उत्तरतरम्—पूर्व मंत्र में 'तेनेदं पूर्णं' इत्यादि मंत्रभाग द्वारा 'इदं' पद से जिस जगत् का निर्देश है, उस जगत् से भी उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ नाम का जो जगत् का कारणब्रह्म है, उससे भी जो कारणकार्यभाव से अत्यंत मुक्त होने के कारण उत्कृष्टम है।

तदरूपमनामयम्—वह परब्रह्म पुरुषोत्तम 'रूपातीत' अर्थात् रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि पञ्च महाभूतों के गुणों से अस्पृष्ट है। और 'आमयरहित' अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुःखों से शून्य होने के कारण रोगमुक्त है।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति—जो उसे 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस आकार से अमृत-स्वरूप से जानते हैं, वे अमरपद प्राप्त करते हैं।

अथेतरे दुःखमेवाऽपियन्ति—और उससे भिन्न अज्ञानी 'अमृतत्व' का ज्ञान न होने के कारण जन्ममरणचक्र में पड़ जाते हैं और दुःख पाते हैं॥ १०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवाँस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥ ११॥

अन्वयः—सः भगवान् सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः सर्वव्यापी (वर्तते।) तस्मात् सः शिवः सर्वगतः॥ ११॥

मन्त्रार्थ—वह परब्रह्म परमात्मा ऐश्वर्यादिसम्पन्न है। वह समस्त मुख, मस्तक और ग्रीवाओं से युक्त है। सभी प्राणियों की हृदयगुफा में वह वास करता है। और वह सर्वव्यापी है। इसलिए वह सभी में वास करता है और शिव, कल्याणकारी है॥ ११॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं तस्यैव सर्वात्मत्वं दर्शयति—सर्वाननेति। सर्वाण्याननानि शिरांसि ग्रीवाश्चाऽस्येति सर्वाननशिरोग्रीवः। सर्वेषां भूतानां गुहायां बुद्धौ शेत इति सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवानैश्वर्यादिसमष्टिः। उक्तं च—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥"

(वि. पु. ६।५।७४)

भगवति यस्मादेवं तस्मात् सर्वगतः शिवः॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में उस परब्रह्म परमात्मा की सर्वात्मकता का निरूपण किया गया है—

सर्वाननशिरोग्रीवः = यतः समस्त प्राणियों के मुख, मस्तक और ग्रीवाएं उसी परब्रह्म परमात्मा के मुख, मस्तक और ग्रीवाएँ हैं। अतः प्रत्येक प्राणी जो कुछ बोलते हैं, खाते पीते हैं, बुद्धिपूर्वक कार्य करते हैं, सब कुछ परमात्मा ही करता है यह समझना चाहिये।

सर्वभूतगुहाशयः—वह परमात्मा सभी की गुफा में शयन करता है। वह गुफा कौन सी है? इस सम्बन्ध में शंकराचार्य कहते हैं—'गुहायां बुद्धौ'। सभी प्राणियों की बुद्धि ही वह गुफा है, जिसमें वह शयन करता है। वह प्राणिमात्र के हृदय में वास करता है, जो गुफा के समान है। वहां वह सुप्तावस्था में रहता है यह इसका अन्य आशय है। बुद्धि मस्तक का कार्य है और भाव हृदय का। प्राणिमात्र की बुद्धि एवं भाव परमात्मा की ही बुद्धि और भाव हैं यह इसका भिन्न अभिप्राय है।

सर्वव्यापी—वह 'सर्वव्यापी' अर्थात् समस्त विश्व का वेष्टन करनेवाला है।

स भगवान्—विष्णुपुराण (६।५।७४) के अनुसार ईश्वर के षड्विध गुणों को 'भग' नाम से जाना जाता है। वे हैं—समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इनसे सम्पन्न होनें के कारण 'परमात्मा' को 'भगवान्' कहते हैं।

तस्मात् सर्वगतः शिवः—इसलिए परमेश्वर की सर्वत्र गति है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां परमेश्वर नहीं पहुंचता। अत एव वे 'शिव' मङ्गलमय हैं, 'शंकर' कल्याणकारी हैं॥ ११॥

किञ्च—और

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥ १२॥

अन्वयः—एषः वै महान् प्रभु पुरुषः सुनिर्मलाम् इमां प्राप्तिम् (उद्दिश्य) सत्वस्य प्रवर्तकः ईशानः ज्योतिः अव्ययः (अस्ति)॥ १२॥

मन्त्रार्थ—वह परमपिता परमेश्वर महान् सर्वसमर्थ है, शरीररूपी नगर में शयन करता है और परमपद प्राप्त करने के लिए अन्तरात्मा को प्रेरणा देता है। वह सबका शासक, प्रकाशस्वरूप और अविनाशी है॥ १२॥

शाङ्करभाष्यम्

महानिति। महान् प्रभुः समर्थो वै निश्चयेन जगदुदयस्थितिसंहारे सत्त्वस्याऽन्तःकरणस्यैव प्रवर्तकः प्रेरयिता। कमर्थमुद्दिश्य? सुनिर्मलामिमां स्वरूपावस्थालक्षणां प्राप्तिं परमपदप्राप्तिम्। ईशान ईशिता। ज्योतिः परिशुद्धो विज्ञानप्रकाशः। अव्ययोऽविनाशी॥ १२॥

तात्पर्यदीपिका

वै एषः = वह परब्रह्म परमेश्वर निश्चय ही, महान् = महान्, प्रभुः = जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करने में (समर्थ) है, सुनिर्मलाम् इमां प्राप्तिम् (उद्दिश्य) = जीव परमेश्वर से अभिन्न और उसी का अंश है। अज्ञानमल के कारण वह अपने स्वरूप को नहीं पहचानता। जब अज्ञानमल हट जाता है, तब वह निर्मलस्वरूप दृष्टिगोचर होता है। जीवमात्र का लक्ष्य इसी निर्मलस्वरूप का साक्षात्कार है। इस उद्देश्य से सत्वस्य प्रवर्तकः = अन्तःकरण को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। ईशानः = सब पर शासन करने वाला है। ज्योतिः = ज्ञानमय परमप्रकाशपुञ्ज है। अव्ययः = और अविनाशी है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १३॥

अन्वयः—(सः) पुरुषः अङ्गुष्ठमात्रः अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः मन्वीशः हृदा मनसा अभिक्लृप्तः। ये एतद् विदुः, ते अमृताः भवन्ति॥ १३॥

मन्त्रार्थ—वह परमपुरुष मात्र अंगूठे के बराबर परिमाण का है, अन्तर्यामी होने के कारण सदा सर्वदा प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट है, 'मनु' ज्ञान का स्वामी है और हृदय-स्थित अन्तःकरण के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जाता है। जो उसे जानते हैं, वे 'अमृत' पद प्राप्त करते हैं॥ १३॥

शाङ्करभाष्यम्

अङ्गुष्ठमात्र इति। अङ्गुष्ठमात्रोऽभिव्यक्तिस्थानहृदयसुषिरपरिमाणापेक्षया, पुरुषः पूर्णत्वात् पुरि शयनाद् वा। अन्तरात्मा सर्वस्याऽन्तरात्मभूतः स्थितः। सदा जनानां हृदये संनिविष्टो हृदयस्थेन मनसाऽभिगुप्तः। मन्वीशो ज्ञानेशः। य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

इस मंत्र में उस परमपुरुष का निरूपण है, जिसके साक्षात्कार से लोग अमर हो जाते हैं–अङ्गुष्ठमात्रः–परम पुरुष का आकार मात्र अंगूठे के बराबर है, यतः उसकी अभिव्यक्ति हृदयाकाश में होती है।

पुरुषः–'पूर्णत्वात् पुरि शयनाद् वा'। 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' के चौदहवें नाममंत्र का भाष्य आचार्य शंकर इस प्रकार करते हैं–

पुरं शरीरम्, तस्मिन् शेते (इति) पुरुषः।
''नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
प्राप्य शेते महात्मा यस्तस्मात् पुरुष उच्यते॥''
(महा. शा. पं. २१०-३०)

प्राणिमात्र का शरीर नौ दरवाजों वाला पुर (शहर) है। उसके नौ दरवाजे हैं–दो आँखे, दो कान, दो नासापुट, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ। यतः इस पवित्र भावयुक्त शरीररूपी शहर को प्राप्त कर वह महान् आत्मा उसकी हृदयगुफा में सुप्तावस्था में रहता है, अतः 'पुरुष' कहलाता है।

विष्णुसहस्रनाम का ४०६वा नाम भी 'पुरुष' है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं–'सर्वस्मात् पुरा सदनात् सर्वपापस्य सादनात् वा पुरुषः।'' 'पुरा' अर्थात् सर्वप्रथम स्थिति होने के कारण अथवा समस्त पापों का उच्चाटन करने के कारण भी वह 'पुरुष' कहलाता है। 'पूर्णत्वात् पुरुषः'–उसमें किसी प्रकार की न्यूनता अथवा कोई दोष, कमी नहीं है, वह पूर्ण अखण्ड है, अतः 'पुरुष' है।

अन्तरात्मा–वह सभी के शरीर में जीवात्मा के रूप में अवस्थित है।

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः–वह सभी प्राणियों की हृदयगुफा में सम्यक् रूप से प्रविष्ट है।

मन्वीशः–वह समस्त ज्ञान का अधिपति है।

हृदा मनसा अभिक्लृप्तः–साधक हृदयगुफास्थित अन्तरात्मा द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं।

ये एतद् विदुः ते अमृताः भवन्ति–जो लोग उस परमपुरुष का साक्षात्कार करते हैं, वे 'अमृत' पद प्राप्त करते हैं, अमर हो जाते हैं और पुनः जन्ममरणचक्र में नहीं फंसते॥ १३॥

अवतरणभाष्यम्–'पुरुषोऽन्तरात्मे'त्युक्तम्। पुनरपि सर्वात्मानं दर्शयति। सर्वस्य तावन्मात्रत्वप्रदर्शनार्थम्। उक्तं च–

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" इति।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥ १४॥

अन्वयः–(सः) पुरुषः सहस्रशीर्षाः सहस्राक्षः सहस्रपात्, सः भूमिं विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्॥ १४॥

मन्त्रार्थ–परब्रह्म परमात्मा पूर्णपुरुष है, (अत एव) उसके हजार सिर, हजार आँखें और हजार पैर हैं। उसने समस्त भूमण्डल को सभी ओर से वेष्टित किया है। वह अनन्त रूप में स्थित है। अथवा–नाभि के ऊपर जो दस अंगुल का हृदयाकाश है, वह उसमें रहता है॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्

सहस्राण्यनन्तानि शीर्षाण्यस्येति सहस्रशीर्षा। पुरुषः पूर्णः। एवमुत्तरत्र योजनीयम्। स भूमिं भुवनं सर्वतोऽन्तर्बहिश्च वृत्वा व्याप्याऽत्यतिष्ठदतीत्य भुवनं समधितिष्ठति। दशाङ्गुलमनन्तमपारमित्यर्थः। अथवा नाभेरुपरि दशाङ्गुलं हृदयं तत्राऽधितिष्ठति॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

तेरहवें मंत्र में 'पुरुषोऽन्तरात्मा' इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा की पूर्णता और अन्तर्यामिता का निरूपण किया गया है। अब वेदमाता उसकी सर्वव्यापकता का निरूपण इसलिए कर रही है, जिससे ईश्वर के साथ प्राणिमात्र का तादात्म्य स्थापित हो सके। जैसा कि प्रमाणवचन है–'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'। जिसका अस्तित्व नहीं होता, उस वस्तु का भ्रम सत्य वस्तु में होना 'अध्यारोप' कहलाता है। जैसे यदि कहीं रस्सी का अस्तित्व है, तो उसे सांप समझ लेना 'अध्यारोप' है, जब कि उसका अस्तित्व वहां नहीं होता और जब भ्रम मिट जाता है, तब हम उसका खण्डन करते हैं कि 'अरे! यह तो रस्सी है सांप नहीं।' उसी प्रकार जो प्रपञ्च से रहित है उस परब्रह्म में माया के द्वारा प्रापञ्चिक प्रतीति 'अध्यारोप' है। और जब अज्ञानमल हट जाता है, तो हमारा भ्रम दूर होता है। तब हम निर्णय करते हैं–'अरे! यह तो परब्रह्म है, प्रपञ्च मिथ्या है।' इसका नाम है 'अपवाद'। इन्हीं 'अध्यारोप' और 'अपवाद' द्वारा उस परब्रह्म का विस्तारपूर्वक निरूपण किया जाता है, जो वस्तुतः प्रपञ्चरहित है।

सहस्रशीर्षाः–'सहस्राणि शीर्षाणि अस्य इति सहस्रशीर्षाः', यहां 'सहस्र' शब्द हजार अर्थ का बोधक न होकर अनगिनत अर्थ का ज्ञापक है। जितनी भी योनियां होती हैं, उनमें जीवात्मा के रूप में परमात्मा का वास होता है। यतः वह परमात्मा अनन्त शरीर धारण करता है, अतः उसे हजारों, अनन्त सिर हैं।

पुरुषः—क्योंकि वह देहधारी प्राणी के प्रत्येक शरीर के भीतर सुप्तावस्था में रहता है। देहाभिमान के कारण जीवात्मा उसके अथवा अपने स्वरूप को नहीं पहचानता। अतः वह 'पुरुष' है।

सहस्राक्षः सहस्रपात्—प्राणिमात्र के भीतर वास करते हुए वह सबकी आँखों से देखता है, क्योंकि सब की आँखें उसकी आँखें हैं, अत एव वह अनगिनत नेत्रों से सम्पन्न है। उसी प्रकार जीवमात्र के चरण उसके चरण होने के कारण वह कहीं भी चल फिर सकता है। वह अनन्त चरणों से युक्त है।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥ १६६॥' इसकी व्याख्या 'खद्योत'कार भास्करराय भारती इस प्रकार करते हैं—

"सहस्रशीर्षा पुरुष इत्येकं नाम ते स्फुटम्।
सहस्रनेत्रचरणः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥ ५८७॥"

'स भूमिं सर्वतो वृत्वा' इत्यादि—यहां 'भूमि' का अर्थ है अखण्ड ब्रह्माण्ड। उसे परम-पुरुष भीतर-बाहर सभी ओर से व्याप्त कर 'दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्'—अनन्त अपार रूप से उस भूमि का भी अतिक्रमण कर रहता है। इसका दूसरा अर्थ है—वह नाभिप्रदेश के ऊपर दस अङ्गुल नापवाले हृदयाकाश में रहता है। नवद्वार पुर में शयन करनेवाले उस पुरुष का परिमाण पूर्व मंत्र में वर्णित है—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा'॥ १४॥

पुरुष एवेदँ सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उताऽमृतत्वस्येशानो यदन्नेनाऽतिरोहति॥ १५॥

अन्वयः—यद् भूतम् यत् च भव्यम्, यत् अन्नेन अतिरोहति, इदं सर्वं पुरुषः एव। उत अमृतत्वस्य ईशानः॥ १५॥

मन्त्रार्थ—जो भूत घटित है और जो भव्य होने वाला है, जो 'अन्न' के द्वारा वृद्धिंगत होता है, वह सब परमपुरुष का ही स्वरूप है। और वह अमरपद मुक्ति का स्वामी है॥ १५॥

शाङ्करभाष्यम्

ननु सर्वात्मत्वे सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यात्, तद्व्यतिरेकेणाऽभावादित्याह—पुरुष एवेदमिति। पुरुष एवेदं सर्वं यदन्नेनाऽतिरोहति यदिदं दृश्यते वर्तमानं यद् भूतं यच्च भव्यं भविष्यत्। किञ्च—उताऽमृतत्वस्येशानोऽमरणधर्मत्वस्य कैवल्यस्येशानः। यच्चाऽन्नेनाऽतिरोहति यद् वर्तते तस्येशानः॥ १५॥

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उपस्थित है कि ब्रह्म प्रपञ्चरहित है, वह 'निर्विशेष'-विशेषण-रहित है। ऐसी स्थिति में उसे सर्वव्यापी मानने पर उसे प्रपञ्च से युक्त अत एव सोपाधिक स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि व्यतिरेकव्याप्ति द्वारा परमेश्वर के अभाव में जगत् का अस्तित्व भी नकारना पड़ेगा। इसके विषय में वेदमाता कहती है—

'पुरुष एवेदम्' इत्यादि। यत् अन्नेन अतिरोहति-जो प्रपञ्च 'अन्न' के द्वारा वृद्धिंगत होता है, और वर्तमान में दृष्टिगोचर होता है, यद् भूतम्-जो कुछ भूतकाल में घटित हुआ है, यच्च भव्यम्-और जो कुछ भविष्यकाल में घटित होने वाला है, 'इदं सर्वं पुरुष एव'-वह समस्त त्रैकालिक प्रपञ्च परब्रह्म परमपुरुषस्वरूप परमात्मा है। यत् अन्नेन अतिरोहति-'जो खाद्यसामग्री द्वारा वृद्धिंगत होता है।' यह अर्थ शंकराचार्य करते हैं। 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते' (मु. उ. १।१।८) मन्त्र की व्याख्या के अवसर पर आचार्य शंकर लिखते हैं-'ततो ब्रह्मणः अन्नम् अद्यते भुज्यते इत्यन्नम् अव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्था रूपेण जायते।' अर्थात् विस्तारशील ब्रह्म से 'अन्न' (उपभोगयोग्य अव्यक्त प्रकृति) व्यक्त होती है, जो संसारी जीवों का अव्याकृत साधारण कारण है, वह धीरे धीरे व्याकृत अवस्था को प्राप्त करती है। विज्ञानभगवान् और उपनिषद्ब्रह्मयोगी के मत में वह 'अन्न' माया है, जिसके द्वारा शुद्ध ब्रह्म अपने वास्तविक स्वरूप को छोड़ देता है और प्रपञ्च (कार्य) के रूप में परिणत होता है।

उत अमृतत्वस्य ईशानः-जब जीव को स्वस्वरूप का ज्ञान होता है और देहाभिमान छोड़कर वह प्रपञ्च को मिथ्या समझता है, तब वही शुद्ध ब्रह्म अमृतत्व का स्वामी होता है। ज्ञानी उसके यथार्थ साक्षात्कार से 'अमृत' पद प्राप्त करते हैं और जन्म-मरणचक्र से छुटकारा पाकर अमर हो जाते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता॥ १५॥

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १६॥

अन्वयः-तत् सर्वतः पाणिपादं सर्वतः अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति॥ १६॥

मन्त्रार्थ-वह परब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होने पर देहधारी प्रतिजीव और जगत् में अन्तर्बाह्यरूप से व्याप्त है। सभी प्राणियों के हाथ-पैर, आँखें, मस्तक, मुख और कान ये सभी अवयव उसी परब्रह्म के हैं और वह सबको वेष्टित कर वहां रहता है॥ १६॥

शाङ्करभाष्यम्

पुनरपि निर्विशेषं प्रतिपादयितुं दर्शयति-सर्वत इति। सर्वतः पाणयः पादाश्चेति सर्वतःपाणिपादं तत्। सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिः श्रवणमस्येति श्रुतिमत्। लोके प्राणिनिकाये सर्वमावृत्य संव्याप्य तिष्ठति॥ १६॥

तात्पर्यदीपिका

पुनश्च इस मंत्र में निर्विशेष परब्रह्म का सविशेष प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है-तत् सर्वतः पाणिपादम्-उस परब्रह्म-परमात्मा के चारो ओर हाथ पैर हैं।

सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्—उसके सभी ओर आँख, मस्तक और मुख हैं।

सर्वतः श्रुतिमत्—उसके सभी ओर कान हैं। वह सभी कुछ सुनता है। सभी शब्द-व्यापार उसका है, प्राणिमात्र जो कुछ नाद करता है, वह सब परब्रह्म परमात्मा का ही है।

लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति—वह जगत् के प्राणियों के शरीर में सबको अन्तर्बाह्य-रूप से व्याप्त कर अवस्थित है। परब्रह्म परमात्मा कण-कण में व्याप्त है॥ १६॥

अवतरणभाष्यम्—उपाधिभूतपाणिपादादीन्द्रियाध्यारोपणाज्ज्ञेयस्य तद्वत्ताशङ्का मा भूदित्येवमर्थमुत्तरतो मन्त्रः—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥ १७॥

अन्वयः—(तत्) सर्वेन्द्रियविवर्जितं सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वस्य प्रभुम् ईशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥ १७॥

मन्त्रार्थ—वह परब्रह्म परमात्मा समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी समस्त इन्द्रियवृत्तियों के रूप में आभासित होता है। वह सर्वसमर्थ सबका स्वामी सबका आश्रयदाता और सबसे बड़ा कारण है॥ १७॥

शाङ्करभाष्यम्

सर्वेन्द्रियेति। सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्तः-करणपर्यन्तानि सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते। अन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतः सर्वेन्द्रियगुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणादिभिर्गुणवदाभासत इति सर्वेन्द्रिय-गुणाभासम्। सर्वेन्द्रियैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयमित्यर्थः। "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ. उ. ४। ३। ७) इति श्रुतेः। कस्मात् पुनः कारणात् तद्व्यापृतमिवेति गृह्यते? इत्याह—'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'। सर्वकरणरहितमित्यर्थः। अतो न च करणव्यापारैर्व्यापृतं तज्ज्ञेयम्। सर्वस्य जगतः प्रभुमीशानम्। सर्वस्य शरणं परायणं बृहत्कारणं च॥ १७॥

तात्पर्यदीपिका

इस मंत्र में यह प्रतिपादित है कि परब्रह्म परमात्मा का सम्बन्ध देह का आश्रय लेने वाले इन्द्रियों से नहीं होता। मात्र उस परमात्मा पर उनका अध्यारोप किया जाता है, क्योंकि वह इन्द्रियवृत्तियों के रूप में अवभासित होता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासम्—वह परब्रह्म परमात्मा सभी इन्द्रियवृत्तियों द्वारा अवभासित होता है। आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। हाथ-पैर-मुख-गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। ये सभी बाह्य करण हैं। केवल बुद्धि और मन अन्तःकरण हैं। आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और रस इन विषयों का क्रमशः ग्रहण वृत्तियां हैं। चलना-फिरना,

पकड़ना, बोलना, मल-मूत्रविसर्जनादि कर्मेन्द्रियों की वृत्तियां हैं। मन की वृत्ति है संकल्प-विकल्प। परब्रह्म परमात्मा में स्वयं ये वृत्तियां नहीं होती, अपितु यह आभास होता है कि परमात्मा ही साक्षात् सब कुछ करता है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।७) का मंत्र है-'**ध्यायतीव लेलायतीव**'। (वह मानो ध्यान करता है, वह मानों चेष्टा करता है।)

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्-परब्रह्म परमात्मा वस्तुत: सभी इन्द्रियों से शून्य है। क्योंकि उसका अपना कोई शरीर नहीं होता, अत: इन्द्रिय एवं इन्द्रियवृत्तियां भी उसमें नहीं रहती। परब्रह्म परमात्मा को समझने के लिए हम केवल उस पर इसका 'अध्यारोप' करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता (१३।१४) का पूर्वार्द्ध भी इसी प्रकार है। '**गीताभाष्य**' में शंकराचार्य '**सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**' इस पद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं-'**(सर्वेन्द्रियगुणाभासम्) सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाख्यानि, अन्तःकरणे च बुद्धिमनसी ज्ञेयोपाधित्वस्य तुल्यत्वात् सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते। अपि च अन्तःकरणोपाधिद्वारेण एव श्रोत्रादीनाम् अपि उपाधित्वम् इत्यतः अन्तःकरण-बहिष्करणोपाधिभूतैः सर्वेन्द्रियगुणैः अध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिः अवभासते इति सर्वेन्द्रियगुभाभासम् = सर्वेन्द्रियव्यापृतेः व्यावृतम् इव तत् ज्ञेयमित्यर्थः।**'

सर्वस्य प्रभुम् ईशानम्-वह समस्त चराचर जगत् अखण्ड ब्रह्माण्डमण्डल का सर्वसमर्थ स्वामी है।

सर्वस्य शरणं बृहत्-वह सब का विशाल आश्रयदाता है। शांकरभाष्य के अनुसार 'बृहत्' का अर्थ विशाल कारण है॥ १७॥

किञ्च- (और)

नवद्वारे पुरे देही हँसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ १८॥

अन्वयः-**सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च लोकस्य वशी हंसः नवद्वारे पुरे देही बहिः लेलायते॥ १८॥**

मन्त्रार्थ-वह परब्रह्म परमात्मा समस्त स्थावर और जंगम लोक के वश में करते हुए नौ दरवाजे वाले नगर में बाहर चेष्टा करता है॥ १८॥

शाङ्करभाष्यम्

नवद्वार इति। नवद्वारे शिरसि सप्तद्वाराणि द्वे अवाची पुरे देही विज्ञानात्मा भूत्वा कार्यकारणोपाधिः सन् हंसः परमात्मा हन्त्यविद्यात्मकं कार्यमिति, लेलायते चलति बहिर्विषयग्रहणाय। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ १८॥

तात्पर्यदीपिका

हंसः—'हन्ति अविद्यात्मकं कार्यमिति हंसः।'-परब्रह्म परमात्मा 'हंस' है, क्योंकि वह अविद्या से उत्पन्न समस्त कार्यों का संहार करता है।

वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च—यह समस्त लोक दो भागों में है- स्थावर और जंगम-वृक्ष, पर्वत, नदी आदि जो अपने स्थान से च्युत नहीं होते, उन्हें 'स्थावर' कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर चल फिर सकते हैं, उसे 'जंगम' कहते हैं। वह चराचर जगत् चौदह भुवनों में विभाजित है। उसको वश में रखनेवाला परब्रह्म परमात्मा उसका स्वामी है।

देही नवद्वारे पुरे बहिः लेलायते—उस परमात्मा को जब देहाभिमान होता है, तब वह नौ दरवाजों वाले पुर में रहते हुए बाह्य विषयों के लिए प्रयत्नशील रहता है। पाञ्चभौतिक शरीर एवं उनमें अवस्थित इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर वह 'विज्ञानात्मा' होता है। अर्थात् वह आत्मस्वरूप को भूल जाता है और शरीर और इन्द्रियों को स्वस्वरूप समझता है। नौ दरवाजों वाला वह 'पुर' हमारा शरीर है, जिसके सात दरवाजे हमारे मस्तक में हैं (वे हैं-दो आंखें, दो कान, दो नासापुट और एक मुख।) दो दरवाजे (गुदा और उपस्थ) उसके बाहर हैं। स्वस्वरूप को भूलने पर ही जीव विषयासक्त होता है यही इसका तात्पर्य है॥ १८॥

अवतरणम्—एवं तावत् सर्वात्मकं ब्रह्म प्रतिपादितम्। इदानीं निर्विकारानन्दस्वरूपेणाऽनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थितं परमात्मानं दर्शयति—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्याऽस्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १९॥

अन्वयः—अपाणिपादः (तथापि) जवनः ग्रहीता, अचक्षुः (तथापि) पश्यति, सः अकर्णः (तथापि) शृणोति, सः वेद्यं वेत्ति, तस्य च वेत्ता न अस्ति, तम् अग्र्यं महान्तं पुरुषम् आहुः॥ १९॥

मन्त्रार्थ—परब्रह्म परमात्मा के न तो हाथ हैं और न पैर। तथापि वह अत्यंत वेगवान् गतिशील है और सबको ग्रहण करने वाला है। उसे आँखें नहीं है, तथापि वह सबको देखता है। उसे कान नहीं है, तथापि वह सब कुछ सुनता है। वह जो जानने योग्य है उस सबको वह जानता है। किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने उसकी स्थिति सर्वप्रथम निर्धारित करते हुए उसे पूर्ण एवं महान् कहा है॥ १९॥

शाङ्करभाष्यम्

अपाणिपाद इति। नाऽस्य पाणिपादावित्यपाणिपादः। जवनो दूरगामी। ग्रहीता पाण्यभावेऽपि सर्वग्राही। पश्यति सर्वमचक्षुरपि सन्।

शृणोत्यकर्णोऽपि। स वेत्ति वेद्यं सर्वज्ञत्वादमनस्कोऽपि। न च तस्याऽस्ति वेत्ता "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ. उ. ३।७।२३) इति श्रुतेः। तमाहुरग्र्यं प्रथमं सर्वकारणत्वात् पुरुषं पूर्णं महान्तम्॥ १९॥

तात्पर्यदीपिका

सोपाधिक ब्रह्म का निरूपण करने के अनन्तर अब निरुपाधिक परब्रह्म का निरूपण किया जा रहा है, जो विकाररहित उस ज्ञान के रूप में स्थित है, जिसका न तो उदय होता है और न अस्त–

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता–(परब्रह्म परमात्मा किसी भी प्रकार की उपाधि से युक्त नहीं है।) न तो उसे हाथ हैं और न पैर; तथापि वह वेगशाली है, दूर तक उसकी पहुँच है। साथ ही सभी कुछ वह ग्रहण करता है।

पश्यत्यचक्षुः–उसे नेत्र नहीं है, तथापि उसमें रूपग्रहण का सामर्थ्य है, वह सब कुछ देखता है।

स शृणोत्यकर्णः–उसे कान नहीं है, तथापि वह सभी प्रकार के शब्द सुनता है।

स वेत्ति वेद्यम्–उसे अन्तःकरण, बुद्धि और मन नहीं है, तथापि जो कुछ जानने योग्य है, वह उस सबको वह जानता है।

न च तस्याऽस्ति वेत्ता–परन्तु उसको जानने वाला कोई नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है–'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (३।७।२३) उस निरुपाधिक परब्रह्म परमात्मा से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।

तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्–मंत्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं–(समस्त जगत् हिरण्यगर्भ का कार्य है, उस हिरण्यगर्भ का जनक भी वही है। अतः सबका जनक कारण होने के कारण) उसका प्रथम स्थान है। वही पूर्ण और महापुरुष है।॥ १९॥

किञ्च– (और)

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादात् महिमानमीशम्॥ २०॥

अन्वयः–अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मा अस्य जन्तोः गुहायां निहितः। यः धातुः प्रसादात् अक्रतुं महिमानं तम् ईशं पश्यति, (सः) वीतशोकः (भवति)॥ २०॥

मन्त्रार्थ–वह निरुपाधिक परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्मतम है और महान् से महत्तम है। वह जन्म लेने वाले इस देहधारी प्राणी के हृदयरूपी गुफा में रहता है। जो प्राणी विधाता की कृपा से विषयों में आसक्तिशून्य महिमामण्डित परमात्मा को जगत् के शासक के रूप में साक्षात्कार करता है, वह शोकमुक्त हो जाता है॥.२०॥

शाङ्करभाष्यम्

अणोरणीयानिति। अणोः सूक्ष्मादप्यणीयानणुतरः। महतो महत्त्वपरिमाणात् महीयान् महत्तरः। स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः। तमात्मानमक्रतुं विषयभोगसङ्कल्परहितमात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितमीशं पश्य'त्ययमहमस्मी'ति साक्षाज्जानाति यः स वीतशोको भवति। केन तर्ह्यसौ पश्यति? धातुरीश्वरस्य प्रसादात्। प्रसन्ने हि परमेश्वरे तद्याथात्म्यज्ञानमुत्पद्यते। अथवेन्द्रियाणि धातवः शरीरस्य धारणात् तेषां प्रसादाद् विषयदोषदर्शनमलाद्यपनयनात्। अन्यथा दुर्विज्ञेय आत्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः॥ २०॥

तात्पर्यदीपिका

अणोरणीयान् महतो महीयान्—पदार्थों में प्राणिगोचर सूक्ष्मतम पदार्थ 'अणु' है और विशालतम पदार्थ 'आकाश'। वेदमाता कहती है कि परब्रह्म परमात्मा उस 'परमाणु' से भी 'अणु' है, जिसे हम देख नहीं सकते, क्योंकि उसमें भी उसका वास होता है। प्राणिमात्र अनन्त आकाश को देखता है, जो विशालतम है। प्राणी में उससे परे ग्रहणशक्ति नहीं होती। किन्तु परब्रह्म परमात्मा उसको भी वेष्टित करता है, अतः उससे भी बड़ा है।

आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः—जो प्राणी जन्म लेकर देहधारण करता है, उसे 'जन्तु' कहते हैं—'जायते इति जन्तुः'। ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी देहधारी जन्तु हैं। उस देहधारी जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में परमात्मा छुपा रहता है।

'तमक्रतुं पश्यति वीतशोक' इत्यादि—(जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है, उसी का अंश है। देहाभिमान के कारण वह स्वयं को उससे भिन्न समझता है। वह परमात्मा) 'अक्रतु' अर्थात् विषयोपभोग के संकल्प से शून्य होता है। वृद्धि एवं क्षय कर्म के कारण होते हैं, यतः वह संकल्पशून्य निष्क्रिय होता है, अतः निष्क्रिय भी होता है। जब जीवात्मा का देहाभिमान छूट जाता है, तब वह उसी ईश्वर के कृपाप्रसाद से अपने महिमामण्डित स्वस्वरूप का साक्षात्कार करता है। वह परमात्मा सर्वसमर्थ सबका स्वामी है। जब जीव को परमात्मा का साक्षात्कार होता है, तब वह अनुभव करता है—'अयमहमस्मि'। 'अरे! मैं वही परब्रह्म परमात्मा हूँ, उससे भिन्न नहीं हूँ।' तब वह शोकमुक्त होता है, उसके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी दुःख कट जाते हैं॥ २०॥

अवतरणम्—उक्तमर्थं द्रढयितुं मन्त्रदृगनुभवं दर्शयति—

वेदाऽहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥ २१॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अन्वयः—हि ब्रह्मवादिनः यस्य जन्मनिरोधं नित्यं प्रवदन्ति-अहम् एतम् अजरं पुराणं विभुत्वात् सर्वगतं सर्वात्मानं वेद॥ २१॥

मन्त्रार्थ—मैं उस जरारहित पुराणपुरुषस्वरूप व्यापक होने के कारण सभी में स्थित उस परमात्मा को जानता हूँ, ब्रह्मवेत्ता लोक जिसकी जन्महीनता को नित्य कहते हैं। अथवा—मूर्खलोग जिसे जन्ममरणशाली समझते हैं, किन्तु ब्रह्मवेत्ता उसे नित्य शाश्वत कहते हैं॥ २१॥

शाङ्करभाष्यम्

वेदाहमेतमिति। वेद जानेऽहमेतमजरं विपरिणामधर्मवर्जितं पुराणं पुरातनं सर्वात्मानं सर्वेषामात्मभूतं सर्वगतं विभुत्वादाकाशवद् व्यापकत्वात्। यस्य च जन्मनिरोधमुत्पत्त्यभावं प्रवदन्ति ब्रह्मवादिनो हि नित्यम्। स्पष्टोऽर्थः॥ २१॥

॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

'वेदाहमेतमजरम्' इत्यादि। मैं उस परमात्मा का साक्षात्कार कर रहा हूँ, जो जरा रहित है 'जरा' बुढ़ापा शरीरधर्म शरीर की विकृति है, परमात्मा उससे शून्य है। वह पुरातन है और आकाश के समान व्यापक होने के कारण सब में अवस्थित है। उस सर्वात्मा परमात्मा को मैं जानता हूँ।

जन्मनिरोधं इत्यादि—ब्रह्मवेत्ता लोग उसकी उत्पत्तिशून्यता का नित्य प्रतिपादन करते हैं।

शंकरानन्दजी ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है—'(जन्मनिरोधं) जन्म च निरोधश्च जन्मनिरोधमुत्पत्तिनाशावित्यर्थः। प्रवदन्ति = प्रकर्षेण कथयन्ति, मूढा इति शेषः। यस्य आत्मनः.....ब्रह्मवादिनः उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारा हि प्रसिद्धाः प्रवदन्ति प्रकर्षेण कथयन्ति नित्यम्।'

अर्थात् जो मूढ अज्ञानी मोहग्रस्त होते हैं, वे परमात्मा के जन्म एवं विनाश का प्रतिपादन करते हैं। जिन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, वे ब्रह्मवादी परब्रह्म परमात्मा की नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं, उसे नश्वर नहीं मानते, शाश्वत अविनाशी कहते हैं॥ २१॥

॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् के तृतीय अध्याय की हिन्दी व्याख्या तात्पर्यदीपिका सम्पूर्ण॥ ३॥



चतुर्थः अध्यायः

अवतरणम्–गहनत्वादस्याऽर्थस्य भूयो भूयो वक्तव्य इति चतुर्थोऽध्याय आरभ्यते–

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
वि चैति चाऽन्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ १॥

अन्वयः–यः एकः अवर्णः निहितार्थः आदौ अनेकान् वर्णान् दधाति, अन्ते च विश्वं व्येति (वि + एति), सः देवः नः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु॥ १॥

मन्त्रार्थ–जो परब्रह्म परमात्मा रूपादि उपाधियों से रहित होकर अपने प्रयोजनों को गुप्त रखते हुए विना किसी प्रयोजन के ही सृष्टि के प्रारम्भ में नानाविध रूप रंग बिखेरता है और अन्त में समस्त चराचर विश्व का विलय करता है, वह प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हमें मंगलमयी सद्बुद्धि से संयोजित करे॥ १॥

शाङ्करभाष्यम्

य एक इति। य एकोऽद्वितीयः परमात्माऽवर्णो जात्यादिरहितो निर्विशेष इत्यर्थः। बहुधा नानाशक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थोऽगृहीतप्रयोजनः स्वार्थनिरपेक्ष इत्यर्थः। दधाति विदधात्यादौ। वि चैति व्येति चाऽन्ते प्रलयकाले। चशब्दान्मध्येऽपि यस्मिन् विश्वं स देवो द्योतनस्वभावो विज्ञानैकरस इत्यर्थः। स नोऽस्माञ्शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु संयोजयतु॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

चतुर्थ अध्याय भी परब्रह्म परमात्मा के निरूपण से प्रारम्भ होता है, क्योंकि उसे समझना कठिन है। प्रथम मंत्र में उस परमात्मा से सद्बुद्धि की कामना की गयी है–

यः एकः = जो परब्रह्म परमात्मा अकेला है, अवर्णः = और रंग-रूप आदि से शून्य है अर्थात् उसके साथ जाति आदि उपाधियां जुटी नहीं है। निहितार्थः = 'निहिताः अर्थाः येन सः।' वह अपने प्रयोजनों को गुप्त रखता है–अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के ही, बहुधा शक्तियोगात् = अनेक प्रकार की शक्तियों के सम्बन्ध से; वह द्योतनात्मक परमेश्वर से अभिन्न कारणरूपा शक्ति हो सकती है, ईश्वरीय शक्ति हो सकती है, सृष्टि-स्थिति संहारशक्ति हो सकती है, प्रकृति, पुरुष और ईश्वर की स्वरूपशक्ति हो सकती है। (द्रष्टव्य शांकरभाष्य-१.४)। अनेकान् वर्णान् दधाति = विविध रंग-रूप बिखेरता

है। अन्ते च विश्वं व्येति = और अन्त में विश्व को अपने में समेटता है। वि चैति चाऽन्ते इस मंत्रभाग में दो 'च' कार हैं। इसका आशय यह है कि सृष्टि और संहार के बीच में विश्व की स्थिति परब्रह्म परमात्मा में ही रहती है। सः देवः = वह परब्रह्म परमात्मा द्योतनात्मक प्रकाशस्वरूप है, एकमात्र विशिष्ट ज्ञान का रस ही उसका प्रकाशस्वरूप है। नः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु = (वह परमात्मा) हमें मंगलमयी सद्बुद्धि से संयोजित करे। हमारे मन में किसी प्रकार की कुबुद्धि कुविचार या खराब संकल्प जन्म न ले॥ १॥

अवतरणम्—यस्मात् स एव स्त्रष्टा तस्मिन्नेव लयस्तस्मात् स एव सर्वम्, न ततो विभक्तमस्तीत्याह मन्त्रत्रयेण—

तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः॥ २॥

अन्वयः—तदेव अग्निः, तत् एव आदित्यः, तत् एव वायुः, तदु एव चन्द्रमाः, तत् एव शुक्रम्, तत् एव ब्रह्म, तत् एव आपः, तत् एव प्रजापतिः॥ २॥

मन्त्रार्थ—वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है और वही प्रजापति है॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

तदेवेति। तदेवाऽऽत्मतत्त्वमग्निः। तदादित्यः। एवशब्दः सर्वत्र संबध्यते तदेव शुक्रमिति दर्शनात्। शेषमृजु। तदेव शुक्रं शुद्धमन्यदपि दीप्तिमन्नक्षत्रादि। तद् ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा, तदापः स प्रजापतिर्विराडात्मा॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

अग्रिम तीन मन्त्रों में यह निरूपण किया गया है कि यतः उसी परब्रह्म परमात्मा से जगत् की सृष्टि और अभिव्यक्ति होती है और उसी में उसका विलय भी होता है, अतः जो कुछ है परब्रह्म परमात्मा है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। प्रथम मंत्र में उस परमपिता का पुल्लिंग से निर्देश किया गया है, और इस मंत्र में नपुंसक लिङ्ग से। क्योंकि वह चेतन भी है और अचेतन भी।

तदेवाऽग्निः = वह परब्रह्म ही अग्निस्वरूप है, तदेव आदित्यः = वही सूर्य है, तदेव वायुः = वही वायु है, तदु एव चन्द्रमाः = वही चन्द्रमा है, तदेव शुक्रम् = वही शुक्र ग्रह है अथवा निर्मल प्रकाशमान अन्य ग्रह हैं, तदेव ब्रह्म = वही हिरण्यगर्भ नामक परब्रह्म है, जो जगत् का कारण है, तदेव आपः = वही जल है, तत् एव प्रजापतिः = वही विराट् पुरुष परमात्मा है।

विज्ञानभगवान् और उपनिषद्योगी के अनुसार सभी प्राणियों में अग्नि के रूप में, सभी प्राणियों में प्राणवायु के रूप में, चन्द्रमा मन के रूप में, आँखें सूर्य के रूप में, जल जीभ के रूप में और हिरण्यगर्भ ब्रह्म अन्तःकरण के रूप में वास करता है।

ये सभी परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न हैं, अतः अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र, शुक्रादि अन्य ग्रह, हिरण्यगर्भ, जल और विराट् पुरुष सभी परब्रह्म ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं॥ २॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ ३॥

अन्वयः—त्वं स्त्री, त्वं पुमान्, त्वं कुमारः, उत वा कुमारी असि। त्वं जीर्णः दण्डेन उ अञ्चसि। त्वं जातः विश्वतोमुखः भवति॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्—स्पष्टो मन्त्रार्थः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

(महर्षि श्वेताश्वतर निरुपाधिक परब्रह्म परमात्मा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे परमेश्वर! आपका कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं है। जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह आपके ही विभिन्न स्वरूप हैं, जो आप में ही विलय प्राप्त करते हैं। अत एव) आप स्त्री भी हैं और पुरुष भी, बालक भी हैं और बालिका भी। (यद्यपि अजर-अमर आप हैं, तथापि जब आप शरीरधारण कर उस देह भी रहते हैं, तब) वृद्ध बनकर छड़ी के सहारे चलते-फिरते हैं। जब आप विराट् रूप में प्रकट होते हैं, तब आपके सभी ओर मुख रहते हैं। 'विश्वतः सर्वतः सर्वप्राणिगतानि मुखानि यस्य सः विश्वतोमुखः' इस निर्वचन के अनुसार प्राणिमात्र के मुख आपके ही मुख हैं॥ ३॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत् त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥ ४॥

अन्वयः—(हे ब्रह्मन्!) त्वं एव नीलः पतङ्गः, (त्वमेव) हरितः लोहिताक्षः, (त्वं) तडिद्गर्भः, त्वं ऋतवः, (त्वं) समुद्राः, (त्वं) अनादिमत् विभुत्वेन वर्तसे, यतः विश्वा भुवनानि जातानि॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे परब्रह्म! तुम्ही भ्रमर आदि कीट-पतंग, शुक आदि पक्षी, मेघ, ऋतु, समुद्र सभी कुछ हो। तुम अनादि और अनन्त हो। तुम्हारी व्यापकता के कारण तुमसे सारा जगत् प्रकट हुआ है॥ ४॥

शाङ्करभाष्यम्

नील इति। त्वमेवेति सर्वत्र संबध्यते। त्वमेव नीलः पतङ्गो भ्रमरः पतनाद् गच्छतीति पतङ्गः। हरितो लोहिताक्षः शुकादिनिकृष्टाः प्राणिनस्त्वमेवेत्यर्थः। तडिद्गर्भो मेघ ऋतवः समुद्राः। यस्मात् त्वमेव सर्वस्याऽऽत्मभूतस्तस्माद-नादिस्त्वमेव त्वमेवाऽऽद्यन्तशून्यः, विभुत्वेन व्यापकत्वेन यतो जातानि भुवनानि विश्वानि॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

महर्षि कहते हैं–(हे परब्रह्म!) त्वमेव नीलः पतङ्गः = तुम्ही नीले (काले) रंग के भौंरे हो। यहां भौंरे के लिए 'पतङ्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पतनाद् गच्छतीति पतङ्गः' नीचे गिरकर चलने के कारण भ्रमर को 'पतङ्ग' भी कहते हैं। त्वमेव हरितः लोहिताक्षः = तुम्ही हरी आँखों वाले शुक पक्षी हो। त्वमेव तडिद्गर्भः = तुम्ही वह मेघ हो जिसके गर्भ में विजली रहती है। त्वमेव ऋतवः = तुम्ही वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतु हो, त्वमेव समुद्राः = तुम्ही समुद्र हो। त्वम् अनादिमत् = यतः तुम्ही सभी की आत्मा हो, अतः न तो तुम्हारा कोई आदि है और न अन्त। तुम अनादि-अनन्त अर्थात् आदि-अन्त-शून्य हो। (त्वं) विभुत्वेन वर्तसे = तुम सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हो। यतो विश्वा भुवनानि जातानि = व्यापकता के कारण जिससे सम्पूर्ण भुवन प्रकट हुए हैं॥ ४॥

अवतरणम्–इदानीं तेजोऽबन्नलक्षणां प्रकृतिं छान्दोग्योपनिषत्-प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ ५॥

अन्वयः–हि एकः अजः लोहितशुक्लकृष्णां सरूपाः बह्वीः प्रजाः सृजमानाम् अजाम् एकां जुषमाणः अनुशेते; अन्यः अजः भुक्तभोगां जहाति॥ ५॥

मन्त्रार्थ–एक अज (बकरा) अपने अनुरूप बहुत सी संतति को जन्म देने वाली लाल, सफेद और काले रंग की अजा (बकरी) पर आसक्त होकर उसका उपभोग करता है और दूसरा अज (बकरा) उपभुक्त उस अजा (बकरी) का परित्याग करता है॥ ५॥

शाङ्करभाष्यम्

अजामेकामिति। अजां प्रकृतिं लोहितशुक्लकृष्णां तेजोऽबन्नलक्षणां बह्वीः प्रजाः सृजमानामुत्पादयन्तीं ध्यानयोगानुगतदृष्टां देवात्मशक्तिं वा सरूपाः समानाकारा अजो ह्येको विज्ञानात्माऽनादिकामकर्मविनाशितः स्वयमात्मानं मन्यमानो जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते भजते। अन्य आचार्योपदेशप्रकाशावसादिताविद्यान्धकारो जहाति त्यजति॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में उस प्रकृति का चित्रण किया है, जो 'छान्दोग्योपनिषद्' में प्रसिद्ध है। वहां तेज, जल और अन्न को प्रकृति का लक्षण कहा गया है। इस मंत्र में श्लिष्ट रूपक

के द्वारा उसका चित्रण है। अजा (अजन्मा) प्रकृति पर 'अजा' (बकरी) का आरोप करने से यहां रूपकालंकार है, जो श्लेष से अनुप्राणित है।

एकः अजः = एक अज्ञानपाश से जकड़ा हुआ जीवरूपी बकरा, **लोहितशुक्लकृष्णाम्** = लाल, सफेद और काले रंग की, **बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्** = बहुत सी सन्तान को जन्म देनेवाली, **एकाम् अजाम्** = एक अजन्मा 'देवात्मशक्ति' रूपी बकरी का, **जुषमाणः** =(उस पर) आसक्त होकर, **अनुशेते** = उपभोग करता है। आचार्य शंकर के अनुसार उस दैवी परमात्मशक्ति का स्वरूप तेज, जल और अन्नमय होता है। यतः तेज आरक्त वर्ण का, जल शुभ्रवर्ण का और अन्न कृष्ण हरे रंग का होता है, अतः दैवी आत्मशक्ति भी उक्त तीन वर्णों से सम्पन्न है।

सांख्यदर्शन के अनुसार वह 'अजा' त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। सत्वगुण सफेद रंग का, रजोगुण लाल रंग का और तमोगुण काले रंग का होता है, अतः वह उक्त तीन रंगों वाली है। वह प्रकृति अपने अनुरूप सात्विक, राजस और तामस प्रकृति की प्रजा को जन्म देती है। अज्ञानपाश से आबद्ध 'पशु' जीव आसक्त होकर उसका उपभोग करता है।

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः—जो आचार्य द्वारा उपदिष्ट मार्ग से अज्ञानान्धकार से मुक्त होता है और ज्ञानप्रकाश से आलोकित होता है, वह मुमुक्षु उसकी नश्वरता समझकर उस उपभुक्ता का परित्याग करता है।

एक जीव भोगी संसारी होता है और दूसरा योगी मुमुक्षु। भोगी कर्मानुसार भोग भोगते हैं और मुमुक्षु उनका परित्याग करते हैं। दोनों प्रकार के जीव स्वरूप से अनादि हैं अतः उन्हें इस मंत्र में 'अज' और 'देवात्मशक्ति' अथवा 'प्रकृति' को 'अजा' कहा गया है। भोगी उसका उपभोग करता है और मुमुक्षु उसको त्यागता है।

श्रीवाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका 'सांख्यकौमुदी' के प्रारम्भ में इस मंत्र को मंगलाचरण के रूप में उद्धृत किया है॥ ५॥

अवतरणम्—इदानीं सूत्रभूतौ परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्येते—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ ६॥

अन्वयः—सयुजा सखाया द्वा सुपर्णा समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति, अन्यः अनश्नन् अभिचाकशीति॥ ६॥

मन्त्रार्थ—एक साथ रहकर मैत्रीभाव रखने वाले अथवा समान नाम के सुन्दर पंखों से युक्त गतिशील दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेते हैं। उन दोनों में एक पक्षी (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों (शरीर द्वारा किये गये कर्मफलों) का उपभोग करता है, और दूसरा पक्षी (परमात्मा) बिना उनका उपभोग किये केवल उनका साक्षी बनकर उनकी ओर निहारता रहता है॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

द्वेति। द्वा द्वौ विज्ञानपरमात्मानौ। सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ शोभनगमनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद् वा सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सर्वदा संयुक्तौ। सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणौ। एवभूतौ सन्तौ समानमेकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याद् वृक्षं शरीरं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ समाश्रितवन्तावेतौ।

तयोरन्योऽविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिर्विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं सुखदुःखलक्षणं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपमत्ति उपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरोऽभिचाकशीति सर्वमपि पश्यन्नास्ते॥ ६॥

तात्पर्यदीपिका

पूर्व मन्त्र में जीव और परमात्मा की तुलना दो 'अज' (बकरों) से की थी। इस मन्त्र में उन दोनों की तुलना दो पक्षियों से की जा रही है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया–इस मन्त्रभाग में **'द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ'** इस प्रकार लौकिक संस्कृत के समान प्रयोग न करते हुए सर्वत्र आकारान्त प्रयोग किया गया है, जो वैदिक है। जैसा कि 'मुण्डकोपनिषद्' में आए हुए इसी मन्त्र (३।१।१) की व्याख्या करते हुए आनन्दगिरि कहते हैं–'द्वा सुपर्णेत्यादौ द्विवचनस्याऽऽकारश्छान्दसः।' इसका सामान्य अर्थ होगा–'ऐसे दो सुन्दर पंख वाले दो पक्षी, जिनकी गति सुन्दर है, दोनों एक साथ रहते हैं और दोनों मित्र हैं।' वे दो पक्षी कौन हैं? इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं–**'द्वा द्वौ विज्ञान-परमात्मानौ'** एक जीव विज्ञानात्मा है और दूसरा ईश परमात्मा। **'सखायौ'**–वे दोनों **'सखा'** मित्र हैं, दोनों के नाम (अभिव्यक्तिकरण) समान है।

'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'–'वे दोनों एक ही पीपल के पेड़ का आश्रय लेते हैं।' वह सामान्य वृक्ष नहीं, अपितु संसारवृक्ष है। जिसप्रकार वृक्ष नश्वर होता है, उसी प्रकार वह संसार वृक्ष भी नश्वर है।

उस वृक्ष के विषय में **कठोपनिषद्** (३.२.१) कहती है–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से पुरुषोत्तमयोग का निरूपण करते हुए उसी अश्वत्थ वृक्ष का इस प्रकार निरूपण करते हैं–

'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥' (१५।१)

गीता के इस श्लोक का शांकरभाष्य इस प्रकार है–(**'ऊर्ध्वमूलं**) कालतः सूक्ष्मत्वात् कारणत्वात् नित्यत्वात् महत्वाच्च उच्यते ऊर्ध्वमिति ब्रह्म अव्यक्तं मायाशक्तिमत् तत् मूलम् अस्येति सोऽयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः।–महदहंकार–

तन्मात्रादयः शाखा इव अस्य अधः भवन्तीति सोऽयमधःशाखः। .... न श्वोऽपि इति अश्वत्थः।......अव्ययः अनाद्यनन्तदेहादिसन्तानाश्रयः। हि सुप्रसिद्धः।'

इसी की ध्यान में रखकर आचार्य शंकर 'मुण्डकोपनिषद्' के इस मंत्र (३.१.१) का भाष्य इस प्रकार करते हैं–

'अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयः।' और यहां पर वे कहते हैं–'वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याद् वृक्षं शरीरम्।'

निष्कर्ष यह है कि यह संसारवृक्ष 'क्षेत्र' नाम का हमारा शरीर है, जो वृक्ष के समान ही नाशवान् है। उसे 'अश्वत्थ' इसीलिए कहते हैं कि वह कल तक भी ठहर नहीं सकता, वह क्षणभंगुर है।–'न श्वोऽपि त्थाता।' सामान्य रूप से वृक्ष की जड़े नीचे रहती हैं, संसार वृक्ष की जड़े ऊपर हैं। और संसार की जड़ है मायाशक्तिसम्पन्न परब्रह्म। अनेक दृष्टियों से उसकी ऊपर स्थिति है–काल, सूक्ष्मता, नित्यता, कारणता, महत्ता आदि उसके कारण हैं। सामान्य वृक्ष की शाखाएँ ऊपर रहती हैं, संसारवृक्ष की शाखाएँ नीचे रहती हैं, वे हैं–महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा आदि। वे दोनों पक्षी–जीवात्मा और परमात्मा आलिंगनवद्ध होकर समान रूप से उसी संसारवृक्ष का आश्रय लेते हैं।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति–उन दोनों में एक पक्षी (जीवात्मा) उस पीपल (संसारवृक्ष) के फल (पापपुण्यादि कर्मफलों) का उपभोग करता है। जिस प्रकार पक्षी मधुर आम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त आदि षड्विध रसों से परिपूर्ण फलों का स्वाद चखता है, उसी प्रकार जीवात्मा देह–प्राण–मन–बुद्धि आदि विषयक अभिमान से शुभाशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है, जिनके फल सुख–दुखदायी मीठे, कड़वे, तीते, तीखे आदि होते हैं। अविवेक के अधीन होकर जीव उन्हें भोगता है।

अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति–'मुण्डकोपनिषद्' (३.१.१) में इस मंत्रभाग की व्याख्या इस प्रकार है–'अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्वोपाधिरीश्वरो नाऽश्नाति। प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्त्व-सत्तामात्रेण। स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत्।'

अश्वत्थ वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षियों में दूसरा पक्षी परमात्मा उन कर्मफलों का उपभोग नहीं करता। क्योंकि वह नित्य शुद्ध–बुद्ध मुक्तस्वभाव का और सर्वज्ञ है। 'सत्व' या निर्मल ज्ञानराशि ही उसकी उपाधि है। वह मात्र भोज्य कर्मफल और उसके उपभोक्ता (जीवात्मा) के कर्मों का साक्षी प्रेरक होता है। उसकी स्थिति उस राजा के समान होती है, जो दर्शक होकर प्रजा को प्रेरणा देता है।

['जीवन्मुक्त' साधक भी परमात्मा के निकट होता है। विषयवासनाएं उसे पाशबद्ध नहीं करती। देहपात के अनन्तर उसका परब्रह्म परमात्मा में विलय हो जाता है]॥ ६॥

तत्रैवं सति–वहाँ ऐसा होने पर

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ ७॥

अन्वयः–समाने वृक्षे पुरुषः निमग्नः (सन्) अनीशया मुह्यमानः शोचति। यदा जुष्टम् अन्यम् ईशम् अस्य महिमानं पश्यति इति वीतशोकः (भवति।)॥ ७॥

मन्त्रार्थ–उस एक ही अश्वत्थ वृक्ष का आश्रय लेने वाला 'पुरुष' (नवद्वार शरीर में शयन करने वाला जीव देहात्मभाव से) संसारसागर में डूबते हुए दीनभाव से शोकमग्न हो जाता है। और जब अनेक साधकों द्वारा विभिन्न योगमार्गों से सेवित देह इत्यादि से पृथक् परमात्मा और उसकी महिपा का साक्षात्कार करता है, तब वह जीवात्मा त्रिविध दुःखों से मुक्त होता है॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

समाने वृक्षे शरीरे पुरुषो भोक्ताऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव समुद्रजले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नः 'अयमेवाऽहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखी' इत्येवंप्रत्ययो नाऽन्योऽस्त्यस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते च संबन्धिबान्धवैः। अतोऽनीशया 'न कस्यचित् समर्थोऽहं पुत्रो मम नष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेन' इत्येवं दीनभावोऽनीशा तया, शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया विचित्रतामापद्यमानः।

तात्पर्यदीपिका

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः–दो पक्षी एक वृक्ष पर एक ही घोसले में रहते हैं। वे दो पक्षी हैं–जीवात्मा और परमात्मा, वह वृक्ष है शरीर और वह घोसला है उसका हृदय। उस देहरूपी वृक्ष के हृदयरूपी घोसले में रहने वाला 'जीवात्मा' पुरुष कहलाता है, क्योंकि वह नौ दरवाजों वाले 'ब्रह्मपुर' (शरीररूपी नगर) में सुप्तावस्था में रहता है। वह शुभाशुभकर्म करते हुए अपने पापपुण्यादि कर्मफलों को भोगता रहता है। वह अविद्या (अज्ञान), काम (विषयवासना), कर्मफल, राग आदि के भार से दबकर संसार-सागर में उसी प्रकार डूबता उतराता रहता है, जिस प्रकार जल में डूबने वाली तुंबी। उस समय शरीर को ही अपना मानकर वह कहता है–'मैं यह हूँ, मेरा अमुक नाम है, मैं अमुक का पुत्र हूँ, मैं दुर्बल हूँ, शक्तिशाली हूँ, गुणी हूँ, मेरे में कोई गुण नहीं है, सुखी हूँ, दुःखी हूँ' इत्यादि। इस प्रकार की भावनाओं से जीवात्मा जब ग्रस्त होता है तब वह यही समझता है, 'जो कुछ है मेरा शरीर है।' इसी देहात्मबुद्धि से वह रिश्तेदारों से मिलता भी है और विछुड़ता भी है।

अनीशया शोचति मुह्यमानः–तब उसमें यह दीनभाव आता है–'अब मैं असमर्थ हूँ। मेरा पुत्र, मेरी पत्नी मर गए। मैं अब जीवित रहकर क्या करूँ?' इस प्रकार मोहग्रस्त होकर अविवेक के कारण विविध प्रकार से शोक करता है।

शाङ्करभाष्यम्

स एव प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वापतन् दुःखमापन्नः कदाचिदनेकजन्मशुद्धधर्मसञ्चयननिमित्तं केनचित् परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागसमाहितात्मा सन् शमादिसम्पन्नो जुष्टं सेवितमनेकयोगमार्गैर्यदा यस्मिन् काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद् विलक्षणमसंसारिणमशनायाद्यसंस्पृष्टं सर्वान्तरं परमात्मानमीशम् 'अयमहमस्मीत्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतान्तरस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मा' इति विभूतिं महिमानमिति जगद्रूपमस्यैव महिमा परमेश्वरस्येति यदैवं पश्यति तदा वीतशोको भवति। सर्वस्माच्छोकसागराद् विमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः। अथवा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यैव प्रत्यगात्मनो महिमानम् इति तदा वीतशोको भवति॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

'जुष्टं यदा पश्यति' इत्यादि–फलतः वही जीवात्मा भूत–प्रेत, पशु–पक्षी, मनुष्य–सिद्ध–गन्धर्व आदि विविध योनियों में जन्म लेकर नाना प्रकार के दुःख भोगता है। इसी प्रकार विविध योनियों में आकर जब पुण्य संचय करता है, कोई परमदयालु सिद्ध महात्मा उसका पथ–प्रदर्शन करता है। परमात्मा से मिलने का मार्ग दिखलाता है। फलतः वह अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, सर्वत्याग आदि में एकाग्रचित्त होता है। फिर वह शम, दम, तितिक्षा आदि छः साधनों से सम्पन्न होकर विविध साधकों द्वारा उपासित उस परमात्मा का साक्षात्कार करता है, जो उसके समान ही उस शरीरवृक्ष के हृदयरूपी घोसले में रहता है। जीव जब शरीर की नश्वरता समझता है, तब जन्म–मरण के संसरण से मुक्त रहता है। वह भूख–प्यास इत्यादि भावनाओं से अस्पृष्ट रहता है और सभी में वास करता है। तब उसे यह बोध होता है कि 'अरे! मैं शुद्ध–बुद्धस्वरूप वही परमात्मा का अंश हूँ, जो सभी में वास करता है; मैं अविद्या इत्यादि उपाधि से ग्रस्त नहीं हूँ।' इस प्रकार जो जीव समस्त विश्व को परमात्मा के रूप में और उस परमात्मा में स्वयं का दर्शन करता है वह दुःखमुक्त होता है। श्रुति भी कहती है–'तरति शोकमात्मवित्'॥ ७॥

अवतरणम्–इदानीं तद्विदां कृतार्थतां दर्शयति–

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥ ८॥

अन्वयः–यस्मिन् विश्वेदेवाः अधि निषेदुः, (तस्मिन्) अक्षरे परमे व्योमन् ऋचः। यः तं न वेद, (सः) ऋचा किं करिष्यति? इत् ये तत् विदुः ते इमे समासते॥ ८॥

मन्त्रार्थ–जिसमें सम्पूर्ण देवता रहते हैं, क्षरणहीन-अविनाशी उस अक्षर परम धाम में ऋचाएँ अर्थात् ऋग्वेदादि समस्त वेद स्थित हैं। जो उस परमात्मा को नहीं जानता, वह वेद के द्वारा क्या करेगा? किन्तु जो उसे जानते हैं, वे उस परम धाम में अच्छी तरह निवास करते हैं॥ ८॥

शाङ्करभाष्यम्

ऋच इति। वेदत्रयवेद्येऽक्षरे परमे व्योमन् व्योम्न्याकाशकल्पे यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः आश्रितास्तिष्ठन्ति। यस्तं परमात्मानं न वेद किमृचा करिष्यति? य इत् तद् विदुस्तु इमे समासते कृतार्थास्तिष्ठन्ति॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में यह प्रतिपादित है कि जो ब्रह्मवेत्ता होते हैं, वे ही वैदिक वाङ्मय का यथोचित विनियोग कर सकते हैं। क्योंकि ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है, वेद भी उसी का निरूपण करते हैं–

ऋचो परमे अक्षरे व्योमन्–उस अक्षर परम-व्योम में ऋचाएं रहती हैं। वह अक्षर परम व्योम क्या है? परब्रह्म परमात्मा ही वह अक्षर परम व्योम है। आकाश के साथ परमात्मा की तुलना की जाती है–'**आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः।**' जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापी और नित्य है, उसी प्रकार वह परमात्मा भी सर्वव्यापी और नित्य है।

"यथा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्याऽन्तो भविष्यति॥" (श्वे. उ. ६।२७)

परन्तु आकाश के साथ परमात्मा की तुलना स्थूल दृष्टान्त है। आकाश परमात्मा से उत्पन्न है, उन दोनों में जन्यजनकभाव और व्याप्यव्यापकभाव है। परमात्मा व्यापक है और आकाश व्याप्य। अंशस्वरूप होने के कारण आकाश भी परमात्मस्वरूप है। वह चिदाकाशस्वरूप परमेश्वर अक्षर क्षरणरहित अविनाशी है, जिसमें समस्त ऋचाएं निवास करती हैं। अर्थात् समस्त वैदिक वाङ्मय वास करता है। ॐकारस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से समस्त वेदों का उद्भव हुआ है। '**मुण्डकोपनिषद्**' में वैदिक वाङ्मय का परिगणन अपरा विद्या के अन्तर्गत इस प्रकार किया गया है–'**तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति॥**' (मु. उ. १.१.५)। यतः पुराण एवं उपपुराण वेदार्थ का ही उपबृंहण करते हैं, अतः मेरी दृष्टि में वह भी वैदिक वाङ्मय ही है। यह समस्त वैदिक वाङ्मय उसी परब्रह्म परमात्मा का निरूपण करता है। इस मंत्रभाग में '**व्योमन्**' इस प्रकार सप्तमी एक वचन में '**व्योमन्**' शब्द का प्रयोग वैदिक है। लौकिक संस्कृत में इसका रूप होगा–'**व्योम्नि**'।

यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः–जिस अक्षर परब्रह्म परमात्मा में समस्त

देवगण निवास करते हैं। उन्हें 'देव' इसलिए कहा जाता है कि वे उस परब्रह्म परमात्मा की ज्ञानप्रभा से आलोकित रहते हैं।

यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति?—जो मानव उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार नहीं करता, उसके लिए वैदिक वाङ्मय का क्या प्रयोजन है? वह किस प्रकार उसका विनियोग कर सकता है? उसके लिए वह निष्प्रयोजन है।

य इत् तद् विदुस्त इमे समासते—किन्तु जो मानव उस परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ रूप से साक्षात्कार करते हैं, वे उस परब्रह्म परमात्मा में सम्यक् रूप से अवस्थित होकर कृतकृत्य होते हैं॥ ८॥

अवतरणम्—इदानीं तस्यैवाऽक्षरस्य मायोपाधिकं जगत्स्रष्टृत्वं तन्निमित्तत्वं च भेदेन दर्शयति—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चाऽन्यो मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

अन्वयः—छन्दांसि यज्ञाः क्रतवः व्रतानि भूतं भव्यं वेदाः यच्च वदन्ति; मायी अस्मात् एतद् विश्वं सृजते, अन्यः च तस्मिन् मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

मन्त्रार्थ—वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, अतीत, अनागत और वेद जिस जिसका निरूपण करते हैं, माया की उपाधि से सम्पन्न परमेश्वर उसी निरुपाधिक अक्षर परब्रह्म से उस समस्त सामग्री की सृष्टि करता है॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्

छन्दांसीति। छन्दांसि ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसाख्या वेदाः। देवयज्ञादयो यूपसंबन्धरहितविहितक्रियाश्च यज्ञाः। ज्योतिष्टोमादयः क्रतवः। व्रतानि चान्द्रायणादीनि। भूतमतीतम्। भव्यं भविष्यत्। यदिति तयोर्मध्यवर्ति वर्तमानं सूचयति। चशब्दः समुच्चयार्थः। यज्ञादिसाध्ये कर्मणि प्रपञ्चे भूतादौ च वेदा एव मानमित्येतत्। यच्छब्दः सर्वत्र संबध्यते। अस्मात् प्रकृतादक्षराद् ब्रह्मणः पूर्वोक्तं सर्वमुत्पद्यत इति संबन्धः।

अविकारिब्रह्मणः कथं प्रपञ्चोपादानत्वम्? इत्यत आह—मायीति। कूटस्थस्याऽपि स्वशक्तिवशात् सर्वस्त्रष्टृत्वमुपपन्नमित्येतत्। विश्वं पूर्वोक्तप्रपञ्चं सृजत उत्पादयति। स्वमायया कल्पिते तस्मिन् भूतादिप्रपञ्चे माययैवाऽन्य इव संनिरुद्धः संबद्धोऽविद्यावशगो भूत्वा संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

ईश्वर अपनी उपाधि माया के द्वारा जगत् का उपादानकारण और निमित्तकार दोनों होता है–छन्दांसि = ऋचाएं, अर्थात् उससे उपलक्षित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उनके उपवेद तथा छः वेदांग, यज्ञाः = यूप (पशुबन्धस्तम्भ) से रहित देवयज्ञ आदि अनुष्ठान, क्रतवः=ज्योतिष्टोम आदि पशु-याग, व्रतानि=चान्द्रायण आदि व्रतानुष्ठान, भूतं = घटित घटनाएं, भव्यम् = भविष्य में होने वाली घटनाएं, यच्च वेदा वदन्ति = और वैदिक वाङ्मय जिस जिस का निरूपण करता है, एतद् विश्वम् = वह समस्त सामग्री, अस्मात् = उस अक्षर परब्रह्म से ही, (संभवति = उत्पन्न होती है।)

अब यह प्रश्न है कि जिसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह समस्त प्रपञ्च (संसार) का उपादानकारण कैसे हो सकता है? इसका समाधान है–'मायी सृजते विश्वमेतत्'–जब निरुपाधिक परब्रह्म माया से सम्पन्न होता है, तभी समस्त सृष्टि करता है। इस प्रकार वह जगत्स्रष्टा विश्व का उपादानकारण है। तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः–यह समस्त संसार उसी परब्रह्म परमेश्वर का मायाविलास है, जिसमें अन्य जीवात्मा माया (अविद्या) द्वारा पाशबद्ध होता है, और संसारसागर में पड़कर जन्म-मरण के भंवर में भटकता रहता है॥ ९॥

अवतरणम्–पूर्वोक्तायाः प्रकृतेर्मायात्वं तदधिष्ठातृसच्चिदानन्दरूप-ब्रह्मणस्तदुपाधिवशान्मायित्वं च चिद्रूपस्य मायावशात् कल्पितावयवभूतैः कार्यकरणसंघातैः सर्वं भूरादीदं परिदृश्यमानं जगद् व्याप्तं चेत्याह–

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ १०॥

अन्वयः–मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरं (विद्यात्)। इदं सर्वं जगत् तु तस्य अवयवभूतैः व्याप्तम्॥ १०॥

मन्त्रार्थ–प्रकृति को माया समझना चाहिये, और परमेश्वर को मायावी समझना चाहिये। यह सम्पूर्ण जगत् उसके अवयवभूतों (कार्यसंघातों) से व्याप्त है॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्

मायां त्विति। जगत्प्रकृतित्वेनाऽधस्तात् सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृति-र्मायैवेति विद्याद् विजानीयात्। तुशब्दोऽवधारणार्थः। महांश्चाऽसावीश्वरश्चेति महेश्वरस्तं मायिनं मायायाः सत्तास्फूर्त्यादिप्रदं तथाऽधिष्ठानत्वेन प्रेरयितारमेव विद्यादिति पूर्वेण संबन्धः। तस्य प्रकृतस्य परमेश्वरस्य रज्ज्वाद्यधिष्ठानेषु कल्पितसर्पादिस्थानीयैः मायिकैः स्वावयवैरध्यासद्वारेदं भूरादि सर्वं व्याप्तमेव पूर्णमित्येतत्। तुशब्दस्त्ववधारणार्थः॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

इस मंत्र में तीन विषय निरूपित हैं–प्रकृति का स्वरूप, परमेश्वर का उससे सम्बन्ध और उसके अवयवों (कार्यसिद्धान्तो) से परमेश्वर की सर्वव्यापकता। वह इस प्रकार है।

मायां तु प्रकृतिं विधात्–'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपः' (४-५) इस मंत्रभाग में प्रतिपादित परमेश्वर की शक्ति प्रकृति को माया समझना चाहिये।

मायिनं तु महेश्वरम्–जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के काल में जब निरुपाधिक परमेश्वर उस माया से युक्त होता है, तब उस महेश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर को मायावी समझना चाहिये। सत्ता, स्फूर्ति आदि माया के धर्म हैं। जब वह माया का अधिष्ठाता होता है, तभी वह उन धर्मों का प्रेरक होता है यही इसका आशय है।

तस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तमेतच्चराचरम्–भूः भुवः सुवः, जनः, महः, तपः और सत्य आदि लोक उसी परमेश्वर की शक्ति माया (प्रकृति) से स्फुरित होते हैं। वस्तुतः वे मिथ्या (असत्य, क्षणभंगुर) हैं। जैसे हमें रज्जु को देखकर सर्प की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार हमें परब्रह्म में उनका आभास होता है। वे सब मायाविलास हैं, जिनके द्वारा समस्त विश्व व्याप्त है॥ १०॥

अवतरणम्–मायातत्कार्यादियोनेः कूटस्थस्य स्ववशतोऽधिष्ठातृत्वं वियदादिकार्याणामुत्पत्तिहेतुत्वं तेनैव सर्वाधिष्ठातृत्वोपलक्षितसच्चिदानन्द-वपुषा 'ब्रह्माऽस्मीत्ये'कत्वज्ञानान्मुक्तिं च दर्शयति–

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ ११॥

अन्वयः–यः एकः योनिं योनिम् अधितिष्ठति, यस्मिन् च सर्वम् इदं समेति च व्येति च, तम ईशानं वरदम् ईड्यं देवं निचाय्य इमां अत्यन्तम् शान्तिम् एति॥ ११॥

मन्त्रार्थ–जो परमात्मा प्रत्येक योनि में रहता है, और जिस परमात्मा में यह दृष्टिगोचर सभी विश्व संहारकाल में विलय प्राप्त करता है और सृष्टिकाल में नाना रूप ग्रहण करता है, उस सभी के नियामक ईश वरप्रदाता स्तुतियोग्य प्रकाशमय परमेश्वर का साक्षात्कार कर साधक अत्यंत शान्ति प्राप्त करता है॥ ११॥

शाङ्करभाष्यम्

यो योनिमिति। यो मायाविनिर्मुक्तानन्दैकघनः परमेश्वरो योनिं योनि-मिति वीप्सया मूलप्रकृतिर्मायाऽवान्तरप्रकृतयो वियदादयश्च सूचितास्ताः

प्रकृतीः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनाऽधिष्ठाय तिष्ठत्यन्तर्यामिरूपेण। ''य आकाशे तिष्ठन्'' (बृ. उ. ३।७।१२) इत्यादिश्रुतेः। एकोऽद्वितीयः। यस्मिन् मायाद्यधिष्ठातरीश्वरं इदं सर्वं जगदुपसंहारकाले समेति संगच्छते लयं प्राप्नोति। पुनः सृष्टिकाले विविधमेत्याकाशादिरूपेण नाना भवति। तं प्रकृतमधिष्ठातारमीशानं नियन्तारं वरदं मोक्षप्रदं देवं द्योतनात्मकमीड्यं वेदादिभिः स्तुत्यं निचाय्य निश्चयेन 'ब्रह्माऽहमस्मी 'त्यपरोक्षीकृत्य सुषुप्त्यादौ प्रत्यक्षीकृता या सर्वोपरमलक्षणा सर्वजनीना शान्तिः सेदमा दर्शिता तां प्रसिद्धामिमां शान्तिं सर्वदुःखविनिर्मुक्तसुखैकतानस्वरूपां मुक्तिमिति यावत्। गुरूपदिष्टं तत्त्वमादिवाक्यजन्यसुतत्त्वज्ञानेनाऽविद्यातत्कार्यादिविश्वमायानिवृत्त्याऽत्यन्तं पुनरावृत्तिरहितं यथा भवति तथैत्येकरसो भवतीत्येतत्॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में यह निरूपित है कि परमेश्वर की परमशक्ति माया और उसके कार्यों का अधिष्ठाता कूटस्थ ब्रह्म है, क्योंकि सभी उसके वश में है। आकाशादि उससे प्रादुर्भूत होते हैं, अतः वह उनका जनक कारण है। सत्ता, चिन्मयता और आनन्दमयता उसका शरीर (लक्षण) है। जीव उसका साक्षात्कार करके इस प्रकार अनुभव करता है-'अहं ब्रह्माऽस्मि।' फिर तदाकार हो जाता है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है। इसी अभिप्राय को वेदमाता इस प्रकार प्रकट कर रही है-

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः-इस मंत्रभाग में 'योनिं योनिम्' इस प्रकार योनि शब्द का दो बार उच्चारण किया गया है, जिसके द्वारा परमेश्वर की मूल प्रकृति और उसकी अवान्तर प्रकृतियों आकाश आदि का ज्ञान होता है। इस मंत्रभाग का आशय यह है कि परमेश्वर वस्तुतः उपाधिरहित और विशुद्ध आनन्दघन है, तथापि वह उनमें रहता है तथा स्फूर्ति प्रदान करता है, अर्थात् वह अन्तर्यामी रहकर सब का प्रेरक होता है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् इसका समर्थन इस प्रकार करती है-'य आकाशे तिष्ठन्' (बृ. उ. ३।७।१२) इत्यादि।

[बृहदारण्यक उपनिषद् के तृतीय अध्याय के सप्तम ब्राह्मण में गुरु याज्ञवल्क्य मुनि और उनके शिष्य आरुणि उद्दालक के संवाद में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। संक्षेप में वायु ही परमात्मा का वह सूत्र है, जिससे यह लोक, परलोक और समस्त भूत समुदाय गुथे हुए हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, तारा, आकाश, तम, तेज, समस्त भूत, प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, वीर्य, सब कुछ परमात्मा का शरीर है। वह उनके भीतर रहकर उनका नियमन करता है।] वह परमात्मा अद्वितीय है और सबका अधिष्ठाता है।

यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्-जब निरुपाधिक ब्रह्म माया का आश्रय लेकर

विभिन्न योनियों का अधिष्ठाता होता है, तब संहारकाल में वह चराचर विश्व उसमें विलय प्राप्त करता है और सृष्टिकाल में पुनः आकाश आदि विभिन्न रूप लेकर अभिव्यक्त होता है।

तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति—जो परमात्मा सब का स्वामी होकर सब को उसका अभीष्ट वर मोक्ष देता है, जो चित् (ज्ञान) के प्रकाश से द्योतनात्मक है, वेद आदि जिसकी स्तुति करते हैं, जब जीव उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है तब उसे यह निश्चय होता है कि 'अरे! मैं वही परब्रह्म हूँ', तब उसका देहाभिमान छूट जाता है। जीव परब्रह्म से तदाकार होता है। फिर वह जीव उस सुख-शान्ति को पाता है, जिसका अनुभव वह पूर्व में सुषुप्ति अवस्था में करता है। वह परम सुखशान्ति है—सभी इन्द्रियों को विश्राम देना। सुषुप्ति अवस्था की वह शान्ति क्षणिक होती है, परन्तु समाधि अवस्था की शाश्वत। अत एव समाधि को 'चिरनिद्रा' कहा गया है। वह सुखशान्ति सर्वहितकारिणी है, उसमें सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति और केवल आनन्द का बोध होता है। इसी का नाम है 'मुक्ति'। जब अधिकारी गुरु योग्य शिष्य को बोध कराता है—'तत् त्वमसि', 'वह तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा हो'। तब शिष्य अनुभव करता है—'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं वही परब्रह्म हूँ', उससे भिन्न नहीं हूँ। तब उसका अज्ञान हट जाता है। फलतः जीव उस अविद्या के कार्यों से छुटकारा पाता है। सम्पूर्ण माया का आवरण हट जाने से फिर वह संसार में जन्म-मरण की बार बार आवृत्ति से छूटकारा पाता है और केवल ब्रह्ममय होकर उसी आनन्दरस का आस्वाद लेता है॥ ११॥

अवतरणम्—सूत्रात्मानं प्रत्यविरतमभिमुखतया वीक्षन्तं परमेश्वरं प्रत्यखण्डिततत्त्वज्ञानसिद्धये प्रार्थनामाह—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ १२॥

अन्वयः—यः देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च (सः) रुद्रः विश्वाधिपः महर्षिः। जायमानं (तं) हिरण्यगर्भं पश्यत। सः नः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु॥ १२॥

मन्त्रार्थ—जो प्रकाशमय देवताओं का उत्पत्तिस्थान और ऐश्वर्यप्राप्ति का कारण है, वह रुद्रदेव सम्पूर्ण जगत् का अधिपति और सर्वद्रष्टा महर्षि है। उसने स्वयं द्वारा सृष्ट हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते हुए देखा था। वह सूत्रात्मा निरुपाधिक परब्रह्म परमेश्वर हमें कल्याणकारिणी सद्बुद्धि से संबद्ध करे॥ १२॥

शाङ्करभाष्यम्

यो देवानामिति। पूर्वमेवाऽस्य प्रतिपादितोऽर्थः॥ १२॥

तात्पर्यदीपिका

वेदमाता इस मन्त्र द्वारा यह प्रार्थना कर रही है कि जीवमात्र उसकी कृपा से सद्बुद्धि प्राप्त करे, जिससे अखण्ड तत्वज्ञान की प्राप्ति हो, उसके साक्षात्कार के लिए हम उसकी ओर अभिमुख हो। तृतीय अध्याय में यह चतुर्थ (४) मन्त्र है। यहां तृतीय चरण में केवल यह पाठभेद है-'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्' वहां का पाठ था-'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'। इसकी विस्तृत व्याख्या वहीं द्रष्टव्य है॥ १२॥

अवतरणम्-ब्रह्मप्रमुखाणां देवानां स्वामितामाकाशादिलोकाश्रयत्वं प्रमात्रादीनां नियन्तृत्व बुद्धिशुद्धिद्वारा सम्यग्ज्ञानसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिः प्रार्थ्यमानत्वं च परमेश्वरस्याऽऽह-

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १३॥

अन्वयः-यः देवानाम् अधिपः, यस्मिन् लोकाः अधिश्रिताः, यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १३॥

मन्त्रार्थ-जो देवताओं का स्वामी है, जिस पर सम्पूर्ण भुवन आश्रित हैं, जो द्विपद और चतुष्पद का शासक है, हम लोग पुरोडाश आदि हविर्द्रव्य के नैवेद्य से आनन्दस्वरूप द्योतनात्मक (प्रकाशस्वरूप) उस परमेश्वर की परिचर्चा करते हैं॥ १३॥

शाङ्करभाष्यम्

यो देवानामधिप इति। यः प्रकृतः परमेश्वरो देवानां ब्रह्मादीनामधिपः स्वामी। यस्मिन् परमेश्वरे सर्वकारणे भूरादयो लोका अधिश्रिता अध्युपरि श्रिता अध्यस्ता इति यावत्। यः प्रकृतः परमेश्वरोऽस्य द्विपदो मनुष्यादेश्चतुष्पदः पश्वादेश्चेश ईष्टे। तकारलोपश्छान्दसः। कस्मै कायाऽऽनन्दरूपाय। स्मैभावोऽपि च्छान्दसः। देवाय द्योतनात्मने तस्मै हविषा चरुपुरोडाशादिद्रव्येण विधेम परिचरेम। विधेः परिचरणकर्मण एतद् रूपम्॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

यः = जो अक्षर परब्रह्म परमेश्वर, देवानामधिपः = ब्रह्मा आदि समस्त देवताओं का स्वामी है; यस्मिन् लोकाः अधिश्रिताः = जिस परब्रह्म परमेश्वर पर भूर्लोक, भुवर्लोक, सुवर्लोक, महलोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक आदि समस्त लोक सब प्रकार से आश्रित हैं, यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे = जो दो पैरों वाले मनुष्य आदि प्राणिवर्ग और चार पैरों वाले पशु आदि प्राणिवर्ग पर शासन करता है। ('ईष्टे' के स्थान पर यहां 'ईशे' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'ईश् + ते = ईष्टे' इस क्रियापद में तकार का लोप वैदिक है।)

कस्मै देवाय हविषा विधेम = कस्मै–'क' का अर्थ 'आनन्दस्वरूप' है। लौकिक संस्कृत में इस का अकारान्त रूप होगा **'काय'**। **'कस्मै'** यह प्रयोग वैदिक है। इस अंश का अर्थ होगा–हम पुराडोश आदि हविर्द्रव्य से उस आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर की परिचर्या (उपासना) करते हैं। धातु को अनेकार्थक मानकर विधिलिङ् के उत्तम पुरुष बहुवचन में परिचर्चा अर्थ में 'विध्' धातु का यहां प्रयोग किया गया है। यद्यपि तुदादिगण में विधानार्थक 'विध्' धातु परिगणित है॥ १३॥

अवतरणम्–परस्याऽतिसूक्ष्मत्वं जगच्चक्रे साक्षित्वेनाऽवस्थितत्वं निखिलजगत्स्रष्टृत्वं सर्वात्मकत्वं तत्तादात्म्याज्जनानां मुक्तिश्चेत्येतद् बहुशोऽधस्तात् प्रतिपादितं यद्यपि तथापि बुद्धिसौकर्यार्थं पुनरप्याह–

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥ १४॥

अन्वयः–(जीवः) सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये (स्थितं) विश्वस्य स्त्रष्टारम् अनेकरूपं विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं शिवं ज्ञात्वा अत्यन्तं शान्तिम् एति॥ १४॥

मन्त्रार्थ–जो जीव सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म अविद्या (कलिल) और उसके कार्यरूप दुर्गम स्थान में अवस्थित विश्व के रचयिता विविध रूपों में प्रकट होने वाले विश्व के एकमात्र परिवेष्टिता शिव का साक्षात्कार करता है वह अत्यन्त सुख-शान्ति, मुक्ति प्राप्त करता है॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्

सूक्ष्मेति। पृथिव्याद्यव्याकृतान्तमुत्तरोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरमपेक्ष्येश्वरस्य तदपेक्षया सूक्ष्मतमत्वमाह–सूक्ष्मातिसूक्ष्ममिति। कलिलस्याऽविद्यातत्कार्यात्मकदुर्गस्य गहनस्य मध्ये। शेषं व्याख्यातम्॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

सन्दर्भ–यद्यपि परमशिव का सूक्ष्मस्वरूप, संसारचक्र में साक्षी के रूप में उसकी सत्ता, सम्पूर्ण जगत् की सर्जकता, सर्वात्मकता और तदाकार होने से मोक्षप्राप्ति ये सभी पूर्वप्रतिपादित हैं, तथापि पुनश्च वे और भी बुद्धिगम्य हों, इस दृष्टि से यह मन्त्र है–

सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्–अक्षर परब्रह्म परमेश्वर सूक्ष्म वस्तु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। पृथिवी आदि अतिस्थूल महाभूत से लेकर अव्याकृत पर्यन्त जो अत्यंत सूक्ष्म है, उससे भी परब्रह्म परमेश्वर सूक्ष्मतम हैं। क्योंकि वह उसमें भी प्रविष्ट है।–**'अणोरणीयान्'**।

कलिलस्य मध्ये (स्थितम्)–आचार्य शंकर **'कलिल'** का अर्थ अविद्या करते

हैं। उस अविद्या और उसके कार्यस्वरूप दुर्गम स्थान में परमात्मा स्थित हैं। नारायण तीर्थ के अनुसार 'कलिलस्य मध्ये' का अर्थ है 'तमसो मध्ये'—परमेश्वर अज्ञानान्धकार के बीच में रहते हैं। शंकरानन्दजी की व्याख्या इस प्रकार है—"नारीवीर्येण संगतं पौरुषं वीर्यमल्पकालस्थं 'कलिलमि'त्युच्यते। अथवा जगदारम्भकाणामपां बुद्‌बुदस्य पूर्वावस्था कलिलमित्युच्यते। फेनिलानीत्युदकानीत्यर्थः।"

शंकरानन्द के अनुसार समस्त सृष्टि जलमयी है। स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य मिलकर जब वह कुछ काल तक रहता है, उसे 'कलिल' कहते हैं। अथवा जल के बुलबुलों की पहिली स्थिति 'कलिल' कहलाती है। इनके बीच में अक्षर ब्रह्म का वास है। अर्थात् समस्त सृष्टि की यह पूर्वावस्था है, और उसी से शनैः शनैः सृष्टिक्रम विकसित होता है, जीव जन्म लेने लगता है। वह जीव की हृदयगुफा (कलिल) में वास करता है यह भी इसका आशय हो सकता है।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्—समस्त विश्व को केवल परमेश्वर ही वेष्टित कर सकते हैं। उसे सभी ओर से घेरकर रह सकते हैं। अथवा वे एकमात्र हैं, जो समस्त विश्व को भोग प्रदान कर सकते हैं।

ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति—उस महैश्वर्यसम्पन्न परब्रह्मस्वरूप परम शिव के साक्षात्कार से जीव अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है। उसे परमसुख प्राप्त होता है। वह समस्त कार्यों से विरत होता है और पुनः जन्म-मरण के पाश-बन्धन में नहीं पड़ता। उसे मुक्ति प्राप्त होती है और जीवमात्र की यही परमशान्ति है॥ १४॥

अवतरणम्—परस्य साक्षिरूपेणाऽवस्थितत्वं सनकादिभिर्ब्रह्मादि-देवैश्चाऽधिकारिपुरुषैरप्यात्मतया प्राप्यत्वं साधनचतुष्टयादियुतास्मदादीनां मोक्षसिद्धिं चाऽऽह—

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति॥ १५॥

अन्वयः—काले स एव भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः। ब्रह्मर्षयः देवताश्च यस्मिन् युक्ताः। (जीवः) तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशान् छिनत्ति॥ १५॥

मन्त्रार्थ—वह परमेश्वर समय समय पर समस्त विश्व का रक्षण करता चला आ रहा है। वही विश्व का स्वामी है और सभी प्राणियों के भीतर छिपा हुआ है। जिस परमेश्वर में ब्रह्मर्षि और देवगण समाधि लगाए रहते हैं, जीव पूर्वोक्त रीति से उसी परमेश्वर का साक्षात्कार कर अपने जन्म-मरण के पाशबन्धनों को काट डालता है॥ १५॥

शाङ्करभाष्यम्

स एवेति। स एव प्रकृतः कालेऽतीतकल्पेषु जीवसञ्चितकर्मपरिपाकसमये भुवनस्य गोप्ता तत्तत्कर्मानुगुणतया रक्षिता। विश्वाधिपः विश्वस्य स्वामी। सर्वभूतेषु गूढो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु साक्षिमात्रतयाऽवस्थितः। यस्मिंश्चिद्घनानन्दवपुषि परे युक्ता ऐक्यं प्राप्ताः। ते के? ब्रह्मर्षयः सनकादयः, देवता ब्रह्मादयः। तमेवेश्वरं ज्ञात्वा 'ब्रह्माऽहमस्मी'त्यपरोक्षीकृत्य मृत्युपाशान् मृत्युरविद्या तमो रूपादयश्च पाशाः पाश्यन्त इति पाशास्तान् ''मृत्युर्वै तमः'' (बृ. उ. १।३।२८) इति श्रुतेः। तत्कार्यकामकर्म च्छिनत्ति नाशयति। ऐक्यरूपस्वप्रकाशाग्निना दहतीत्यर्थः॥ १५॥

तात्पर्यदीपिका

स एव काले भुवनस्य गोप्ता—जितने भी कल्प बीत चुके हैं अथवा जो आने वाले कल्प हैं, उनमें परब्रह्म परमेश्वर ही समस्त विश्व का रक्षक रहा है और आगे भी रहेगा। जीव के कर्म त्रिविध होते हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। तदनुसार जीव को उसके फलों को भोगना पड़ता है—'**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः**' यह योगसूत्र कहता है। जीव के कर्मानुसार परब्रह्म परमेश्वर जीवमात्र की रक्षा करता आ रहा है और आगे भी करता रहेगा, यही इसका तात्पर्य है।

विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः—वह समस्त जगत् का स्वामी है और समस्त प्राणियों में गुप्त रूप से वास करता है। शंकराचार्य के अनुसार वह ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियों में साक्षी (अन्तर्यामी) के रूप में अवस्थित है।

यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च—जिस परमेश्वर में समाधि लगाकर सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि ब्रह्मर्षि और ब्रह्मा आदि देवता तदाकार हो गए।

तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति—उसी परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर जीव अपने मृत्यु के पाशबन्धनों को काट डालता है। श्रुति कहती है—'**मृत्युर्वै तमः**' (बृ. उ. १।३।२८)-'तमस्' अज्ञानान्धकार, अविद्या ही मृत्यु है। उसके पाश हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये विषय। **पाश्यन्ते इति पाशाः**—यतः जीवों को ये विषय आबद्ध करते हैं, अतः 'पाशः' कहलाते हैं। अविद्या (मृत्यु) के कारण जीव उन विषयपाशों में बंधते हैं।

अज्ञान के कार्य हैं काम और कर्मादि। ये रूपादि विषयों में आसक्ति के कारण होते हैं, अतः रूपादि विषय 'पाश' कोटि में है। मृत्युपाशों के छेदन का अर्थ है परब्रह्म-परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर उस प्रकाश के तेज से कर्मबन्धनों को भस्मसात् करना। अज्ञानान्धकार दूर होने पर जब जीव प्रकाशस्वरूप परब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करता है, तब स्वयं चिदानन्दरूप होता है और अपने मृत्युपाशों को काट डालता है यही इसका आशय है॥ १५॥

अवतरणम्—परस्याऽत्यन्तातिसूक्ष्मतमत्वमानन्दातिशयवत्त्वं निर्दोषवत्त्वं जीवेष्वतिसूक्ष्मतया स्वरूपेणाऽवस्थितत्वं सर्वस्याऽपि सत्तादिप्रदतया व्यापित्वं तदेकत्वज्ञानात् पाशहानिं च दर्शयति—

घृतात् परं मण्डमिवाऽतिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १६॥

अन्वयः—(जीवः) घृतात् परं मण्डम् इव अतिसूक्ष्मं सर्वभूतेषु गूढं शिवं ज्ञात्वा, विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते॥ १६॥

मन्त्रार्थ—परमेश्वर घी के ऊपर रहने वाले माण्ड (सारांश) के समान अत्यन्त सूक्ष्मरूप में सभी प्राणियों में छिपा रहता है तथा बाहर से समस्त विश्व का वेष्टन भी करता है। जीव उस प्रकाशस्वरूप चैतन्यमय परमेश्वर का साक्षात्कार कर सभी पाशबन्धनों से छुटकारा पाता है॥ १६॥

शाङ्करभाष्यम्

घृतादिति। घृतोपरि विद्यमानं मण्डं सारस्तद्वत्तामतिप्रीतिविषयो यथा तथा मुमुक्षूणामतिसाररूपानन्दप्रदत्वेन निरतिशयप्रीतिविषयः परमात्मा तद्वद् घृतसारवदानन्दरूपेणाऽत्यन्तसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवमित्येतद् व्याख्यातम्। सर्वभूतेषु गूढं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु जन्तुषु कर्मफलभोगसाक्षित्वेन प्रत्यक्षतया वर्तमानमपि तैस्तिरस्कृतेश्वरभावम्। उत्तरार्धं व्याख्यातम्॥ १६॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में परमेश्वर की इन विशेषताओं का निरूपण है-(१) परमेश्वर का अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप, (२) अत्यन्त आनन्दमय स्वरूप, (३) उसमें दोषों का अभाव, (४) जीवों में अत्यन्त सूक्ष्म होकर रहना आदि गुणों से सब में उसकी व्यापक सत्ता। जव जीव का परमेश्वर से तादात्म्य स्थापित होता है, तब उसके पाशबन्धन कट जाते हैं यही इसका आशय है।

घृतात् परं मण्डमिवाऽतिसूक्ष्मम्—परमेश्वर उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म इन्द्रियागोचर है, जिस प्रकार घी के ऊपर उसका सारतत्व (मण्ड) रहता है।

शंकराचार्य कहते हैं कि घी का सारतत्त्व मण्ड अत्यन्त सूक्ष्म और आनन्दकर होता है। उसी प्रकार परमेश्वर भी मुमुक्षुओं के लिए परम शाश्वत सुख प्रदाता है। रूपादि विषयों में आकर्षण के कारण जब जीव कामादि में आसक्त होता है, तब उसका ईश्वरभाव छिप जाता है यही परमेश्वर की जीवों में सुप्त स्थिति है।

सर्वभूतेषु गूढम्—उसी सूक्ष्मावस्था में वह सभी प्राणियों में गुप्तरूप से निवास करता है। **शिवं ज्ञात्वा** = जब जीव के मंगलमय परमेश्वर के इस सूक्ष्मतम स्वरूप की अनुभूति होती है, **विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं देवं ज्ञात्वा**—साथ ही वह परमेश्वर एकमात्र

है, जो चराचर विश्व को अपने चिन्मय आलोक से सभी ओर से वेष्टित करता है, उस ज्ञानानन्दप्रकाशस्वरूप परमेश्वर का जब जीव को ज्ञान होता है।

मुच्यते सर्वपाशैः—तब जीव का 'अज्ञान' (मृत्यु) नष्ट होता है। उसके पाश-बन्धन (विषयासक्ति) कट जाते हैं। तब जीव परमात्मस्वरूप होकर मुक्त हो जाता है॥ १६॥

अवतरणम्—निर्भेदसुखैकतानात्मनो विश्वकृत्त्वं तद्व्यापित्वं संन्यासिभिराप्तव्यमोक्षरूपत्वं चाऽऽह—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १७॥

अन्वयः—एषः देवः विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः, हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः, ये एतद् विदुः ते अमृताः भवन्ति॥ १७॥

मन्त्रार्थ—यह प्रकाशमय परमेश्वर विश्व की रचना करने वाला सर्वव्यापी और सभी के अन्तःकरण में स्थित है। वह हृदय, बुद्धि और मन से ध्यान के द्वारा प्रकट होता है। जो उसे जानते हैं, वे 'अमृत' पद प्राप्त करते हैं॥ १७॥

शाङ्करभाष्यम्

एष इति। एष प्रकृतो देवो द्योतनात्मको विश्वकर्मा—महदादि विश्वं कर्म क्रियत इति कर्म, मायावेशाद् विश्वरूपं कार्यमस्येति विश्वकर्मा। महांश्चाऽसावात्मेति महात्मा सर्वव्यापीत्यर्थः। सदा सर्वदा जनानां हृदये परमे व्योम्नि हृदाकाशे जलाद्युपाधिषु सूर्यप्रतिविम्बवन्निविष्टः सम्यक् स्थित इत्येतत्। स एव साक्षिरूपेण हृदा-'हृञ् हरणे' इति स्मरणाद्धरतीति हृत् तेन हृदा 'नेति नेती'ति निषेधोपदेशेन 'मनीषाऽयं पुरुषार्थोऽयमपुरुषार्थोऽय-मात्मायमनात्मेत्ये'तया विवेकबुद्ध्या मनसा विचारसाध्यैकत्वज्ञानेन चाऽभि-क्लृप्तः प्रकाशितोऽखण्डैकरसत्वेनाऽभिव्यक्त इत्येतत्।

ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः संन्यासिन एतं 'तत्त्वमस्या'-दिवाक्यप्रतिपाद्यैकरूपमखण्डैकरसमिति यावद्। विदुर्'ब्रह्माऽहमस्मी'त्य-परोक्षीकुर्युस्ते यथोक्तज्ञानिनोऽमृता भवन्त्यमरणधर्माणः पुनरावृत्तिरहिता भवन्तीत्यर्थः॥ १७॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण–इस मन्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि जो अखण्ड आनन्दरसस्वरूप परब्रह्म–परमात्मा है, वही विश्व का सर्जक और सर्वव्यापी है। संन्यासी उसी को परमपद के रूप में प्राप्त कर मुक्ति कामना करते हैं–

एषः देवः = यह चिन्मय प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर, **विश्वकर्मा** = महदादि विश्वसृष्टि जिसकी कर्मकोटि में है वह, **महात्मा** = आत्मस्वरूप वह इतना महान् (विशाल) है कि वह समस्त विश्व को व्याप्त करता है, **सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** = वह सदा सर्वदा हृदयाकाश में चिद् रूप से प्रविष्ट है, **हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः** = हम हृदय, बुद्धि और मन की सहायता से उसका साक्षात्कार करते हैं। आचार्य शंकर इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–हरतीति हृत्–यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि 'नेति नेति' = संसार का अस्तित्व ही नहीं है, इस प्रपञ्चनिषेध के उपदेश को आचार्य शंकर 'हृत्' कहते हैं। उनकी दृष्टि में 'मनीषा' का अर्थ है–'यह पुरुषार्थ कोटि में है और यह पुरुषार्थ कोटि में नहीं है' इस प्रकार की विवेक बुद्धि; और 'मनस्' का अर्थ है जीवात्मा का परमात्मा के साथ एकत्व ज्ञान। 'हृदा' प्रपञ्च निषेध का उपदेश, 'मनीषा' आत्मानात्मविवेकबुद्धि और 'मनसा' एकत्व ज्ञान से अखण्डानन्दरसस्वरूप परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति–जो साधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासी परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, वे 'अमृत' पद प्राप्त करते हैं। वे साधन चार हैं–(१) **इहामुत्रार्थफलभोगविराग**–इहलोक और परलोक में उपभोग योग्य विषयों से वैराग्य। (२) **नित्यानित्यवस्तुविवेक**–नित्य ब्रह्म और अनित्य संसार दोनों में विवेक, (३) **शमादिषट्कसम्पत्ति**–शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। (४) **मुमुक्षुत्व**–मोक्ष की इच्छा करना। इन चार साधनों से सम्पन्न संन्यासी 'तत्त्वमसि' इस गुरूपदेश से 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अखण्डैकरसस्वरूप चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं और अमर हो जाते हैं।

इसी उपनिषद् के तृतीय अध्याय के तेरहवें मन्त्र का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है–

'हृदा मन्वीशो मनसाऽभिक्लृप्तो।
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'

वहां तृतीय चरण में 'मनीषा' के स्थान पर 'मन्वीशः' पाठ है। आचार्य शंकर तृतीय चरण की व्याख्या इस प्रकार करते हैं–'**(हृदा) हृदयस्थेन मनसाऽभिक्लृप्तः। मन्वीशो ज्ञानेशः।**' इसकी शेष व्याख्या वहीं द्रष्टव्य है॥ १७॥

अवतरणम्–कालत्रयेऽपि मुक्तौ प्रलयादौ च परमात्मा कूटस्थ इति निश्चयाज्जाग्रत्स्वप्नयोरपि भ्रान्त्या सद्वितीयत्वावभासः। वस्तुतस्तु सदा निर्भेद एवेत्याऽऽह–

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चाऽसञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥१८॥

अन्वयः—यदा अतमः तत् न दिवा न रात्रिः, न सत् न च असत्, केवलः शिवः एव। तत् अक्षरम्, तत् सवितुः वरेण्यम्, तस्मात् च पुराणी प्रज्ञा प्रसृता॥ १८॥

मन्त्रार्थ—जिस समय अज्ञानान्धकार नहीं रहता, उस प्रकाशमय स्थिति में न दिवस होता है और न रात्रि, न सत् रहता है न असत। एकमात्र शिवस्वरूप परमेश्वर अवशिष्ट उस समय रहता है। वह क्षरणरहित अविनश्वर परब्रह्म है, सविता देवता उसका वरण करते हैं, उसी से पुरातन प्रज्ञा का प्रचार-प्रसार हुआ है॥ १८॥

शाङ्करभाष्यम्

यदेति। यदा यस्यामवस्थायामतमो न तमोऽस्येत्यतमस्तत्त्वमादिवाक्यजन्यज्ञानेन दीपस्थानीयेन दग्धाऽविद्या तत्कार्यरूपतमस्कत्वात् तदा तत्काले न दिवा दिवारोपोऽपि नास्ति न रात्रिस्तदारोपोऽपि नास्तीति सर्वत्राऽनुषङ्गः। न सन् सत्तारोपोऽपि नाऽसन्नभावारोपोऽपि।

तर्हि तत्त्वं सर्वत्र शून्यमेव जातमिति बौद्धमताविशेषमाशङ्क्याह—शिव एवेति। शिव एव शुद्धस्वभावो न शून्यमिति निपातार्थः। केवलोऽविद्याविकल्पशून्यः। तदक्षरं तदुक्तस्वरूपं न क्षरतीत्यक्षरं नित्यं तत्तत्पदलक्ष्यं सवितुरादित्यमण्डलाभिमानिनो वरेण्यं संभजनीयम्। प्रज्ञा गुरूपदेशात् तत्त्वमस्यादिवाक्यजा बुद्धिः, चकार एवकारार्थः, तस्माच्छुद्धत्वहेतोः प्रसृता नित्यविवेकादिमत्सु संन्यासिषु व्याप्ता पूर्णत्वाकारेण पुराणी ब्रह्माणमारभ्य परम्परया प्राप्ताऽनादिसिद्धा॥ १८॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में यह प्रतिपादित है कि भूत, भविष्य और वर्तमान किसी भी परिस्थिति में परब्रह्म परमेश्वर कूटस्थ ही रहता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था में भी भ्रमवश ही द्वैतप्रतीति होती है। वस्तुतः परमात्मा अखण्ड भेदरहित ही है।

यदा अतमः—'न तमः अस्य इति अतमः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अतम' का अर्थ है 'तमस्' अज्ञानान्धकार का अभाव। 'तत्वमसि' गुरुद्वारा प्रदत्त यह उपदेश उस दीपक के समान है, जिसके प्रकाश से अज्ञानान्धकार मिट जाता है और शुद्ध ज्ञानप्रकाश चारो ओर बिखरता है। जब ऐसी स्थिति आती है, तत् न दिवा न रात्रिः- उस समय न तो दिन का आरोप संभव है और न रात्रि का आरोप। न सत् न च असत्—न तो सत्ता (अस्तित्व) का आरोप होता है, और न अभाव का आरोप किया जाता है।

शिव एव केवलः–क्या ऐसी स्थिति में केवल शून्य की सत्ता रहती है? नहीं यह बौद्धमत है। वस्तुतः शुद्ध स्वभाव परमेश्वर ही अवशिष्ट रहता है, जो स्वयं परिपूर्ण है, शून्य नहीं। 'केवल' का अर्थ है अविद्या के विकल्प से शून्य। **तत् अक्षरम्**–'न क्षरतीत्यक्षरम्', यतः उसका क्षरण नहीं होता अतः परमेश्वर को 'अक्षर' कहते हैं। वह अक्षर अविनश्वर है। **तत् सवितुः वरेण्यम्**–आदित्यमण्डल का अधिष्ठाता और उसका अभिमानी सविता देवता है, वह भी उस अक्षरब्रह्म का वरण करता है, उसकी उपासना करता है।

प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी–गुरु शिष्य को उपदेश देता है–'तत्त्वमसि'। इस वाक्य से शिष्य को यह ज्ञान प्राप्त होता है–'अहं ब्रह्माऽस्मि'। ब्रह्मदेव से लेकर चली आ रही अनादिसिद्ध यह ज्ञानपरम्परा नित्यानित्यविवेकशील संन्यासियों में शुद्ध प्रकाश से पूर्णता के रूप में अभिव्यक्त हुई है। इस प्रकार वह 'पुराणी प्रज्ञा' उसी 'अक्षर ब्रह्म' से प्रचारित प्रसारित हुई है॥ १८॥

अवतरणम्–कूटस्थस्य ब्रह्मण ऊर्ध्वादिषु दिक्षु केनाऽप्यपरिग्राह्यत्वमद्वितीयत्वात् केनाऽप्यतुलितत्वं कालदिगाद्यनवच्छिन्नयशोरूपत्वं चाऽऽह–

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥ १९॥

अन्वयः–एनम् ऊर्ध्वं न, तिर्यञ्चं न, मध्ये न परिजग्रभत्। तस्य प्रतिमा न अस्ति, यस्य नाम महद्यशः॥ १९॥

मन्त्रार्थ–उस परब्रह्म परमेश्वर को न तो ऊपर से प्राप्त किया जा सकता है, न इधर-उधर से ग्रहण किया जा सकता है और न बीच से ग्रहण किया जा सकता है। जिसका नाम 'महद्यश' है, उस ईश्वर की कोई तुलना नहीं है॥ १९॥

शाङ्करभाष्यम्

नैनमिति। एनं प्रकृतमपरिच्छिन्नरूपत्वान्निरंशत्वान्निरवयवत्वाच्चोर्ध्वादिषु दिक्षु कश्चिदपि न परिजग्रभत् परिग्रहीतुं न शक्नुयात्। तस्य तस्यैवेश्वरस्याऽखण्डसुखानुभवत्वादेतादृशद्वितीयाभावात् प्रतिमोपमा नाऽस्ति। यस्य नाम महद् यशो यस्येश्वरस्य नामाऽभिधानं महद्दिगाद्यनवच्छिन्नं सर्वत्र परिपूर्णं यशः कीर्तिः॥ १९॥

तात्पर्यदीपिका

'नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चम्' इत्यादि–वह परब्रह्म परमेश्वर परिच्छिन्न नहीं है, अर्थात् वह किसी सीमा में आबद्ध नहीं है, वह अखण्ड एक है। अतः उसका अंश न होने के कारण 'निरंश' है। शरीररहित होने के कारण वह अवयवहीन है। अतः उसका ग्रहण

किसी भी दिशा से ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण उपदिशाएं ऊर्ध्वदिशा अधरदिशा बीच से कहीं से भी नहीं किया जा सकता।

न तस्य प्रतिमा अस्ति—वह अखण्ड आनन्दस्वरूप है, उसकी कोई दूसरी प्रतिमा नहीं है। वह अद्वितीय है। उसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती।

यस्य नाम महद्यशः—जिस परमेश्वर का नाम 'महद्यश' है—'महत् यशः यस्य सः महद्यशः'। उसकी कीर्ति दिशा, देश-काल सबकी सीमा से परे (अनवच्छिन्न) सर्वत्र परिपूर्ण है॥ १९॥

अवतरणम्—ईशस्येन्द्रियाद्यविषयतां प्रत्यग्रूपतां तदैक्यज्ञानान्मोक्षतां चाऽऽह—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥

अन्वयः—अस्य रूपं सन्दृशे न तिष्ठति, कश्चन एनं चक्षुषा न पश्यति, यः हृदा मनसा हृदिस्थम् एनं विदुः, ते अमृताः भवन्ति॥ २०॥

मन्त्रार्थ—यह रूप नेत्र के सम्मुख नहीं रहता। कोई भी जीव इसे नेत्रेन्द्रिय से देख नहीं सकता। जो जीव शुद्ध बुद्धि अथवा मन से हृदयाकाशगुफा में स्थित परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥ २०॥

शाङ्करभाष्यम्

न संदृश इति। अस्य प्रकृतेश्वरस्य रूपं स्वरूपं रूपादिरहितं निर्विशेषं स्वप्रकाशाखण्डसुखानुभवं संदृशे चक्षुरादिग्रहणयोग्यप्रदेशे न तिष्ठति तद्विषयो न भवतीत्येतत्। इन्द्रियागोचरत्वादेवैनं प्रकृतं चक्षुरित्युपलक्षणम्। सर्वेन्द्रियैरपि कश्चन कोऽपि न पश्यति तद्विषयतया ग्रहीतुं न शक्नुयात्। ''यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति'' (के. उ. १। ६) इत्यादिश्रुतेः। हृदा शुद्धबुद्ध्यैतद्व्याख्यातं मनसेति हृदिस्थं हृदाकाशगुहास्थं प्रत्यक्तया तत्राऽवस्थितं ये साधनचतुष्टयादियुक्ताः संन्यासिनो योग्याधिकारिण एनं प्रकृतं ब्रह्मात्मानमेवमित्थं 'ब्रह्माहमस्मी'त्यपरोक्षेण विदुर्जानन्ति तेऽपरोक्षीकरण-महिम्नाऽमृता भवन्त्यमरणधर्माणो भवन्ति। मरणहेत्वविद्यादेस्तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धत्वात् पुनर्देहान्तरं न भजन्तीत्यर्थः॥ २०॥

तात्पर्यदीपिका

यतः परब्रह्म परमात्मा रूपादिरहित निर्विशेष स्वप्रकाश और अखण्डानन्दस्वरूप' है, अतः चक्षुरादि इन्द्रियों से उसका ग्रहण असम्भव है, क्योंकि वह वहां अधिष्ठित नहीं है। कोई भी उसे नेत्र व इन ज्ञानेन्द्रियों से उसको विषयरूप में ग्रहण नहीं कर सकता। जैसा कि 'यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति' (के. उ. १।६) इस प्रकार उपनिषद् वचन है। जो पूर्वोक्त साधनचतुष्टय आदि से सम्पन्न योग्य अधिकारी संन्यासी हैं, वे यदि पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मानुभव को आत्मसात् करते हैं और कहते हैं-'अहं ब्रह्मास्मि', वे मरणधर्मा नहीं होते। क्योंकि मरण का हेतु है अविद्या, जिसका दहन तत्त्वज्ञानाग्नि से अतिशीघ्र होता है। फिर वे जन्म नहीं लेते, किसी शरीर का आश्रय नहीं लेते। अमर हो जाते हैं॥ २०॥

अवतरणम्-इदानीं तत् प्रसादादेवेष्टप्राप्तिपरिहाराविति मत्वा तमेव परमेश्वरं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन-

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र! यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥ २१॥

अन्वयः-कश्चिद् भीरुः 'अजातः' इत्येवं (त्वा) प्रपद्यते। हे रुद्र! यत् ते दक्षिणं मुखम्, तेन मां नित्यं पाहि॥ २१॥

मन्त्रार्थ-कोई संसार से भयभीत जीव तुम्हारी शरण में इस प्रकार आता है- हे रुद्र! तुम्हारा जो दक्षिण मुख है, उसके द्वारा तुम नित्य (प्रतिपल) मेरी रक्षा करो॥ २१॥

शाङ्करभाष्यम्

अजात इति। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मात्त्वमेवाऽजातो जन्मजराशनायापिपासाधर्मवर्जितः। इतरत् सर्वं विनाशि दुःखान्वितम्, तस्माज्जन्मजरामरणाशनायापिपासाशोकमोहान्वितात् संसाराद्भीरुर्भीतः सन् कश्चिदेक एव परतन्त्रस्त्वामेव शरणं प्रपद्ये मादृशो वा कश्चित् प्रपद्यत इति प्रथमपुरुषमन्वधीयते। हे रुद्र! यत्ते दक्षिणं मुखमुत्साहजननं ध्यातमाह्लादकरम्। अथवा दक्षिणस्यां दिशि भवं दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं सर्वदा॥ २१॥

तात्पर्यदीपिका

अग्रिम दो मन्त्रों में जीव परमेश्वर से अपनी रक्षा की प्रार्थना इसलिए करता है कि एकमात्र परमेश्वर की कृपा से ही अभीष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति सम्भव है। उसके लिये अन्य उपाय नहीं है-

अजातः इत्यादि। इस मन्त्र में 'इति' अव्यय हेतुवाचक है। जीव यह जानता है कि परमेश्वर 'अजात'= अजन्मा अर्थात् जन्म, बुढ़ापा, क्षुधा, पिपासा इत्यादि शरीरधर्मों

से अस्पृष्ट है। अन्य सभी चराचर जगत् विनश्वर है। इसलिये वह उस संसार से डर जाता है, जो जन्म, जरा, मरण, भूख, प्यास, शोक, मोह आदि शारीरिक और मानसिक विकारों से ग्रस्त है। अत: वह उस अजन्मा परमेश्वर की शरण में जाता है और इस प्रकार प्रार्थना करता है-'हे रुद्र! जो तुम्हारा दक्षिण मुख अर्थात् उत्साहप्रद और ध्यानमात्र से आनन्द-दायक मुख है, अथवा-दक्षिण दिशा में स्थित जो मुख है, उसके द्वारा तुम नित्य सदा सर्वदा मेरी रक्षा करो।'

आचार्य शंकर के अनुसार यह प्रार्थना श्वेताश्वतर महर्षि स्वयं कर रहे हैं-'कश्चित् एक एव परतन्त्रः त्वामेव शरणं प्रपद्ये। भादृशो वा कश्चित् प्रपद्यत इति प्रथमपुरुष-मन्वधीयते।' अर्थात् संसारचक्र से भयभीत मेरे जैसा (श्वेताश्वतर महर्षि जैसा) कोई परतन्त्र जीव तुम्हारी शरण में आता है इस आशय से उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का सम्बन्ध समझा जा सकता है॥ २१॥

किञ्च- और

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र! भामितो
वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ २२॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अन्वयः-रुद्र! (त्वं) नः तोके तनये मा रीरिषः, नः आयुषि मा रीरिषः, नः गोषु मा रीरिषः, नः अश्वेषु मा रीरिषः। भामितः (सन्) नः वीरान् मा वधीः, (यतः वयम्) हविष्मन्तः सदम् इत् त्वा हवामहे॥ २२॥

मन्त्रार्थ-हे रुद्र! तुम हमारे पुत्र, पौत्र, आयुष्य, गोधन-अश्वधन आदि का विनाश मत करना और क्रुद्ध होकर हमारे वीरों की हत्या भी मत करना। क्योंकि हम लोग नाना प्रकार की उपायनसामग्री लेकर सदा सर्वदा रक्षा के लिए ही तुम्हारा आवाहन करते हैं।

शाङ्करभाष्यम्

मा न इति। मा रिरिष इति सर्वत्र संबध्यते। मा रीरिषः। रेषणं मरणं विनाशं मा कार्षीः। नोऽस्माकं तोके पुत्रे तनये पौत्रे न आयुषि मा नो गोषु मा नोऽश्वेषु शरीरिषु। ये चाऽस्माकं वीरा विक्रामन्तो भृत्यास्तान् हे रुद्र! भामितः क्रोधितः सन् मा वधीः। कस्मात्? यस्माद्धविष्मन्तो हविषा युक्ताः सदम् इत् त्वा हवामहे सदैव रक्षणार्थमाह्वयाम इत्यर्थः॥ २२॥

॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में रुद्र से यह प्रार्थना की गयी है कि 'रुद्र! तुम हमारा किसी प्रकार विनाश मत करना क्योंकि हम सदैव उपायन लेकर स्वरक्षार्थ तुम्हारा ही आवाहन करते हैं–

मानस्तोके इत्यादि। 'मा रीरिषः' इस प्रकार इस क्रियापद का सर्वत्र सम्बन्ध है। इसका अर्थ है–'तुम किसी प्रकार का विनाश मत करो।' क्योंकि 'रेषण' का शाब्दिक अर्थ है मरण या विनाश।

नः तोके तनये मा रीरिषः–रुद्र! तुम मेरे पुत्र और पौत्र का विनाश मत करना। यहां 'तोक' शब्द का अर्थ पुत्र और तनय शब्द का अर्थ पौत्र है।

नः आयुषि मा रीरिषः–हमारा आयुष्य क्षीण मत करना।

मा ना गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः–रुद्र! तुम गो, अश्व आदि शरीरधारी जो जीव हैं, उनका विनाश मत करना। क्योंकि वह हमारी सम्पत्ति है।

वीरान् मा रुद्र! भामितो वधीः–रुद्र! क्रुद्ध होकर तुम उन सेवक भक्तों का वध मत करो, जो पराक्रमशाली हैं।

हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे–क्योंकि हम लोग सदा सर्वदा ही हविर्द्रव्यों को उपायन के रूप में लेकर अपनी रक्षा के लिए आवाहन करते हैं॥ २२॥

॥ इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद्-चतुर्थाध्याय की
हिन्दी व्याख्या तात्पर्यदीपिका सम्पूर्ण हुई॥ ४॥



पञ्चमः अध्यायः

अवतरणम्—चतुर्थाध्यायशेषमपूर्वार्थं प्रतिपादयितुं पञ्चमोऽध्याय आरभ्यते 'द्वे अक्षरे' इत्यादिना—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ १॥

अन्वयः—अक्षरे अनन्ते यत्र तु ब्रह्मपरे द्वे विद्याविद्ये गूढे निहिते। हि (तत्र) क्षरं तु अविद्या, अमृतं तु विद्या, यः तु विद्याविद्ये ईशते, सः अन्यः॥ १॥

मन्त्रार्थ—क्षरणरहित अन्तहीन जिस परब्रह्म में विद्या और अविद्या दोनों गुप्त रूप से स्थित हैं, (उन दोनों में) अविद्या 'क्षर' अर्थात् विनाशशील है और विद्या अमृतस्वरूप मरणधर्मरहित है। जो विद्या और अविद्या दोनों पर शासन करता है, वह परब्रह्म परमेश्वर इन दोनों से भिन्न है॥ १॥

शाङ्करभाष्यम्

द्वे विद्याविद्ये यस्मिन्नक्षरे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् परे ब्रह्मपरे परस्मिन् वा ब्रह्मण्यनन्ते देशतः कालतो वस्तुतो वाऽपरिच्छिन्ने। यत्र यस्मिन् द्वे विद्याविद्ये निहिते स्थापिते गूढे अनभिव्यक्ते। विद्याविद्ये विविच्य दर्शयति—क्षरं त्वविद्या क्षरणहेतुः संसृतिकारणम्। अमृतं तु विद्या मोक्षहेतुः। यस्तु पुनर्विद्याविद्ये ईशते नियमयति स ताभ्यामन्यस्तत्साक्षित्वात्॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

पञ्चमाध्याय में चतुर्थाध्याय के उन अवशिष्ट विषयों का निरूपण है, जो पूर्ववर्णित नहीं हैं। इस मन्त्र में विद्या और अविद्या का विवेक तथा उन दोनों से भिन्न उन पर शासन करने वाले परब्रह्म परमेश्वर का निरूपण है—

'द्वे विद्याऽविद्ये' इत्यादि। जो क्षरणधर्मशून्य 'अक्षर' (शाश्वत) है, जो हिरण्यगर्भ से भिन्न है, जो देश-कालादिपरिच्छेदरहित होने के कारण 'अनन्त' (अन्तहीन) है, उस परब्रह्म परमेश्वर में विद्या और अविद्या दोनों गूढ़, अव्यक्तभाव से स्थापित है।

'क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या'—इस चरण में विद्या और अविद्या में विवेक

प्रदर्शित किया गया है। 'क्षरं त्वविद्या'–जो क्षरण अथवा नाश का कारण है अर्थात् संसारप्रवर्तक हेतु है वह अविद्या है। 'अमृतं तु विद्या'–जो अमृतपदप्राप्ति का हेतु है, जिस के द्वारा जन्म-मरण के पाशबन्धन छिन्न-विच्छिन्न होते हैं और मोक्ष मिलता है, वह विद्या है।

विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः–जो विद्या और अविद्या दोनों पर नियन्त्रण रखता है, वह इन दोनों से भिन्न और उनका साक्षी है॥ १॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥ २॥

अन्वयः–यः एकः योनिं योनिम् अधितिष्ठति, विश्वानि रूपाणि सर्वाः योनीः च अधितिष्ठति, यः अग्रे प्रसूतं तं कपिलम् ऋषिं ज्ञानैः विभर्ति, जायमानं च पश्येत्, (सः अन्यः)॥ २॥

मन्त्रार्थ–जो अकेले ही प्रत्येक योनि, विविध नाम-रूप और नानाविध उत्पत्ति स्थानों को व्याप्त कर रहता है, जिसने स्वयं सृष्टि के प्रारम्भ में जन्म देकर कपिल महर्षि को ज्ञानसम्पन्न किया था और जन्म लेते हुए देखा था, वह अक्षर-ब्रह्म सबसे भिन्न है॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

कोऽसावित्याह–यो योनिमिति। यो योनिं योनिं स्थानं स्थानं ''यः पृथिव्यां तिष्ठन्'' (बृ. उ. ३।७।३) इत्यादिनोक्तानि पृथिव्यादीन्यधितिष्ठति नियमयति। एकोऽद्वितीयः परमात्मा विश्वानि रोहितादीनि रूपाणि योनीश्च प्रभव-स्थानान्यधितिष्ठति। ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः। कपिलं कनककपिलवर्ण-प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वमित्यस्यैव जन्मश्रवणात्। अन्यस्य चाऽश्रवणात्। उत्तरत्र ''यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'' (श्वे. उ. ६।१८) इति वक्ष्यमाणत्वात् ''कपिलोऽग्रजः'' इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा निर्दिश्यते।

तात्पर्यदीपिका

उसी अक्षरब्रह्म का पुनश्च निरूपण इस प्रकार किया गया है–

'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः'–जो अक्षरब्रह्म अकेले ही प्रत्येक योनि (पृथिवी आदि पांच महाभूतों एवं प्रत्येक अन्य स्थान) पर नियंत्रण रखता है। जैसा कि श्रुतिवचन है–'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ. उ. ३।७।१)। यह चरण इसके पूर्व मन्त्र (४।११) में भी उपलब्ध है। वहां इसकी विस्तृत व्याख्या की गयी है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

'(एकः) विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः (अधितिष्ठति)'–वह परमेश्वर अकेले ही लोहित आदि समस्त स्वरूपों और योनियों (कारणों) पर आधिपत्य रखता है।

'ऋषिं कपिलं प्रसूतं यस्तमग्रे'–जिस परमेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में जन्म लेने वाले कपिल ऋषि को ज्ञानसम्पन्न किया था और स्वयं द्वारा जन्म लेते हुए देखा था। वे कपिल ऋषि कौन हैं? इसका समाधान कई प्रकार से है। वे वहीं हैं, जिसका वर्णन तृतीय अध्याय में है–'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' (श्वे. उ. ३।४)। (अक्षरब्रह्म ने सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ को जन्म दिया था।)

चतुर्थाध्याय में वेदमाता कहती है–'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्' (श्वे. उ. ४।१२) (हिरण्यगर्भ ने स्वयं द्वारा सृष्ट उसे देखा था।) इस मन्त्र में भी कहा गया है–'जायमानं च पश्येत्'। षष्ठाध्याय में भी इसी प्रकार का प्रतिपादन है–'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे. उ. ६।१८)। (जो अक्षर ब्रह्म ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) को जन्म देता है और उसे वेदोपदेश देता है।) ये सभी वचन यही सिद्ध करते हैं कि इस मन्त्र में निर्दिष्ट कपिल ऋषि हिरण्यगर्भ ही हैं, जिसे अक्षरब्रह्म ने जन्म देकर ज्ञानसम्पन्न किया था। यहां शांकरभाष्य 'कपिलम् = कनककपिलवर्णम्' इस प्रकार व्याख्या करता है, जिसका अर्थ है–'सुवर्णसदृश कपिलवर्ण हिरण्यगर्भ को'। 'कपिलोऽग्रजः' यह पुराणवचन भी इसी का समर्थ करता है।

शाङ्करभाष्यम्

"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः॥
कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत्।
ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्य जगतो हितम्॥
त्वं शक्रः सर्वदेवानां ब्रह्म ब्रह्मविदामसि।
वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः॥
ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि।
सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शङ्करः॥"

इति परमर्षिः प्रसिद्धः।

"ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन् प्रवर्तते कपिलं कवीनाम्।
स षोडशास्त्रः पुरुषश्च विष्णोर्विराजमानं तमसः परस्तात्॥"

इति श्रूयते मुण्डकोपनिषदि। स एव वा कपिलः प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले। यो ज्ञानैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैर्बिभर्ति बभार जायमानं च पश्येदपश्यदित्यर्थः॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

[शांकरभाष्य में प्रमाणवचनों के रूप में उद्धृत पौराणिक श्लोक इस मन्त्र में

प्रतिपादित कपिल ऋषि को भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों में तृतीय अवतार सिद्ध करते हैं, जिन्होंने कर्दमजी के पुत्ररत्न के रूप में अवतीर्ण होकर सांख्यदर्शनसम्मत प्रकृति-पुरुषविवेक का निरूपण कर अपनी माता देवहूति का उद्धार किया था।]

'कपिलर्षिर्भगवतः' इत्यादि-महर्षि कपिल सभी प्राणियों के रूप में अवस्थित भगवान् विष्णु के अंश के रूप में सम्पूर्ण संसार में फैले अज्ञानान्धकार (मोह) को दूर करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं।

'कृते युगे परं ज्ञानम्' इत्यादि-सभी प्राणियों के अन्तःकरण में साक्षीरूप में अवस्थित परमात्मा विष्णु ही सत्ययुग में कपिल आदि ऋषियों के रूपों को धारण करते हुए समस्त जगत् के लिए कल्याणकारी परम (उत्कृष्ट) ज्ञान का उपदेश देते हैं।

'त्वं शक्रः सर्वदेवानाम्' इत्यादि-इस श्लोक में (विष्णु की स्तुति इस प्रकार है-) तुम सभी देवों में देवराज इन्द्रस्वरूप हो, ब्रह्मज्ञानियों में ब्रह्मदेव के अवतार हो, बलशालियों में पवनदेव का स्वरूप हो और योगियों में सनत्कुमार का रूप हो।

'ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वम्' इत्यादि-तुम सभी ऋषियों में वसिष्ठमुनि स्वरूप हो, वेदवेत्ताओं में महर्षि वेदव्यास का अवतार हो, सांख्यतत्त्वज्ञों में महर्षि कपिल का अवतार हो और रुद्रगणों में भगवान् शंकर के अवतार हो।

इन पुराणवचनों में कपिल को महर्षि सिद्ध किया गया है। इस मन्त्र के 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति' इस मन्त्रभाग में उसका उल्लेख है। इसका अर्थ है-'हिरण्यगर्भ ही सृष्टि के पूर्व कपिल ऋषि नाम से अवतीर्ण हुए, जिसे अक्षरब्रह्म ने जन्म दिया और स्वयं जन्म लेते हुए उन्हे देखा। साथ ही उन्हें 'ज्ञानसम्पन्न' अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वय से सम्पन्न भी किया।'

शांकरभाष्य में इसके समर्थन में 'ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन् प्रवर्तते' इत्यादि मन्त्र मुण्डकोपनिषद् के नाम से उद्धृत किया है, जो अब उपलब्ध नहीं है। वैदिक ब्राह्मण भी उसका उद्घोष मुण्डकोपनिषद् के उद्घोष के समय नहीं करते। इसका सामान्य तात्पर्य इस प्रकार है-उस समय (सृष्टि के प्रारम्भ में) इस ब्रह्माण्ड में सारा विश्व क्रान्तदर्शियों में प्रसिद्ध कपिल महर्षि के उपदेशों से ओतप्रोत हो गया था। वे षोडश-कलासम्पन्न अथवा षोडशआयुधसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के ही विराट्स्वरूप और अज्ञानान्धकार को छिन्न विच्छिन्न करनेवाले तेजोमय अवतार थे।

शंकरानन्द इस मत से सहमत नहीं है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है-'वासुदेवस्याऽवतारभूतं सगरपुत्रानां दग्धारम्, न तु सांख्यप्रणेता कपिलः।' उनके मत में 'ऋषिं प्रसूतम्' इत्यादि मन्त्रभाग का अर्थ होगा-'सृष्टि के प्रारम्भ में अक्षरब्रह्म ने जिस कपिल ऋषि को जन्म दिया, और उसे जन्म लेते हुए देखा और ज्ञानसम्पन्न किया, वे सांख्यदर्शनप्रवर्तक कपिल महर्षि नहीं थे, अपितु जिन्होंने सगरपुत्रों को भस्मसात् किया था वे थे।' वे भी वासुदेव के अवतार थे। वह अक्षरब्रह्म सबसे भिन्न है॥ २॥

किञ्च– और

एकैकं जालं बहुधा विकुर्व-
न्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ ३॥

अन्वयः–एषः देवः अस्मिन् क्षेत्रे एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन् संहरति, तथा महात्मा ईशः भूयः पतयः सृष्ट्वा सर्वाधिपत्यं कुरुते॥ ३॥

मन्त्रार्थ–यह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर इस क्षेत्र में एक-एक जाल को छिन्न-विछिन्न कर उसका संहार करता है तथा वह महात्मा परमेश्वर ही पुनश्च प्रजापतियों की सृष्टि करके उन सबका अधिपति हो जाता है॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्

एकैकमिति। सुरनरतिर्यगादीनां सृजति जालमेकैकं प्रत्येकं बहुधा नानाप्रकारं विकुर्वन् सृष्टिकालेऽस्मिन् मायात्मके क्षेत्रे संहरत्येष देवः। भूयः पुनर्ये लोकानां पतयो मरीच्यादयस्तान् सृष्ट्वा तथा यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सृष्टवानीशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

अक्षरब्रह्म ही हिरण्यगर्भ का अवतार लेकर संहार और सृष्टि करता रहता है– 'एकैकम्' इत्यादि–यह सारा क्षेत्र माया का प्रपञ्च है, जिस में चित्प्रकाशस्वरूप 'देव' एक–एक 'जाल' को छिन्न–विच्छिन्न करते हुए संहार करता है। वह 'जाल' क्या है? श्री हरिकृष्णदास जी गोयनका के मत से वह 'जाल' बुद्धि आदि और आकाशादि तत्त्व है। डॉ० टी० जी० सिद्धप्पाराध्य के मत में वह बन्धन है। प्राचीन टीकाकारों में अन्यतम टीकाकार शंकरानन्द केअनुसार वह संसाररूप महान् इन्द्रजाल है– 'जालं महेन्द्रजालं संसाररूपं प्रतिप्राणि व्यवस्थितमित्यर्थः।' यह जाल प्रत्येक प्राणी में व्यवस्थित है। नारायणतीर्थ के अनुसार कर्मफलरूप बन्धन ही जाल है। विज्ञानभगवान् कहते हैं– 'समष्टिरूपकारणलक्षणानि जालानि पुरुषमत्स्यानां बन्धनत्वाज्जालकवज्जालम्', अर्थात् यह सारे प्राणी संसारसागर की मछलियां हैं, जिनको बन्धन में डालने वाले मायापाश जाल के समान होने के कारण जाल कहलाते हैं। परमेश्वर संहार के समय इन जालबन्धनों को काट डालता है। पुनश्च समस्त प्राणियों के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में और विश्व को बाहर से वेष्टित करने वाले कण–कण में व्याप्त सर्वव्यापी (महात्मा) परमेश्वर सृष्टिकाल में देव, मनुष्य, पशु–पक्षी और पूर्वकल्पों में मरीचि आदि प्रजापतियों की रचना करते हुए सब पर आधिपत्य करता है और सबका नियमन करता है॥ ३॥

किञ्च– और

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्
प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो
योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४॥

अन्वयः–यत् उ अनड्वान् सर्वाः दिशः ऊर्ध्वम् अधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते। एवं वरेण्यः सः देवः भगवान् एकः योनिस्वभावान् अधितिष्ठति॥ ४॥

मन्त्रार्थ–जिस प्रकार सूर्य सभी आठों दिशाओं ऊर्ध्वदिशा और अधरदिशा, तिरछी दिशाओं को सर्वत्र प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है, उसी प्रकार चित्प्रकाशस्वरूप षडैश्वर्यसम्पन्न वरण (भक्ति) के योग्य परब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र आलोक प्रसारित करते हुए अकेले ही कारणभूत पृथिवी आदि पर नियंत्रण रखता है॥ ४॥

शाङ्करभाष्यम्

सर्वा दिश इति। सर्वा दिशः प्राच्याद्या ऊर्ध्वमुपरिष्टादधश्चाऽधस्तात् तिर्यक् पार्श्वदिशश्च प्रकाशयन् स्वात्मचैतन्यज्योतिषा प्रकाशते भ्राजते दीप्यते ज्योतिषा यदु अनड्वान् यद्वदित्यर्थः। यथाऽनड्वानादित्यो जगच्चक्राव-भासने युक्त एवं स देवो द्योतनस्वभावो भगवानैश्वर्यादिसमन्वितो वरेण्यो वरणीयः संभजनीयो योनिः कारणं कृत्स्नस्य जगतः स्वभावान् स्वात्मभूतान् पृथ्व्यादीन् भावानथवा कारणस्वभावान् कारणभूतान् पृथिव्यादीनधि-तिष्ठति नियमयति। एकोऽद्वितीयः परमात्मा॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में सूर्य प्रकाश के समान तेजस्वी परमेश्वर का पृथिवी आदि के नियामक के रूप में वर्णन है–

यद्वनड्वान् = जिस प्रकार संसारचक्र को आलोकित करनेवाला आदित्य-मण्डलवर्ती सूर्यनारायण, सर्वाः दिशः = प्राची, प्रतीची, उत्तर, दक्षिण और कोण दिशाओं को, ऊर्ध्वम् = ऊपर, अधः च = और नीचे, तिर्यक् = अगल-बगल, प्रकाशयन् = प्रकाशित करते हुए, भ्राजते = देदीप्यमान रहता है, एवम् = उसी प्रकार,

देवः = 'विष्णु-सहस्रनामस्तोत्र' के शांकरभाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार है–'यतः दीव्यति क्रीडति सर्गादिभिः विजिगीषते असुरादीन्, व्यवहरति सर्वभूतेषु, आत्मतया द्योतते, स्तूयते स्तुत्यैः सर्वत्र गच्छति, तस्माद् देवः'–यतः वह परमेश्वर सृष्टि इत्यादि द्वारा क्रीडा करता है, असुर आदि पर विजय प्राप्त करना चाहता है, समस्त भूतों (प्राणियों) के साथ व्यवहार करता है, आत्मस्वरूप से आलोकित होता है, स्तुत्य पुरुष उसकी स्तुति करते हैं और वह सर्वत्र संचरण करता है, अतः उसे 'देव' कहते हैं।

भगवान् = भगः अस्यास्तीति भगवान्। 'विष्णुपुराण' (६-५-७४) के अनुसार-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः को भग कहते हैं। इनसे सम्पन्न विष्णु 'भगवान्' कहलाते हैं। और भी-

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥ (वि. पु. ६-५-७८)

जो देव उत्पत्ति (सृष्टि), प्रलय (संहार), प्राणियों का आवागमन, विद्या और अविद्या को जो जानता है उसे 'भगवान्' कहते हैं।

वरेण्यः—सभी लोग जिसका वरण (भक्ति) करते हैं। सः एकः—वह अकेला बिना किसी सहायता के, 'योनिस्वभावान् अधितिष्ठति' —समस्त कारणस्वरूप पृथिवी आदि का अथवा समस्त कारणभूत अपनी शक्तियों का नियमन करता है।

योनिः स्वभावानधितिष्ठत्येकः—ऐसा पाठभेद स्वीकार करने पर एकः योनिः= कारणस्वरूप परमेश्वर अकेले ही स्वभावान् सम्पूर्ण विश्व केअपने स्वरूपभूत पृथिवी आदि भावों पर,'अधितिष्ठति'आधिपत्य करता है॥ ४॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः
पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः।
सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको
गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः॥ ५॥

अन्वयः—विश्वयोनिः यत् स्वभावं च पचति, यः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्, यः एकः सर्वम् एतद् विश्वम् अधितिष्ठति, यः च सर्वान् गुणान् विनियोजयेत् (सः परब्रह्म-स्वरूपः परमेश्वरः)॥ ५॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण विश्व का कारणस्वरूप जो परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के वस्तुगत धर्म को निष्पन्न करता है, जो परमेश्वर पाकयोग्य पदार्थों को रूपान्तरित करता है, जो समस्त विश्व पर आधिपत्य करता है, जो सभी गुणों को उनके कार्यों में प्रवृत्त करता है, वही अक्षर परब्रह्म परमेश्वर है॥ ५॥

शाङ्करभाष्यम्

यच्च स्वभावमिति। यच्च यश्चेति लिङ्गव्यत्ययः। स्वभावं यदग्नेरौष्ण्यं पचति निष्पादयति विश्वस्य जगतो योनिः। पाच्यांश्च पाकयोग्यान् पृथिव्यादीन् परिणामयेद् यः। सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठति नियमयत्येकः। गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान् विनियोजयेद् यः। एवंलक्षणः॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

पुनश्च अक्षरब्रह्म का सामर्थ्य इस मंत्र में इस प्रकार वर्णित है–

'विश्वयोनिः यः यच्च स्वभावं पचति'। यः विश्वस्य जगतो योनिः, जो समस्त जगत् का एकमात्र उपादानकारण और निमित्तकारण है। 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' में आचार्य शंकर इसका भाष्य इस प्रकार करते हैं–**'विश्वस्य कारणत्वात् विश्वयोनिः'। 'यच्च स्वभावम्'** यहां पर 'यः' इस पुल्लिंग प्रयोग न करते हुए 'यत्' यह नपुंसकलिंग प्रयोग वैदिक है। इस चरण का अर्थ है–जगत का कारणस्वरूप जो परमेश्वर प्रत्येक वस्तुगत स्वभाव को निष्पन्न करता है। उदाहरणार्थ–अग्नि का विशिष्ट धर्म है उसकी उष्णता (गर्मी), जिसको वही परमेश्वर निष्पन्न करता है। हम उसके द्वारा अन्नपाक आदि कर सकते हैं।

पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः–जो परमेश्वर पाकयोग्य सभी पदार्थों को रूपान्तरित करता है। उदाहरणार्थ पृथ्वी में बीजारोपण के पश्चात्, बीज का अंकुर होता है, उसमें फसलें फूटती हैं, वे शाखाएँ होती हैं, उनमें पत्ते, कली, फूल और फल लगते हैं। इस प्रकार बीज के अंकुर से लेकर वृक्ष तक की परिणति पृथिवी का धर्म है। परमेश्वर द्वारा ही यह रूपान्तरण सम्भव है।

सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येकः–जो परमेश्वर अकेले ही सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठाता है।

गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः–जो परमेश्वर प्रकृति के सत्व, रज और तमोगुणों को यथाक्रम स्थिति, सृष्टि और संहार कार्यों में प्रवृत्त करता है। वही अक्षर-ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर है॥ ५॥

किञ्च– और

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद् विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥ ६॥

अन्वयः–तत् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढम्, ब्रह्मा ब्रह्मयोनिं तत् वेदते, ये पूर्वदेवाः ऋषयश्च तत् विदुः, ते वै तन्मयाः अमृताः बभूवुः॥ ६॥

मन्त्रार्थ–वह अक्षरब्रह्म वेदों के रहस्यस्वरूप उपनिषदों में छिपा हुआ है। ब्रह्मा वेदों द्वारा प्रमाणित उस अक्षरब्रह्म को जानते हैं। जो प्राचीन देवगण और मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए, वे ब्रह्मस्वरूप होकर अमर हो गये॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

तदिति। तत् प्रकृतमात्मस्वरूपं वेदानां गुह्योपनिषदो वेदगुह्योपनिषदस्तासु वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं संवृतम्। ब्रह्मा हिरण्यगर्भो वेदते जानाति ब्रह्मयोनिं वेदप्रमाणकमित्यर्थः। अथवा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य योनिं वेदस्य वा। ये पूर्वदेवा रुद्रादय ऋषयश्च वामदेवादयस्तद्विदुस्ते तन्मयास्तदात्मभूताः सन्तोऽमृता अमरणधर्माणो बभूवुः। तथेदानीन्तनोऽपि तमेव विदित्वाऽमृतो भवतीति वाक्यशेषः॥ ६॥

तात्पर्यदीपिका

तत् = उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप, वेदगुह्योपनिषत्सु = वेदों की रहस्य स्वरूपा जो उपनिषदें हैं उनमें गूढम् = छिपा हुआ है। ब्रह्मा = ब्रह्मदेव, ब्रह्मयोनिम् = 'ब्रह्म' का अर्थ है वेद, वे वेद जिसे प्रमाणित करते हैं, तत् वेदते = उस अक्षरब्रह्म के स्वरूप को जानते हैं। अथवा–ब्रह्मयोनिम् तत् वेदते = हिरण्यगर्भ अथवा वेद के कारणस्वरूप उस अक्षरब्रह्म के स्वरूप को जानते हैं। ये पूर्वदेवाः = रुद्र आदि जो प्राचीन देवता, (ये) ऋषयश्च = और जो वामदेव आदि मन्त्रद्रष्टा महर्षि, तत् विदुः = उस अक्षरब्रह्म को जानते हैं, ते = वे देवगण और ऋषिगण, तन्मयाः (सन्तः) = अक्षरब्रह्ममय परमात्मस्वरूप होकर, अमृताः वै बभूवुः = मरणधर्म से शून्य, अमर हो गये। इसमें इतना और जोड़ देना चाहिये कि जिस प्रकार वे ब्रह्मस्वरूप को जानकर ब्रह्माकार और अमर हो गये, उसी प्रकार आधुनिक ब्रह्मजिज्ञासु साधक भी उस आत्मतत्व को जानकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं॥ ६॥

अवतरणम्–एतावता तत्पदार्थ उपवर्णितः। अथेदानीं त्वं पदार्थमुपवर्णयितुमुत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते–

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥ ७॥

अन्वयः–यः गुणान्वयः फलकर्मकर्ता, सः तस्यैव च कृतस्य उपभोक्ता; सः विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः स्वकर्मभिः सञ्चरति॥ ७॥

मन्त्रार्थ–जो गुणों से आबद्ध होकर फलदायी कर्मों को करता है, वही जीव उसी कर्मफलों को भोगता है। वह जीव नानाविध (नाम और) रूप धारण करता है। तीन गुणों से युक्त होता है, तीन मार्गों से चलता है और प्राणों का अधिष्ठाता होकर अपने कर्मों से सञ्चार करता है॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

गुणान्वय इति। गुणैः कर्मज्ञानकृतवासनामयैरन्वयो यस्य सोऽयं गुणान्वयः। फलार्थस्य कर्मणः कर्ता कृतस्य कर्मफलस्य स एवोपभोक्ता। स विश्वरूपो नानारूपः कार्यकारणोपचितत्वात्। त्रयः सत्त्वादयो गुणा अस्येति त्रिगुणः। त्रयो देवयानादयो मार्गभेदा अस्येति त्रिवर्त्मा, धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति वा। प्राणस्य पञ्चवृत्तेरधिपः संचरति। कैः? स्वकर्मभिः॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण–तत् त्वम् असि इस प्रकार गुरु शिष्य को उपदेश देता है, जिसका अर्थ है वही तुम हो। गुरु शिष्य को समझाता है 'तत् त्वम्' जो परमात्मा है, वही तुम जीवात्मा हो, दोनों में अन्तर नहीं है। अब तक 'तत्' सर्वनाम से उसी परमात्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है, अब 'त्वम्' सर्वनाम के अर्थ को अग्रिम मन्त्र निरूपित कर रहे हैं–

गुणान्वयः इत्यादि। **यः**=जो जीवात्मा, **गुणान्वयः**–(गुणैः अन्वयः यस्य सः)– कर्मज्ञान से उत्पन्न वासनामय गुणों से जिसका सम्बन्ध रहता है, **फलकर्मकर्ता** = फलप्राप्ति की आशा से जो अच्छे बुरे कर्मों को करता है, **सः च** = और वह जीवात्मा, **कृतस्य तस्यैव च उपभोक्ता** = किये गये उन्हीं कर्मफलों का, पुण्य-पापजनित सुख-दुःखों का उपभोग करनेवाला होता है। **सः विश्वरूपः** = वह जीवात्मा जैसा कर्म करता है, तदनुसार फलभोगने के लिये विभिन्न योनियों में विभिन्न देह धारण कर नानाविध नामरूपों से सम्पन्न होता है।

त्रिगुणः =(त्रयः गुणाः अस्येति)–सत्व, रज और तमोगुण उसी के होते हैं, अतः वह 'त्रिगुण' है। इस पर विज्ञानभगवान् कहते हैं–**'ईषद्रजोऽन्वितसत्वगुणपरवशः संज्ञानद्वारेण मोक्षार्थं कर्म करोति, ईषत् सत्वान्वितरजोगुणपरवशः सन् स्वर्गादि-फलसाधनं कर्म करोति। ईषद्रजोऽन्विततमोगुणपरवशः सन् नरकादिसाधनं कर्म करोति॥'**

जिस जीव में रजोगुण की मात्रा कम और सत्वगुण की मात्रा अधिक होती है वह जीव ज्ञानप्राप्ति के द्वारा वे काम करता है, जिससे मोक्ष मिले। जिस जीव में सत्वगुण की मात्रा कम और रजोगुण की मात्रा अधिक होती है, वह जीव वे काम करता है जिससे स्वर्ग प्राप्त हो। जिसमें रजोगुण की मात्रा कम और तमोगुण की मात्रा अधिक होती है, वह जीव वे क्रर्म करता है, जिससे उसे नरक जाना पड़ता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण परमात्मा अर्जुन को समझाने के बहाने जीव को यह उपदेश देते हैं–

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम्॥ (१४।५)

सत्व रज और तम ये प्रकृतिप्रदत्त गुण हैं, जो शरीरस्थित अविनाशी आत्मा (जीव) को बन्धन में डालते हैं। गुणत्रयविभागयोग नामक चतुर्दश अध्याय में इसका विस्तृत निरूपण है।

त्रिवर्त्मा–(त्रयः मार्गाः अस्येति।) मृत्यु के उपरान्त शरीर छूटने पर जीव की गति तीन प्रकार की होती है, जिसे मार्ग (वर्त्म) कहा गया है। वे तीन हैं–देवयान, पितृयान और निरन्तर जन्ममरणचक्र में भ्रमण। देवयान से जानेवाले ब्रह्मलोकपर्यन्त जाकर वहां से लौटते नहीं हैं, वे वहीं मोक्ष प्राप्त करते हैं। पितृयान से जाने वाले स्वर्ग में चिरकाल तक फलोपभोग कर पुनः मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं। तीसरे मार्ग पर जाने वाले कीट पतंग आदि क्षुद्र जीव निरन्तर जन्ममृत्युचक्र में घूमते रहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् में है। अथवा–धर्म–अधर्म और ज्ञान ये तीन मार्ग हैं, जिन पर चलनेवाला 'त्रिवर्त्मा' कहलाता है।

प्राणाधिपः–प्राण वायु की पांच प्रवृत्तियां है–हृदय में रहनेवाला प्राणवायु, गुदा में रहनेवाला अपानवायु, नाभिमण्डल में रहनेवाला समानवायु, कण्ठदेश में रहनेवाला उदानवायु और सर्वशरीरगत वायु व्यानवायु होता है। जैसा कि 'अमरकोष' का वचन है–

"हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥"

देहधारी जीवात्मा इस पञ्चवृत्तिस्वरूप प्राणवायु पर आधिपत्य करता है।

सः स्वकर्मभि सञ्चरति–कर्म त्रिविध होते हैं–प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण। जैसा कि योगसूत्र है–'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।' प्रारब्ध कर्मों का नाश उनके उपभोग से ही होता है। जीवात्मा अपने सुकृत–दुष्कृत कृत्यों द्वारा तदनुकूल सुख–दुःखानुभव करता है, स्वर्ग–नरक जाता है या सदा संसारचक्र में घूमता है अथवा मोक्ष प्राप्त करता है॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥

अन्वयः–यः अङ्गुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितः बुद्धेः आत्मगुणेन चैव (समन्वितः, सः) अपरोऽपि आराग्रमात्रः दृष्टः॥ ८॥

मन्त्रार्थ–जो अंगूठे के बराबर और सूर्य के समान है; संकल्प, अहङ्कार, बुद्धि और आत्मगुण से सम्पन्न है, वह अन्य जीवात्मा आरा के नोंक के बराबर दृष्टिगोचर होता है॥ ८॥

शाङ्करभाष्यम्

अङ्गुष्ठमात्र इति। अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमितहृदयसुषिरापेक्षया। रवितुल्यरूपो ज्योतिःस्वरूप इत्यर्थः। सङ्कल्पाहङ्कारादिना समन्वितो बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन च जरादिना। उक्तं च "जरामृत्यू शरीरस्य" इति। आराग्रमात्रः प्रतोदाग्रप्रोतलोहकण्टकाग्रमात्रोऽपरोऽपि ज्ञानात्मनाऽऽत्मा दृष्टोऽवगतः। अपिशब्दः सम्भावनायाम्। अपरोऽप्यौपाधिको जलसूर्य इव जीवात्मा संभावित इत्यर्थः॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

यः = जो जीवात्मा, **अङ्गुष्ठमात्रः**=यतः हृदयगुफा अंगूठे के बराबर की होती है, अतः अंगूठे के परिमाण का है, **रवितुल्यरूपः**—सूर्य के समान है, **संकल्पाहङ्कार-समन्वितः**—संकल्प और अहंकार से युक्त है। **'संकल्पः कर्म मानसम्'** इस परिभाषा के अनुसार संकल्प-विकल्प मानसिक प्रक्रिया है। अहंकार का अर्थ है अहंता का अभिमान, जो शरीर और इन्द्रियों में रहता है।

बुद्धेः आत्मगुणेन च (समन्वितः)—जो जीव बुद्धि के गुण और आत्मगुण से सम्पन्न है। बुद्धि का धर्म है अध्यवसाय और आत्मा (शरीर) का गुणधर्म है—बाल्यावस्था, यौवन, जरा, मरण आदि। जैसा कि प्रमाण-वचन है—'जरामृत्यू शरीरम्'। जीव इससे युक्त रहता है। **सः अपरः आराग्रमात्रोऽपि दृष्टः**—वह दूसरा (जीवात्मा) अंगूठे के बराबर का होने पर भी उसे सुई (आरा) की नोक के समान भी देखा गया है। शंकराचार्य 'आराग्रमात्र' का अर्थ कोड़े (प्रतोद) के अग्रभाग में जड़ा हुआ लोहे का कांटा करते हैं—'प्रतोदाग्र-प्रोतलोहकण्टकाग्रमात्रः।' मन्त्र में अपि शब्द सम्भावना के अर्थ में है। **'रवितुल्यरूपः'** इस विशेषण से यह अर्थ प्रतिफलित होता है कि जिस प्रकार जलाशय में प्रतिबिम्बित सूर्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार उपाधियुक्त जीवात्मा का चित्स्वरूप से साक्षात्कार भी सम्भव है। गीता में जीवात्मा का वर्णन इस प्रकार है—

"ममैवांऽशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥" (१५।७)॥ ८॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते॥ ९॥

अन्वयः—शतधा कल्पितस्य च बालाग्रशतभागस्य (यः) भागः, सः जीवः विज्ञेयः। सः च आनन्त्याय कल्पते॥ ९॥

मन्त्रार्थ—सौ भागों में विभक्त केश के अग्रभाग का जो सौवां भाग है, उसके बराबर सूक्ष्मतम भाग को जीव समझना चाहिये। वह सूक्ष्मतम जीवात्मा अनगिनत रूप धारण करता है, यही उसकी विशेषता है॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्

पुनरपि दृष्टान्तान्तरेण दर्शयति—बालाग्रेति। वालाग्रस्य शतकृत्वो भेदमापादितस्य यो भागस्तस्याषि शतधा कल्पितस्य भागो जीवः स विज्ञेयः। लिङ्गस्याऽतिसूक्ष्मत्वात् तत्परिमाणेनाऽयं व्यपदिश्यते। स च जीवस्वरूपेण आनन्त्याय कल्पते स्वतः॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

इसके पूर्व मन्त्र में जीवात्मा 'अङ्गुष्ठमात्र' और 'आराग्रमात्र' कहा गया है। इस मन्त्र में उसे शतधा कल्पित 'बालाग्रशतभाग' के भाग के बराबर कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा पृथक् पृथक् योनि में जन्म लेकर जो शरीर धारण करता है, तदनुसार उसका आकार होता है। मनुष्य-देव आदि योनियों में वह अंगुष्ठमात्र होता है, तथा अन्य विभिन्न योनियों में उसके शरीराकार भिन्न-भिन्न होने के कारण तदनुरूप उसका आकार होता है। इस प्रकार वह 'अनन्तरूप' होता है।

बालाग्र इत्यादि। केश का अग्रभाग अत्यन्त सूक्ष्म होता है, उसका भी सौवा अंश जितने आकार का होता है, उतना जीवात्मा का सूक्ष्म परिमाण समझना चाहिये। क्योंकि उसका 'लिङ्गदेह' (सूक्ष्मशरीर) अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उसके आकार की दृष्टि से जीवात्मा का यह सूक्ष्मतम आकार वर्णित है। किन्तु पारिमार्थिक दृष्टि से 'जीव' के स्वरूप से उसकी अनन्तता की स्वयं कल्पना की गयी है॥ ९॥

किञ्च— और

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते॥ १०॥

अन्वयः—एषः नैव स्त्री, न पुमान्, अयं च नैव नपुंसकः, सः यत् यत् शरीरम् आदत्ते तेन तेन रक्ष्यते॥ १०॥

मन्त्रार्थ—वह परब्रह्म परमेश्वर न तो स्त्री है, न पुरुष है और न वह नपुंसक है। वह (जिस जिस योनि के) जिस जिस शरीर को धारण करता है, उसी शरीर के द्वारा उसकी रक्षा की जाती है॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्

नैव स्त्रीति। स्वतोऽद्वितीयापरोक्षब्रह्मात्मस्वभावत्वान्नैव स्त्री न पुमानेष नैव चाऽयं नपुंसकः। यद् यत् स्त्रीशरीरं पुरुषशरीरं नपुंसकशरीरं वाऽऽदत्ते तेन तेन स च विज्ञानात्मा रक्ष्यते संरक्ष्यते तत्तद्धर्मानात्मन्यध्यस्याऽभिमन्यते स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्र्यहं नपुंसकोऽहमिति॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

यतः वह अक्षरब्रह्म स्वयं अद्वितीय है, अपरोक्ष स्वभावशाली है, अतः न तो वह

स्त्री है और न वह पुरुष है औरं न नपुंसक है। वह वस्तुतः विज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप है। अतः वह जिस स्त्रीशरीर, पुरुषशरीर अथवा नपुंसकशरीर को धारण करता है उस-उस शरीर के द्वारा सुरक्षित रहता है। उस शरीर के जो धर्म रहते हैं, उसका वह स्वयं पर अध्यारोप करता है और यह अभिमान करता है-'मैं मोटा-ताजा हूँ, दुबला-पतला हूँ, मर्द हूँ, औरत हूँ, नामर्द हूँ' इत्यादि॥ १०॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
ग्र्रासाम्बुवृष्ट्या चाऽऽत्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥ ११॥

अन्वयः-(यथा) ग्रासाम्बुवृष्ट्या च आत्मविवृद्धिजन्म, (तथा) देही अनुक्रमेण स्थानेषु सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः कर्मानुरूपाणि अभिसम्प्रपद्यते॥ ११॥

मन्त्रार्थ-जिस प्रकार अन्न के ग्रास और जल की वृष्टि (जलपान) द्वारा शरीर की वृद्धि होती है, उसी प्रकार शरीरधारी जीव संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह के अनुसार जो कर्म करता है, तदनुरूप वह विभिन्न योनियों में जन्म लेकर उनके अनुरूप कर्म करते हुए तदनुसार नामरूप आदि धारण करता है॥ ११॥

शाङ्करभाष्यम्

केन तर्ह्यसौ शरीराण्यादत्ते? इत्यादि-सङ्कल्पनेति। प्रथमं सङ्कल्पनम्, ततः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियव्यापारः, ततो दृष्टिविधानम्, ततो मोहः, तैः सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः शुभाशुभानि कर्माणि निष्पद्यन्ते। ततः कर्मानुगानि कर्मानुसारीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणान्यनुक्रमेण परिपाकापेक्षया देही मर्त्यः स्थानेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिष्वभिसंप्रपद्यते। तत्र दृष्टान्तमाह-ग्रासाम्बुनोरन्न-पानयोरनियतयोर्वृष्टिरासेचनं निदानमात्मनः शरीरस्य वृद्धिर्जायते यथा तद्वदित्यर्थः॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में यह प्रतिपादित है कि जीवात्मा को किन कारणों से शरीरधारण करना पड़ता है-

संकल्पन इत्यादि। (यथा) **ग्रासाम्बुवृष्ट्या**-(ग्रासश्च अम्बु च ग्रासाम्बुनी, तयोः वृष्ट्या)-जैसा आहार अथवा जैसा जल रहता है, उसके सेवन के अनुसार **आत्मविवृद्धिजन्म** = शरीर की वृद्धि या क्षय होता है। (तथा) **देही** = उसी प्रकार शरीरधारी जीवात्मा, **संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः** (संकल्पनं स्पर्शनं दृष्टिः मोहश्चेति संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहाः, तैः)-संकल्प अन्तःकरण का धर्म है, स्पर्श त्वचा का धर्म

है, दृष्टिपात नेत्र का धर्म है और मोह (अज्ञान) माया का धर्म है। अर्थात् जीवात्मा जिस प्रकार सोचता है, स्पर्शसुख और दृष्टिसुख का अनुभव करता है और अविद्या (माया) के प्रभाव में पडकर अज्ञानान्धकार में पड़ता है। तदनुसार कर्मानुगानि = (वह विभिन्न शुभाशुभ कर्म करता है) उन कर्मों के अनुरूप, स्थानेषु = देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि विभिन्न योनियों में, अनुक्रमेण = यथाक्रम, रूपाणि अभिसम्प्रपद्यते = स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि रूपों को प्राप्त करता है॥ ११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥ १२॥

अन्वयः—देही स्वगुणैः स्थूलानि सूक्ष्माणि चैव बहूनि रूपाणि वृणोति। क्रियागुणैः आत्मगुणैश्च तेषाम् अपरोऽपि संयोगहेतुः दृष्टः॥ १२॥

मन्त्रार्थ—देहधारी जीव अपने गुण, पाप-पुण्यजन्य संस्कारों के कारण विशाल से विशाल या सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूपों को धारण करता है। वह जीव एक शरीर छोड़कर जो दूसरा शरीर धारण करता है, उसका कारण उसके कर्मगुण और आत्मगुण होते हैं॥ १२॥

शाङ्करभाष्यम्

स्थूलानीति। तानि च स्थूलान्यश्मादीनि, सूक्ष्माणि तैजसधातुप्रभृतीनि, बहूनि देवादिशरीराणि, देही विज्ञानात्मा, स्वगुणैर्विहितप्रतिषिद्ध-विषयानुभवसंस्कारैर्वृणोत्यावृणोति। ततस्तत्तत्क्रियागुणैरात्मगुणैश्च स देह्यपरोऽपि देहान्तरसंयुक्तो भवतीत्यर्थः॥ १२॥

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवात्मा बार बार एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर क्यों धारण करता है, वह बार-बार जन्म क्यों लेता है? इसका समाधान इस मन्त्र में है—

स्थूलानीति। देही = विज्ञानस्वरूप वह जीवात्मा, स्वगुणैः = अपने कर्तव्या-कर्तव्यकर्मों से अनुभूत संस्कारों द्वारा, स्थूलानि = पाषाण आदि स्थूल, सूक्ष्माणि चैव = और तेजोमय धातुमय सूक्ष्म, बहूनि रूपाणि = देव-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि नानाविध शरीरों को, वृणोति = धारण करता है।

क्रियागुणैः आत्मगुणैश्च—विज्ञानभगवान् कहते हैं—'श्रौतस्मार्तविहित-प्रतिषिद्धक्रियाजन्यधर्माधर्मलक्षणैः, आत्मा लिंगशरीरम् तस्य गुणैः विहित-प्रतिषिद्धोपासनादिभिश्च'—अर्थात् श्रुति-स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित श्रौत और स्मार्त कर्मों

में कुछ का विधान किया जाता है और कुछ का निषेध। विधानयोग्य कर्म धर्मकर्म और निषिद्ध कर्म अधर्मकर्म कहलाते हैं। वे ही क्रियागुण हैं। आत्मा लिंगशरीर को कहते हैं। उसके द्वारा विहित अथवा प्रतिषिद्ध उपासना आदि आत्मगुण हैं। इन क्रियागुणों और आत्मगुणों को, **तेषाम्** = उन जीवात्माओं का, **अपरोऽपि संयोगहेतुः दृष्टः** = एक शरीर से दूसरे शरीर के संयोग (प्रवेश) को कारण देखा गया है।

इस मन्त्र में **'स्वगुणैः'**, **'क्रियागुणैः'** और **'आत्मगुणैः'** इन पदों में तृतीया बहुवचन का प्रयोग हेतु अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा जो विभिन्न शरीर धारण करता है, उसमें हेतु है उसके पाप-पुण्य। साथ ही वह बार बार जो जन्म लेता है उसमें उसके क्रियागुण और आत्मगुण ही कारण होते हैं।

भिन्न मत–**'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि'**–इसकी विभिन्न व्याख्याएं हैं। **नारायण तीर्थ** के अनुसार देव, मनुष्य आदि के रूप स्थूल हैं और पक्षी कीट-पतंगादि के सूक्ष्म। **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** के विचार से भूलोक के पार्थिव शरीर स्थूल हैं, भुवर्लोक के उनसे सूक्ष्म हैं, स्वर्गलोक के तैजस शरीर उनसे भी सूक्ष्म हैं। महर्लोक के वायवीय शरीर उनसे भी सूक्ष्म, जनलोक के उनसे सूक्ष्म और सत्यलोक के शरीर उनकी अपेक्षा सूक्ष्मतम हैं। **विज्ञानभगवान्** के अनुसार हाथी का शरीर स्थूल है और कीट-पतंगादि का सूक्ष्म। **स्वगुणैः वृणोति** = जीवात्मा अपने सत्व, रज और तमोगुण के कारण नानारूप धारण करता है।

क्रियागुणैरात्मगुणैश्च–विज्ञानभगवान् की व्याख्या ऊपर प्रस्तुत है। **नारायण-तीर्थ** के अनुसार धर्म और अधर्म क्रियागुण हैं, ज्ञान, वासना आदि आत्मगुण हैं। **शंकराचार्य** के अनुसार शरीर का कर्मफल क्रियागुण हैं, मानसिक संस्कार आत्मगुण हैं।

अपरोऽपि दृष्टः–स्वगुण, क्रियागुण और आत्मगुण के अतिरिक्त एक अन्य कारण को कतिपय टीकाकार पुनर्जन्म में कारण मानते हैं। वह कारण है–पूर्व प्रज्ञा। नारायण-तीर्थ, विज्ञानभगवान् और उपनिषद् ब्रह्मयोगी इसी मत के हैं। परमात्मा की इच्छा भी शरीरधारण का अन्य कारण हो सकता है॥ १२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

अन्वयः–(जीवः) कलिलस्य मध्ये अनाद्यनन्तं विश्वस्य स्त्रष्टारम् अनेकरूपं विश्वस्य एकं परिवेष्टितारं देवं ज्ञात्वा पाशैः प्रमुच्यते॥ १३॥

मन्त्रार्थ–जीवात्मा गहन और गम्भीर संसारसागर के बीच में आदि-अन्तशून्य विश्व के स्त्रष्टा विविधरूपशाली विश्व को केवल वही व्याप्त करनेवाले प्रकाशस्वरूप अक्षरब्रह्म का साक्षात्कार कर सभी पाशबन्धनों से छुटकारा पाता है॥ १३॥

शाङ्करभाष्यम्

अवतरणम्—स एवमविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सान्द्रजलनिमग्नो निश्चयेन देहाहंभावमापन्नः प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजीवं जीवभावमापन्नः कथञ्चित् पुण्यवशादीश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनाऽपगतरागादिमलोऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमदमादिसाधनसंपन्नस्तमात्मानं ज्ञात्वा मुच्यत इत्याह—अनाद्यनन्तमिति।

अनाद्यनन्तमाद्यन्तरहितं कलिलस्य मध्ये गहनगभीरसंसारस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमुत्पादयितारमनेकरूपं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं स्वात्मना संव्याप्याऽवस्थितं ज्ञात्वा देवं ज्योतीरूपं परमात्मानं मुच्यते सर्वपाशैरविद्याकामकर्मभिः॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

अवतरण—जीव उसी प्रकार गंभीर संसार सागर में डूबता-इतराता है, जिस प्रकार तुम्बी। क्योंकि वह अविद्या (अज्ञान), काम (मनोरथ), कर्मफल, राग (विषयासक्ति) आदि के भार से आक्रान्त रहता है। इसी कारण देह को वह अपना स्वरूप समझता है। फलतः वह जीवनपर्यन्त प्रेत, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में जीवभाव में पड़ा रहता है। पुनश्च किसी पुण्यप्रताप से ईश्वरप्राप्ति के लिए कर्मानुष्ठान करता है, जिससे उसके राग आदि पंक दूर हो जाता है। संसार की अनित्यता का उसे अनुभव होता है। फलतः ऐहिक और आमुष्मिक फलभोगों में उसे वैराग्य उत्पन्न होता है। मोक्ष की प्राप्तिस्वरूप शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होने पर उसे परमात्मा का साक्षात्कार होता है। फलतः वह मोक्ष प्राप्त करता है। अब वेदमाता इसी आशय का प्रतिपादन कर रही है—

'अनाद्यनन्तम्' इत्यादि। (जीवः = जीवात्मा), कलिलस्य = दुर्गम संसार के, मध्ये = बीच में अवस्थित, अनाद्यनन्तम् = आदि-अन्तशून्य, विश्वस्य स्त्रष्टारम् = सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् के रचयिता, अनेकरूपम् = विविधरूपशाली, विश्वस्य परिवेष्टितारम् =समस्त विश्व को वेष्टित करनेवाले, एकम् = एकमात्र, अद्वितीय, देवम् = चिन्मयप्रकाश- स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का, ज्ञात्वा = साक्षात्कार कर, सर्वपाशैः = अविद्या-काम और कर्मादि सभी पाशबन्धनों से, मुच्यते = मुक्ति प्राप्त करता है॥ १३॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ १४॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

अन्वयः—ये भावग्राह्यम् अनीडाख्यं भावाभावकरं कलासर्गकरं शिवं देवं विदुः, ते तनुं जहुः॥ १४॥

मन्त्रार्थ—जो लोग भाव द्वारा साक्षात्कारयोग्य, 'अनीड' आश्रयरहित, सृष्टि और संहार करनेवाले, कलामय सृष्टिकर्ता चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, वे शरीर के पाशबन्धनों को त्याग देते हैं॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्

केन पुनरसौ गृह्यते? इत्याह—भावग्राह्यमिति। भावेन विशुद्धान्तः-करणेन गृह्यत इति भावग्राह्यम्। अनीडाख्यं नीडं शरीरमशरीराख्यम्। भावाभावकरं शिवं शुद्धमविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तमित्यर्थः। कलानां षोडशानां प्राणादिनामान्तानाम् "स प्राणमसृजत" (प्र. उ. ६।४) इत्यादिना-ऽथर्वणोक्तानां सर्गकरं देवं ये विदु'रहमस्मी'ति ते जहुः परित्यजेयुस्तनुं शरीरम्॥ १४॥

॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में परब्रह्म-साक्षात्कार के अधिकारियों का निरूपण किया गया है—

'भावग्राह्यम्' इत्यादि। ये = जो, भावग्राह्यम् = विशुद्ध अन्तःकरण के द्वारा श्रद्धाभाव और भक्तिभाव से साक्षात्कारयोग्य, अनीडाख्यम् = 'नीड' का अर्थ है पक्षियों का आश्रयस्थल घोसला। जीवरूप पक्षी का नीड (घोसला) उसका शरीर होता है, परन्तु अक्षरब्रह्म शरीररहित है अतः वह 'अनीड' नाम से ही परिचित है।

भावाभावकरम्—परब्रह्म जगत् की सत्ता (सृष्टि) भी करता है, और उसका अभाव (संहार) भी। शिवम् = अविद्या (अज्ञान) और उसके कार्यों से वह असंस्पृष्ट होने के कारण शुद्ध निर्मल है, कलासर्गकरम् = 'षोडशकल' पुरुष का और 'प्राण' से 'लेकर' 'नाम' पर्यन्त की सृष्टि का निरूपण 'प्रश्नोपनिषद्' में है, उन षोडशकलाओं के जन्मदाता, देवम् = चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को, विदुः = जानते हैं, ते = वे मुमुक्षु, तनुम् = शरीर (शरीर के बन्धन) को, जहुः = छोड़ देते हैं। उन्हें बार-बार एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण नहीं करना पड़ता। वे मुक्त होते हैं॥ १४॥

॥ इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् के पञ्चम अध्याय की हिन्दी व्याख्या 'तात्पर्यदीपिका' पूर्ण॥ ५॥



षष्ठः अध्यायः

अवतरणम्—नन्वन्ये कालादयः कारणम् इति मन्यते। तत्कथं पुनरीश्वरस्य कलासर्गकरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥ १॥

अन्वयः—परिमुह्यमानाः एके कवयः स्वभावं (कारणं) वदन्ति, तथा अन्ये कालं (कारणं वदन्ति), एषः तु देवस्य महिमा, येन लोके इदं ब्रह्मचक्रं भ्राम्यते॥ ११॥

मन्त्रार्थ—जो मोहग्रस्त होते हैं, उनमें कतिपय लोग स्वभाव को (जगत् का) कारण मानते और दूसरे लोग काल को (उसका) कारण मानते हैं। यह तो चित्प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की ही महिमा है, जिससे विश्व में यह दृष्टिगोचर 'ब्रह्मचक्र' घुमाया जा रहा है॥ १॥

शाङ्करभाष्यम्

स्वभावमिति। स्वभावमेके कवयो मेधाविनो वदन्ति, कालं तथाऽन्ये। कालस्वभावयोर्ग्रहणं प्रथमाध्याये निर्दिष्टानामन्येषामप्युपलक्षणार्थम्। परिमुह्यमाना अविवेकिनो विषयात्मानो न सम्यग् जानन्ति। तु शब्दोऽवधारणे। देवस्यैष महिमा माहात्म्यम्, येनेदं भ्राम्यते परिवर्तते ब्रह्मचक्रम्॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कुछ लोग स्वभाव, काल आदि को जगत् की सृष्टि का कारण मानते हैं? ऐसी स्थिति में अक्षर परमेश्वर को 'षोडशकल पुरुष' की कलाओं का सृष्टिकर्ता क्यों कहा गया है? इस प्रश्न का समाधान अब प्रस्तुत है—

'स्वभावम्' इत्यादि। एके कवयः = कुछ क्रान्तदर्शी, स्वभावं वदन्ति = स्वभाव को (जगत् की सृष्टि का कारण) कहते हैं, तथा = उसी प्रकार, अन्ये = दूसरे कतिपय विद्वान्, कालं (वदन्ति) = काल को (जगत्-सृष्टि का) कारण कहते हैं। (किन्तु) परिमुह्यमानाः = पर वे दोनों मोह (अज्ञानान्धकार) में पड़े हुए हैं अतः विवेकशून्य हैं। एषः तु देवस्य महिमा = निश्चित रूप से यह चित्प्रकाशस्वरूप परात्पर परब्रह्म परमेश्वर की ही महिमा है, येन इदं ब्रह्मचक्रं भ्राम्यते = जिससे यह दृश्यमान 'ब्रह्मचक्र' घूम रहा और घुमाया जा रहा है।

इस मन्त्र में 'स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः' इस मन्त्रभाग द्वारा काल और स्वभाव का जो ग्रहण किया गया है वह 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या' (१।२) इस मन्त्रभाग में निर्दिष्ट नियति, यदृच्छा, भूत, योनि और पुरुष का भी उपलक्षण है। इनमें से कोई भी जगत्-सृष्टि का कारण नहीं है।

'षोडशकल' पुरुष भी उसी परात्पर ब्रह्म की रचना है। जैसा कि 'प्रश्नोपनिषद्' कहती है–''अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ......षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ? ....तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥ ६.१॥ ..... तस्मै स होवाच इहैवान्तः शरीरे सौम्य! स पुरुषो, यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति॥ ६.२॥ .....स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकाः लोकेषु च नाम च॥ ६.४॥ ....स एषोऽकलोऽमृतो भवति....॥ ६.५॥''

वस्तुतः अक्षरब्रह्म निष्कल है, उसने ही 'षोडशकल पुरुष' को जन्म दिया है। वह हमारे हृदयस्थल में ही वास करता है, जिससे षोडशकलाएं प्रकट होती हैं। परब्रह्म परमेश्वर ने क्रमशः प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय), मन, (अन्तःकरण), अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम-रूप की सृष्टि की। इस प्रकार इस उपनिषद् के 'भावग्राह्यमनीडाख्यं' (५.१४) इत्यादि मन्त्र में वर्णित 'कलासर्गकरं देव' की कलासर्जकता सिद्ध होती है। 'देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्' मन्त्रभाग द्वारा इसी ओर संकेत है। सारा संसारचक्र ही ब्रह्म का 'विवर्त' (भ्रममात्र, असत्) है, अतः उसे 'ब्रह्मचक्र' कहते हैं। अक्षरब्रह्म के प्रभाव से ही सम्पूर्ण ब्रह्मचक्र का भ्रमण निरन्तर होता है। जैसा कि टीकाकार शंकरानन्द कहते हैं–'ब्रह्मैव स्वाविद्यया विवर्तं गच्छच्चक्रमेकनेम्यादिगुणकमुक्तं ब्रह्मचक्रम्।' ब्रह्म ही अपनी अविद्या (माया) के द्वारा 'विवर्त' भाव को प्राप्त होते हुए चक्राकार भ्रमण करता है, अतः संसारचक्र को ब्रह्मचक्र कहा गया है॥ १॥

येनाऽऽवृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥ २॥

अन्वयः–येन हि इदं सर्वं नित्यम् आवृतम्, यः ज्ञः कालकारः गुणी सर्वविद् (वर्तते), तेन ह ईशितं पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि कर्म विवर्तते। (तत्) चिन्त्यम्॥ २॥

मन्त्रार्थ–जिसने इस सम्पूर्ण जगत् को सदा सर्वदा आवृत किया है, जो ज्ञान-स्वरूप काल का कर्ता, गुणशाली और सर्ववेत्ता है, उसी से प्रेरित होने के कारण पृथ्वी-जल-तेज-वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतों को 'कर्म' कहते हैं। इसका चिन्तन करना चाहिए॥ २॥

शाङ्करभाष्यम्

महिमानं प्रपञ्चयति–येनेति। येनेश्वरेणाऽऽवृतं व्याप्तमिदं जगन्नित्यं नियमेन। ज्ञः कालकारः कालस्याऽपि कर्ता। गुण्यपहतपाप्मादिमान्। सर्वं वेत्तीति सर्वविद् यः, तेनेश्वरेणेशितं प्रेरितं, कर्म क्रियत इति कर्म स्त्रजीव फणी। हशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः। प्रसिद्धं यदेतदीश्वरप्रेरितं कर्म जगदात्मना विवर्तत इति यत् पुनस्तत् कर्म पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि पृथिव्यादि-भूतपञ्चकम्॥ २॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में परब्रह्म परमात्मा की महिमा और उसके द्वारा स्वयं का पञ्च महाभूतों से जगत् के 'विवर्त' रूप में रूपान्तरण का चित्रण किया गया है–

येनाऽऽवृतं नित्यमिदं हि सर्वम्–यतः जो परमेश्वर नियमपूर्वक दृष्टिगोचर होने-वाले इस स्थावर-जंगमस्वरूप सम्पूर्ण जगत् को नित्य माया के आवरण से ढक कर व्याप्त करता है।

ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः–जो 'ज्ञ' अर्थात् चिन्मय-ज्ञानस्वरूप है, जो 'कालकार' है अर्थात् जो कलन (संहार) कर्ता काल का भी काल 'महाकाल' है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः सर्वान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः" (११।३२), जो 'गुणी' पापहरणसामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न है (शांकरभाष्य 'अपहतपाप्मादिमान्')। अथवा–सत्व गुण, रजोगुण और तमोगुण का जो अधिष्ठाता है, क्योंकि स्थिति, सृष्टि और संहारकारिता इन्हीं गुणों में है। (वस्तुतः वह निर्गुण है।) सर्वविद्–सर्वं वेत्तीति = जो सब जानता है।

['मुण्डकोपनिषद्' के 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (१.१.९) मन्त्रभाग स्थित सर्वज्ञ और 'सर्वविद्' शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं– "सामान्येन सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। विशेषेण सर्वं जानातीति सर्वविद्।" आनन्दगिरि इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–"समष्टिरूपेण मायारूपेणोपाधिना सर्वज्ञः। व्यष्टिरूपेण अविद्याख्येन उपाधिना अनन्तजीवभावभापन्नः सर्ववित्।" अक्षरब्रह्म सृष्टि के पूर्व निरुपाधिक रहता है और सृष्टि की स्थिति में सोपाधिक होता है। सृष्टि के प्रथम क्षण में वह समष्टिरूप माया नामक उपाधि से युक्त रहता है। उसके अनन्तरवर्ती क्षणों में माया का व्यष्टिरूप प्रकट होता है, जिसे 'अविद्या' कहते हैं। उस उपाधि से सम्पन्न अक्षरब्रह्म विविध जीवात्माओं के रूप में व्यक्त होता है। जब वह समष्टिरूप 'माया' उपाधि से युक्त होता है उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं और जब वह व्यष्टिरूप उपाधि अविद्या से युक्त होता है, तब उसे 'सर्वविद्' कहते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त 'ज्ञः' और 'सर्वविद्' पद क्रमशः मुण्डकोपनिषद् के 'सर्वज्ञ' और 'सर्वविद्' पदों के समानार्थी प्रतीत होते

हैं। प्रस्तुत मन्त्र के सन्दर्भ में वहां का शांकरभाष्य और आनन्दगिरिकृत व्याख्या को देखना चाहिए।]

'तेनेशितं कर्म विवर्तते ह' इत्यादि–पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्च महाभूत अक्षरब्रह्म की ही रचना है, जिनसे जगत् प्रकट हुआ है। वस्तुतः वह ब्रह्म का 'विवर्त' है। [तैत्तिरीयोपनिषद् अक्षरब्रह्म से पाञ्चभौतिक सृष्टि का वर्णन इस प्रकार करती है–'तस्माद् वा एतास्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नमृतमयः' इत्यादि। (तै. उ. २-१-१)]

चिन्त्यम् = इसका चिन्तन-मनन करना चाहिए। जैसा कि उपक्रम है–''कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या'' (१.१.२) उसका उपसंहार यहाँ से है॥ २॥

अवतरणम्–यत् प्रथमाऽध्याये 'चिन्त्यमि'त्युक्तम्, तदेव दर्शयति–

तत् कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवाऽऽत्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

अन्वयः–तत् कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयः एकेन द्वाभ्यां त्रिभिः अष्टभिः वा कालेन चैव सूक्ष्मैः आत्मगुणैश्च (इति) तत्वेन तत्त्वस्य योगं समेत्य (चिन्त्यम्।)॥ ३॥

मन्त्रार्थ–वह अक्षरब्रह्म प्रथम (पृथ्वी से लेकर पुरुष तक) समस्त विश्व की रचना करता है, अनन्तर उसका निरीक्षण करता है और बार बार एक, दो, तीन अथवा आठ तत्वों के साथ अथवा काल और सूक्ष्म आत्मगुणों के साथ इस प्रकार एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के साथ योग कराकर स्वयं विराजमान रहता है। उसका ध्यान करना चाहिए॥ ३॥

शाङ्करभाष्यम्

तदिति। तत्कर्म पृथिव्यादि सृष्ट्वा विनिवर्त्य प्रत्यवेक्षणं कृत्वा भूयः पुनस्तस्याऽऽत्मनस्तत्त्वेन भूम्यादिना योगं समेत्य संगमय्य। णिलोपो द्रष्टव्यः। कतिविधैः प्रकारैः। एकेन पृथिव्या द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा प्रकृतिभूतैस्तत्त्वैः। तदुक्तम्–

''भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥'' (गीता ७। ४) इति।

कालेन चैवाऽऽत्मगुणैश्चाऽन्तःकरणगुणैः कामादिभि सूक्ष्मैः॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में उसके सृष्टिक्रम को जानना चाहिये। वही क्रम इस मन्त्र में निरूपित है। आचार्य शंकर इसके पूर्व मन्त्र के '**तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्**' इस मन्त्रभाग को बुद्धिस्थ कर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं–

'तत् कर्म कृत्वा'– पृथ्वी से लेकर आकाश तक पञ्च महाभूतों की रचना करते हुए, **विनिवर्त्य** = उनका निरीक्षण कर, (वह परब्रह्म परमात्मा) **भूयः** = फिर से, **तत्त्वस्य** = उस जीवात्मा का, **तत्त्वेन** = (पृथिवी आदि अन्य तत्त्वों में से किसी) दूसरे तत्त्व के साथ योग कराकर अवस्थित रहता है। वह परब्रह्म परमात्मा जीवात्मा का नाना प्रकार से योग कराता है–**एकेन** = कभी वह किसी एक तत्त्व के साथ योग कराता है। **द्वाभ्याम्** = कभी दो के साथ योग कराता है, **त्रिभिः** = कभी तीन के साथ योग कराता है। **अष्टभिर्वा** = और कभी आठ के साथ योग कराता है। आचार्य शंकर के अनुसार प्रकृति के आठ तत्त्व हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। जैसा कि गीता का वचन है–

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥" (गीता ७।४)

इन्हीं प्राकृतिक आठ तत्त्वों में से एक, दो, तीन अथवा आठ तत्त्वों के साथ परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध स्थापित कराता है। **कालेन चैव** = अथवा वह काल के साथ उसका योग कराता है। **आत्मगुणैश्च सूक्ष्मैः** = अथवा अत्यन्त सूक्ष्म काम-क्रोध आदि अन्तःकरणधर्मों के साथ जीवात्मा का योग कराता है। इस प्रकार जीवात्मा का अन्य तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्थापित कर परमात्मा अवस्थित रहता है, जिसका ध्यान करना चाहिए।

मतान्तरः–श्री हरिकृष्ण योगन्दका जी इस मन्त्र की भिन्न व्याख्या करते हैं। उसका भाव यह है कि परमात्मा ने ही अपनी शक्तिभूता प्रकृति से पाँचों महाभूतों की रचना की, उसका निरीक्षण किया, फिर चेतनातत्त्व के साथ जड़तत्त्व का संयोग कर विविध जगत् की सृष्टि की है। उस योग को इस प्रकार समझना चाहिए। जीवात्मा का एक (अविद्या) के साथ दोनों (पुण्यकर्म और पापकर्म से उत्पन्न संस्कारों) के साथ, तीनों (सत्व, रज और तमोगुण) के साथ, आठों गीताप्रोक्त (प्राकृतिक तत्त्वों) के साथ, काल के साथ और अहंता, ममता, आसक्ति आदि आन्तरिक सूक्ष्म गुणों के साथ संयोग कर उसकी रचना की है। उसका चिन्तन करना चाहिए।

इसका विस्तृत वर्णन तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में उपलब्ध है।

शंकरानन्द के अनुसार जीवात्मा ज्योतिष्टोमादि कर्मानुष्ठान करने के उपरान्त

मानसिक रूप से उसे लौटा दे। पुनश्च 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार तात्त्विक रूप से परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करे। उसके विभिन्न साधनोपाय है–एक-अविद्या, दो-धर्म और अधर्म, तीन-लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्ण, रजस, सत्व और तमोगुण, आठ-पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। काल–सृष्टि, स्थिति और संहार के द्वारा और आत्मगुणों-कामादि के द्वारा भी जीवात्मा परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करता है।

नारायणतीर्थ के अनुसार जीवात्मा शुभ अशुभ कर्म करके बार बार संसारचक्र में लौटता है। फिर कोई एक, दो, तीन या आठ जन्मों में परमात्मा को प्राप्त करता है। जैसा कि गीता कहती है–'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।' परमात्मसाक्षात्कार में काल और आत्मगुण भी हेतु हैं।

विज्ञानभगवान् और उपनिषद्ब्रह्मयोगी के मत में जीव जो कर्म करता है, उसे परमात्मा को समर्पित करता है, जिससे उसका अन्तःकरण निर्मल होता है और वह कर्म-संन्यास ग्रहण करता है। फलतः वह परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। जिसके विभिन्न साधनोपाय हैं–एक-गुरु, दो-गुरु और ईश्वर, तीन-श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन, आठ-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। काल-ज्ञान प्राप्ति के लिये साधनों के परिपक्व होने का समय, आत्मगुण-दया, शांति, शुचिता, मांगल्य, अस्पृहा, अकार्पण्य, आयासराहित्य और अनसूया।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ इस प्रकार करते हैं–एक-सांख्य का पुरुष, दो-प्रकृति और पुरुष, तीन-सत्व, रज और तम, आठ-पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार, आत्मगुण-ममता, आसक्ति तथा काल। परमात्मा जीवात्मा के साथ इनका संयोजन करता है॥ ३॥

अवतरणम्–इदानीं कर्मणां मुख्यं विनियोगं दर्शयति–

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

अन्वयः–यः गुणान्वितानि कर्माणि आरभ्य सर्वांश्च भावान् विनियोजयेद्, तेषाम् अभावे कृतकर्मनाशः, सः कर्मक्षये तत्त्वतोऽन्यः याति॥ ४॥

मन्त्रार्थ–जो जीव सत्व, रज और तमोगुणोंसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मों को प्रारम्भ कर अपने सभी भावों को परमेश्वर के लिए समर्पित करता है, उन कर्मों का जीवात्मा से सम्बन्ध न रहने के कारण किये हुए उसके कर्मफल नष्ट होते हैं। फलतः वह परमात्मा के पास जाता है। क्योंकि चेतनतत्त्व जड़तत्त्व से भिन्न होता है॥ ४॥

शाङ्करभाष्यम्

आरभ्येति। आरभ्य कृत्वा कर्माणि गुणैः सत्त्वादिभिरन्वितानि भावांश्चाऽत्यन्तविशेषान् विनियोजयेदीश्वरे समर्पयेद् यः। तेषामीश्वरे समर्पितत्वादात्मसंबन्धाभावस्तदभावे पूर्वकृतकर्मणां नाशः। उक्तं च–

"यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः॥"

(गीता ९।२७-२८)

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥"

(गीता ५।१०,११) इति।

कर्मक्षये विशुद्धसत्त्वो याति तत्त्वतोऽन्यस्तत्त्वेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्योऽन्योऽविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनाऽवगच्छन्नित्यर्थः। 'अन्यदि'ति पाठे तत्त्वेभ्यो यदन्यद् ब्रह्म तद् यातीति॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

जीव को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य कर्मों को परमेश्वरप्रीत्यर्थ करे, विषयासक्ति से न करे। उसका फल इस मन्त्र में निरूपित है–'आरभ्य कर्माणि' इत्यादि। जीव के सभी कर्म सत्व, रज और तमोगुणों से युक्त होते हैं।

[सत्व गुण सुख में, रजोगुण कर्म में और तमोगुण प्रमाद में जीवात्मा को आबद्ध करता है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

"सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्माणि भारत!।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥" (गीता-१४।९)

सत्व के कारण ज्ञान में प्रवृत्ति होती है। रजोगुण के कारण लोभप्रवृत्ति, अशांति, स्पृहा इत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं और तमोगुण के कारण अविवेक, अज्ञान, अप्रवृत्ति, मोह आदि जन्म लेते हैं।]

अतः जो जीव तीनों गुणों से सम्बद्ध कर्मफलों और उनसे उत्पन्न भावों को परमेश्वरप्रीत्यर्थ करता है, उन कर्मों का जीवात्मा से सम्बन्ध न रहने के कारण उसके पूर्वकृत कर्मों का नाश होता है। इसे गीता भी प्रमाणित करती है–

यत् करोषि यदश्नासि–श्रीकृष्ण कहते हैं–'कुन्तीपुत्र अर्जुन! तुम जो करते हो, खाते-पीते हो, यज्ञ-यागादि में हविर्द्रव्य समर्पित करते हो, जो तप करते हो, वह मुझे

समर्पित करो। इस प्रकार तुम (जीव) शुभ-अशुभफलस्वरूप कर्मबन्धनों के पाशों से मुक्त होगे।'

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि'-जो अनासक्त भाव से कर्म करते हुए उसे परब्रह्म परमात्मा को समर्पित करता है, वह जीव उसी प्रकार पापकर्मजन्य फल से असंपृक्त रहता है, जिस प्रकार जलाशय में रहकर भी कमलदल जल से अछूता रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या-इसलिए योगी लोग शरीर, मन और बुद्धि द्वारा और केवल इन्द्रियों से अनासक्त भाव से जो कर्म करते हैं वे आत्मशोधन के लिए करते हैं।

कर्मों का क्षय होने पर जीव का अन्तःकरण (सत्त्व) निर्मल होता है अतः वह परमात्मा के पास पहुँचता है। क्योंकि चेतन जीव प्रकृतिस्वरूप जड तत्त्वों से भिन्न होता है, अविद्या और उसके कार्य उसे स्पर्श नहीं करते। अतः जीवात्मा चिन्मय सत् आनन्द-स्वरूप अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा को अपने से अभिन्न तत्स्वरूप समझता है।

'तत्वतोऽन्यत्' यह पाठभेद मानने पर 'चेतन जीव जड तत्वों से भिन्न जो परब्रह्म परमात्मा उसे प्राप्त करता है' यह अर्थ होगा॥ ४॥

अवतरणम्-उक्तस्याऽर्थस्य द्रढिम्न उत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते। कथं नाम विषयान्धा ब्रह्म जानीयुरित्यत आह-

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

अन्वयः-आदिः सः संयोगनिमित्तहेतुः त्रिकालात् परः अकलोऽपि दृष्टः। (जीवः) विश्वरूपं भवभूतिम् ईड्यं स्वचित्तस्थं तं देवं पूर्वम् उपास्य (याति।)॥ ५॥

मन्त्रार्थ-परब्रह्म परमात्मा को सब के आदि में अवस्थित शरीर के संयोग की कारणस्वरूपा अविद्या का हेतु भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों से भी परे और कलामुक्त देखा गया है। विश्व और संसार के रूप में परिवर्तित अपने ही अन्तःकरण में स्थित स्तुतियोग्य प्रकाशस्वरूप उस परब्रह्म परमात्मा की सर्वप्रथम उपासना करते हुए जीव उसे प्राप्त करता है॥ ५॥

शाङ्करभाष्यम्

आदिरिति। आदिः कारणं सर्वस्य, शरीरसंयोगनिमित्तानामविद्यानां हेतुः। उक्तं च-"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति.......एष एवैनमसाधु कर्म कारयति च" (कौ. उ. ३।८) इति। परस्त्रिकालादतीतानागतवर्तमानात्। उक्तं च-"यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ. उ. ४।४।१६) इति। कस्मात्? यस्माद्-

कलोऽसौ, न विद्यन्ते कलाः प्राणादिनामान्ता अस्येत्यकलः। कलावद्धि कालत्रयपरिच्छिन्नमुत्पद्यते विनश्यति च। अयं पुनरकलो निष्प्रपञ्चः। तस्मान्न कालत्रयपरिच्छिन्नः सन्नुत्पद्यते विनश्यति च। तं विश्वानि रूपाण्यस्येति विश्वरूपम्। भवत्यस्मादिति भवः। भूतमवितथस्वरूपम्। ईड्यं देवं स्वचित्त-स्थमुपा 'स्याऽयमहमस्मी 'ति समाधानं कृत्वा पूर्वं वाक्यार्थज्ञानोदयात्॥ ५॥

तात्पर्यदीपिका

ऊपर वर्णित विषय को पुष्ट करने के लिए अग्रिम मन्त्र है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विषयासक्त अज्ञानान्धकार में डूबे हुए जीव किस प्रकार ब्रह्म साक्षात्कार करे? इसका उपाय वेदमाता इस प्रकार निरूपित करती है–

'आदिः' इत्यादि। आदिः सः = सबके आदि में स्थित सबका कारणस्वरूप वह परब्रह्म परमात्मा, **संयोगनिमित्तहेतुः** = जिन अविद्याओं के कारण शरीर का जीवात्मा से सम्बन्ध स्थापित होता है, उन अविद्याओं का भी निमित्त हेतु परब्रह्म परमेश्वर है। जैसा कि कौषीतकी उपनिषद् प्रमाणित करती है–**'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति .... एष एवैनमसाधु कर्म कारयति च'** (कौ. उ. ३। ८) 'यह प्राण और प्रज्ञारूप चेतन परब्रह्म परमेश्वर ही इस देहाभिमानी पुरुष (जीव) से साधु कर्म करवाता है। यह भी उसी से करवाता है, जिसे इन प्रत्यक्ष लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है, तथा वह जिन लोगों की अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है उनसे असाधु कर्म करवाता है।'

'परस्त्रिकालात्'–वह अतीत, (भूत), अनागत (भविष्य) और वर्तमान काल से भी परे है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् का मन्त्र है–**'यस्मादर्वाक् संवत्सरो-ऽहोभिः प्रवर्तते, तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासते।'** (४।१६) 'जिसके नीचे संवत्सरचक्र अहोरात्र आदि अवयवों के सहित भ्रमण करता है, उस आदित्य आदि तेजोमण्डलों के भी तेजःस्वरूप अमृत को देवगण आयुःस्वरूप मानते हुए उसकी उपासना करते हैं।'

अकलः–प्राण से लेकर नाम तक वे सोलह कलाएं उस अक्षरब्रह्म में नहीं हैं, जो 'प्रश्नोपनिषद्' (६।४) में इस प्रकार निरूपित है–उस षोडशकल पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण की रचना की। तदनन्तर श्रद्धा को उत्पन्न किया। पश्चात् क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी ये पंच महाभूत, इन्द्रियसमूह, मन और अन्न की सृष्टि की उसके बाद अन्न से वीर्य, तप, नानाविध मन्त्र, विविध कर्म और लोक प्रकट हुए। लोकों में भी नाम की सृष्टि हुई।

षोडशकल पुरुष भी उस अक्षरब्रह्म से प्रकट हुआ है। जो कलासहित होता है, वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की सीमा में बंधा रहता है, अतः उसकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है। अतः वह प्रपञ्चरहित है। इसलिये तीनों कालों की सीमा में बंधा न रहने के कारण न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट। अक्षरब्रह्म परमात्मा वस्तुतः 'अकल' षोडशकलाओं से शून्य है।

दृष्टः—इस प्रकार जीवात्मा ने उस अक्षरब्रह्म का साक्षात्कार किया है।

'तं विश्वरूपम्' इत्यादि। 'विश्वरूपम्'—विश्व के जितने स्वरूप हैं, सब परमात्मा के ही स्वरूप हैं, अतः वह विश्वरूप है। 'भवभूतम्'—इसी से संसार की उत्पत्ति होती है अतः यह 'भवरूप' है। और 'भूत' सत्यस्वरूप है। 'ईडयम्' = वही अक्षरब्रह्म स्तुतियोग्य है। देवम् = चित्प्रकाशस्वरूप है।

स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्—'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य के अर्थ को समझने के पूर्व ऐसे अक्षरब्रह्मस्वरूप परमेश्वर को अपने अन्तःकरण में स्थान देना चाहिये-'अयमहमस्मि'—'अरे यह मैं ही हूँ, मैं जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा ही हूँ, उससे भिन्न नहीं।' इस प्रकार उस अक्षरब्रह्म की उपासना कर जीवात्मा परमात्मस्वरूप हो जाता है॥ ५॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

अन्वयः—यस्मात् अयं प्रपञ्चः परिवर्तते, सः वृक्षकालाकृतिभिः, परः अन्यः। धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वा आत्मस्थम् अमृतं विश्वधाम (याति।)॥ ६॥

मन्त्रार्थ—जिस से यह सारा संसार (प्रपञ्च) प्रकट होता है वह वृक्ष के आकार और सामान्य काल के आकार से भिन्न और प्रपञ्च (संसार) से अछूता है। जीवात्मा पुण्यार्जन और पापच्छेद करनेवाले ऐश्वर्यादिषड्लक्षण 'भग' के स्वामी परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर अपने ही अन्तःकरण में विराजमान मृत्युधर्मरहित विश्व के आधारभूत परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करता है॥ ६॥

शाङ्करभाष्यम्

पुनरपि तमेव दर्शयति—स वृक्षेति। स वृक्षाकारेभ्यः कालाकारेभ्यः परो वृक्षकालाकृतिभिः परः। वृक्षः संसारवृक्षः। उक्तं च—"ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (क. उ. २। ३। १) इति। अन्यः प्रपञ्चासंस्पृष्ट इत्यर्थः। यस्मादीश्वरात् प्रपञ्चः परिवर्तते। धर्मावहं पापनुदं भगस्यैश्वर्यादेरीशं स्वामिनं ज्ञात्वाऽऽत्मस्थमात्मनि बुद्धौ स्थितममृतममरणधर्माणं विश्वधाम विश्वस्याऽऽधारभूतं याति। स तत्त्वतोऽन्य इति सर्वत्र सम्बध्यते॥ ६॥

तात्पर्यदीपिका

पुनश्च वेदमाता उसी परब्रह्म परमात्मा का निरूपण इस प्रकार कर रही है—

'स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यः सः'—वह परब्रह्म परमात्मा, वृक्षकालाकृतिभिः (वृक्षस्य कालस्य च आकृतिभिः)—यहां वृक्ष शब्द का अर्थ है संसारवृक्ष। जैसा कि कठोपनिषद् का मन्त्र है—

'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते तस्मिंल्लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥' एतद् वैतत्॥ १॥

सामान्य वृक्ष की जड़ें नीचे की ओर रहती है, जब की संसारवृक्ष की जड़ें ऊपर (परब्रह्म) की ओर। सामान्य वृक्ष की शाखाएं ऊपर की ओर रहती हैं, जब कि संसार-वृक्ष की शाखाएं (देव-पितर-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि) क्रमशः नीचे की ओर रहती है। **एषः** = यह दृश्यमान, **सनातनः** = कालातीत सनातन, **अश्वत्थः** = पीपल का वृक्ष है। संसारवृक्ष नश्वर है, क्षणभंगुर है, कलतक नहीं ठहर सकता '**न श्वः तिष्ठति इति अश्वत्थः।**' **परः** = वह परब्रह्म इस संसारवृक्ष और काल की आकृति से भिन्न है। **अन्यः** = प्रपञ्च (संसार) से अछूता है।

विज्ञानभगवान् इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं-''वृक्षशब्देन संसार उच्यते। तत्राऽनुस्यूतं कालतत्त्वं काल उच्यते, तस्मादा समन्तात् कृतिराकृतिर्मह-दादिकार्यरूपेण कृतिः प्रकृतिः स्वाधिष्ठातृसहिता चेदाकृतिर्मूलप्रकृतिरुच्यते।''

इस व्याख्या के अनुसार इस मन्त्र में '**वृक्षकालाकृतिभिः**' शब्द का इतरेतर द्वन्द्व समास मानकर 'वृक्ष' शब्द का अर्थ संसार, 'काल' शब्द का अर्थ उसमें अनुस्यूत कालतत्त्व और 'आकृति' शब्द का अर्थ सांख्यदर्शनसम्मत महत्तत्त्व आदि पदार्थों की जन्मदात्री मूल प्रकृति होगा। अक्षरब्रह्म इन तीनों से भिन्न है।

नारायणतीर्थ के अनुसार 'वृक्ष' शब्द का अर्थ शरीर और 'काल' शब्द का अर्थ 'क्रिया' है। परमात्मा एक जाति से उपलक्षित होने पर भी अपनी संगशून्य प्रकृति के कारण भिन्न है।

शंकरानन्द के अनुसार 'वृक्ष' शब्द का अर्थ है कार्यरूप संसार। 'काल' शब्द का अर्थ है प्राणियों में निरंतर विद्यमान अविद्या। परमात्मा दोनों से भिन्न है।

यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्-जिस अक्षरब्रह्म से दर्पण में प्रतिविम्बित नगरी के समान दृश्यमान प्रपञ्च प्रकट होता है, संसार उस परब्रह्म परमात्मा का 'विवर्त' है (मिथ्या भ्रमात्मक, अस्तित्वशून्य) है।

धर्मावहं पापनुदं भगेशम् इत्यादि-वह परब्रह्म परमात्मा 'धर्मावह' अर्थात् पुण्यार्जन करनेवाला है, 'पापनुद्' अर्थात् पापों को काटने वाला है। साथ ही षड्विध 'भग' का स्वामी है। जैसा कि 'अमरकोष' का वचन है-'**भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्य-यत्नार्ककीर्तिषु।**' उस परब्रह्म परमात्मा का बोध कर जीवात्मा 'आत्मस्थ' अर्थात् मानव-शरीर के भीतर हृदयगुफा में अवस्थित अंगुष्ठमात्र 'अमृत' मरणधर्मरहित, 'विश्वधाम' सम्पूर्ण चराचर जगत् के विश्रामस्थान को प्राप्त करता है। वह जीवात्मा चेतन है और पृथिवी आदि जड़ तत्वों से भिन्न और उनसे अछूता है॥ ६॥

अवतरणम्—इदानीं विद्वदनुभवं दर्शयन्नुक्तमर्थं दृढीकरोति—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

अन्वयः—(वयं) तम् ईश्वराणां महेश्वरं परमं देवतानां परमं च दैवतं पतीनां परमं पतिं परस्तात् भुवनेशम् ईड्यं तं देवं विदाम॥ ७॥

मन्त्रार्थ—हमलोग ईश्वरों के परम महेश्वर देवताओं के परम दैवत पतियों के परम पति (अव्यक्त आदि से भी) परे त्रिभुवन के स्वामी स्तुतियों के योग्य परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं॥ ७॥

शाङ्करभाष्यम्

तमीश्वराणामिति। तमीश्वराणां वैवस्वतयमादीनां परमं महेश्वरं तं देवतानामिन्द्रादीनां परमं च दैवतं पतिं पतीनां प्रजापतीनां परमं परस्तात् परतोऽक्षरात्। विदाम देवं द्योतनात्मकं भुवनानामीशं भुवनेशम्। ईड्यं स्तुत्यम्॥ ७॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में ब्रह्मवेत्ता का अनुभव वर्णित है—'तमीश्वराणाम्' इत्यादि। देवं विदाम—योगी कहते हैं कि हमलोग चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं। वे कैसे हैं? इस प्रश्न का समाधान उनके विशेषणों से होता है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् वे परम महेश्वर हैं। अर्थात् वैवस्वत यम आदि ऐश्वर्य-सम्पन्न जो लोकपाल हैं, उनसे भी अत्यन्त महैश्वर्यसम्पन्न परब्रह्म परमात्मा हैं।

तं देवतानां परमं च दैवतम्—देवराज इन्द्र आदि जो स्वर्गलोक के देवता हैं, उनके भी परम दैवत परब्रह्म परमात्मा हैं।

पतिं पतीनां परमं परस्तात्—दक्ष प्रजापति आदि के भी परम पति परब्रह्म परमेश्वर हैं। वे अव्यक्त आदि से भी परे हैं।

विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्—परब्रह्म परमेश्वर 'देव' चित्प्रकाशस्वरूप लीला-विग्रह है, 'भुवनेशम्'-स्वर्ग-मृत्यु-पाताल इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। 'ईड्यम्'-स्तुत्य है। ब्रह्मज्ञानी अपना अनुभव कहते हैं-'विदाम'-हमलोगों ने उस परमपिता का साक्षात्कार किया है॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ८॥

अन्वयः—तस्य कार्यं करणं च न विद्यते, तत्समः अभ्यधिकश्च न दृश्यते, अस्य (या) परा शक्तिः विविधा एव श्रूयते, (सा) स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (विद्यते) ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—उस परम पिता का न तो शरीर है और न इन्द्रिय। न कोई उसके बराबरी का है और न कोई उससे बढ़चढ़ कर है। उसकी अनेकप्रकार की जो परा शक्ति जो सुनी जाती है, वह उसकी ज्ञानप्रवृत्ति (ज्ञानशक्ति) और बलप्रवृत्ति है ॥ ८ ॥

शाङ्करभाष्यम्

कथं महेश्वरत्वम्? इत्याह—न तस्येति। न तस्य कार्यं शरीरं करणं चक्षुरादि विद्यते। न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते श्रूयते वा। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। सा च स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ज्ञानक्रिया बलक्रिया च। ज्ञानक्रिया सर्वविषयज्ञानप्रवृत्तिः। बलक्रिया स्वसंनिधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम्॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में परब्रह्म परमेश्वर का महेश्वरत्व वर्णित है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते—सामान्य रूप से बिना शरीर के कोई कार्य असम्भव है, अतः एव कार्यसाधक 'शरीर' को यहां 'कार्य' कहा गया है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय और हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रिय बाह्य 'करण' हैं और मन अन्तःकरण। 'अमरकोष' का वचन है—'**करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि**'। 'करण' के अनेक अर्थों में उसका अन्यतम अर्थ इन्द्रिय भी है। परब्रह्म परमात्मा की यह विशेषता है कि यद्यपि उसे न कोई शरीर है और न कोई इन्द्रिय, तथापि वह बिना इनकी सहायता के भी वे समस्त कार्य सम्पादित करता है। क्योंकि जीवात्मा परमेश्वर से अभिन्न है, वह जिन शरीरों में रहता है और जिन इन्द्रियों द्वारा समस्त कार्यसम्पादन करता है, वे सभी शरीर और इन्द्रिय परमात्मा के अपने ही शरीर और इन्द्रिय हैं। जीव के समस्त कार्य परमात्मा के ही कार्य हैं। 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं—'**जगदुत्पत्तौ साधकतमं करणम्**'—परमेश्वर ही संसार की रचना का मुख्य साधन 'करण' है।

न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते—न तो परमेश्वर के समकक्ष अथवा उससे बढ़-चढ़कर कोई देखा जाता है अथवा न कोई सुना जाता है। क्योंकि वह अद्वितीय 'केवल' है।

'**पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते**' इत्यादि—जैसा कि वर्णित है—'**ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**' (१।३) और '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**' (४।१०)। उसी का यहां उत्तरार्द्ध में वर्णन है। द्योतनात्मक 'देव' ही परमात्मा ही है, जिसकी आत्मशक्ति का संकेत '**देवात्मशक्ति**' नाम से किया गया है। **माया अथवा प्रकृति वही है, जिसका संकेत इस मन्त्र में 'परा शक्ति' शब्द**

से किया गया है। 'प्रकृति' और 'स्वभाव' पर्यायवाची हैं। परमेश्वर की परा शक्ति प्रकृति अथवा माया है, जिसके नाना रूप हैं–इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। यहां उसका संकेत 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इस चतुर्थ चरण से किया गया है। शंकराचार्य कहते हैं–परमेश्वर की पराशक्ति के दो रूप हैं–ज्ञानक्रिया और बलक्रिया। ज्ञानक्रिया का अर्थ है सम्पूर्ण विषयों की ज्ञानग्रहण में प्रवृत्ति। बलक्रिया का अर्थ है अपने सान्निध्यमात्र से सबको वश में करते हुए उन पर नियंत्रण रखना।

विज्ञानभगवान् इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं–

'*ज्ञानबलक्रिया*–सर्वज्ञेयविषयसर्वलक्षणाऽनुभूतिर्ज्ञानक्रिया, सा सर्वज्ञेयाऽऽकारसर्वसत्वगुणपरिणामरूपक्रिययाऽभिव्यक्तत्वात् क्रियावदवभासत इति क्रियेत्युच्यते। सेश्वरस्य स्वरूपत्वात् स्वाभाविकी नाऽन्यायत्तेनि यावत्। बलक्रिया नाम स्वसंनिधिमात्रेण प्रकृति-प्राकृतं सर्वं वशीकृत्य नियमयति। सा च सर्वकल्पनाधिष्ठानभूतस्येश्वरस्य स्वाभाविकी। अथवा बलक्रिया-बलं नामाऽनन्तसत्ता, तया सर्वस्य लब्धात्मकत्वात् सैव धातुवाच्यत्वात् क्रियेत्युच्यते।'

अर्थात् जानने योग्य विषयों और उनके लक्षणों का अनुभव ही ज्ञानक्रिया है। उसको ज्ञानक्रिया इसलिये कहा जाता है कि ज्ञानयोग्य सभी विषयों और सत्वगुण के परिणाम की अभिव्यक्ति उसी के द्वारा होती है, जो क्रिया के समान है। परमेश्वर की अनादि-अनन्त सत्ता ही बल है, जो धातु के रूप में समस्त प्राणियों में रहती है, जिसकी सन्निधिमात्र से संसार के जड़-चेतन पदार्थों का वशीकरण और नियमन किया जाता है। परमेश्वर की संकल्पशक्ति (इच्छाशक्ति), ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के नानारूप है, जिन्हें हम परा शक्ति के विविध रूपों में सुनते जानते चले आ रहे हैं॥ ८॥

यस्मादेवं तस्मात्–

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चाऽस्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः॥ ९॥

अन्वयः–लोके तस्य कश्चित् पतिः नास्ति, तस्य च ईशिता नस्ति, न चैव लिङ्गम् अस्ति। सः कारणम्, करणाधिपाधिपः, अस्य न कश्चित् जनिता, न च अधिपः (विद्यते)॥ ९॥

मन्त्रार्थ–इस ब्रह्माण्ड में उस परब्रह्म परमात्मा का कोई स्वामी नहीं है, न कोई उस पर नियंत्रण रखनेवाला है और न कोई अनुमापक चिह्न है। वही सबका कारण है। इन्द्रियों के अधिपतियों का भी वह अधिपति है। न कोई उसका जन्मदाता है और न कोई उसका स्वामी है॥ ९॥

शाङ्करभाष्यम्

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके। अत एव न तस्येशिता नियन्ता। नैव च तस्य लिङ्गं चिह्नं धूमस्थानीयं येनाऽनुमीयेत। स कारणं सर्वस्य कारणम्। करणाधिपाधिपः परमेश्वरः। यस्मादेवं तस्मान्न तस्य कश्चिज्जनिता जनयिता न चाऽधिपः॥ ९॥

तात्पर्यदीपिका

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके—संसार में उस परब्रह्म परमात्मा का कोई स्वामी नहीं है, सभी कोई उसके सेवक हैं। न चेशिता—अत एव उस पर नियन्त्रण रखनेवाला भी कोई नहीं है, वही सबका नियमन करता है। नैव च तस्य लिङ्गम्—जिस प्रकार धूम देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, (धूम उसका अनुमापक चिह्न है, उस प्रकार परमात्मा का कोई अनुमापक चिह्न नहीं है। स कारणम्—परब्रह्म परमेश्वर) ही सबका कारण है, वह सबका उपादानकारण भी है और निमित्तकारण भी। करणाधिपाधिपः—प्रत्येक 'करण' का अधिप (स्वामी) अधिष्ठाता भिन्न भिन्न होता है, उन सबका अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वर है। न चाऽस्य कश्चिज्जनिता न चाऽधिपः—और इसीलिये उसका न तो कोई जन्मदाता है और न कोई अधिपति है॥ ९॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः
स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।
स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम्॥ १०॥

अन्वयः—तन्तुनाभः तन्तुभिः इव यः एकः देवः स्वभावतः प्रधानजैः तन्तुभिः स्वम् आवृणोत्, सः नः ब्रह्माप्ययं दधात्॥ १०॥

मन्त्रार्थ—जिस प्रकार मकड़ी अपने तन्तुओं से फिर से अपने को समेट लेती है, उसी प्रकार जो अद्वितीय परब्रह्म परमेश्वर स्वयं द्वारा प्रकृति की सहायता से उत्पन्न कार्यों से पुनश्च अपने को समेटता है, वह परब्रह्म परमेश्वर मुझे (जीव को) अपने में विलय प्रदान करे॥ १०॥

शाङ्करभाष्यम्

इदानीं मन्त्रदृगभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते—यस्तन्तुनाभ इति। यथोर्णनाभिरात्मप्रभवैस्तन्तुभिरात्मानमेव समावृणोति तथा प्रधानजैरव्यक्तप्रभवैर्नामरूपकर्मभिस्तन्तुस्थानीयैः स्वमात्मानमावृणोत् सञ्छादितवान् स नो मह्यं ब्रह्मण्यप्ययं ब्रह्माप्ययमेकीभावं दधाद् ददात्वित्यर्थः॥ १०॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र द्वारा महर्षि श्वेताश्वतर परब्रह्म परमात्मा से तादात्म्य की प्रार्थना करते हैं—

'यस्तन्तुनाभ इव' इत्यादि–'तन्तवः नाभौ यस्य सः तन्तुनाभः' इस बहुब्रीहि-समास के अनुसार मकड़ी का 'तन्तुनाभ' नाम सार्थक है, क्योंकि उसकी नाभि (केन्द्र-बिन्दु) में तन्तु होते हैं। मकड़ी का स्वभाव यह होता है कि वह अपनी नाभि में स्थित तन्तुओं से अपना जाला बुनती है और फिर वह अपने को उन्हीं तन्तुओं से समेट लेती है। परब्रह्म परमात्मा का भी वही स्वभाव है। वह प्रकृति (प्रधान) की सहायता से अपने ही कार्यों से सारी जगत् की सृष्टि करता है और उससे अपने को ही समेट लेता है। महर्षि कामना करते हैं कि वह परब्रह्म परमेश्वर मुझे स्वयं (ब्रह्म) में विलय प्रदान करें। 'ब्रह्मणि अप्ययम् एकीभावं ब्रह्माप्ययम्। दधाद् = ददातु'॥ १०॥

अवतरणम्–पुनरपि तमेव करतलन्यस्तामलकवत् साक्षाद् दर्शयंस्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नाऽन्येनेति दर्शयति मन्त्रद्वयेन–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

अन्वयः–सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलः निर्गुणश्च एकः देवः सर्वभूतेषु गूढः॥ ११॥

मन्त्रार्थ–सभी चेतन-अचेतन वस्तुओं में व्यापक रूप से विद्यमान समस्त भूतों (प्राणियों) का अन्तरात्मा सभी कर्मों का अधिपति सभी प्राणियों में बसनेवाला साक्षी चैतन्यप्रदाता उपाधिरहित गुणातीत वही एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर है, जो सभी प्राणियों में सुप्तावस्था में विराजमान है॥ ११॥

शाङ्करभाष्यम्

एको देव इति। एकोऽद्वितीयो देवो द्योतनस्वभावः सर्वभूतेषु गूढः सर्वप्राणिषु संवृतः। सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वरूपभूत इत्यर्थः। कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता। सर्वभूताधिवासः सर्वप्राणिषु वसतीत्यर्थः। सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" (पा. सू. ५।२।९१) इति स्मरणात्। चेता चेतयिता। केवलो निरुपाधिकः। निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

वेदमाता अग्रिम दो ऋचाओं द्वारा उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करा रही है, मानों वह हथेली पर रखा हुआ आंवला हो। साथ ही यह भी निरूपित कर रही है कि एकमात्र उसी के साक्षात्कार द्वारा चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति अवश्यंभावी है, उसके लिये कोई अन्य उपाय नहीं है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः—परब्रह्म परमेश्वर ही वह शाश्वत सत्य है, जो सभी प्राणियों में गुप्त रूप से रहता है। द्योतनशीलता के कारण उसका नाम सार्थक है। एकमात्र चित्स्वरूप प्रकाशमय 'देव' वही है।

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा—वही सारे चराचर जड़ चेतन विश्व को ऊपर व्याप्त करनेवाला और सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है। परमात्मा सभी प्राणियों के रूप में विद्यमान रहता है।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः—सब प्राणी जो जो कर्म करते हैं उनका अधिष्ठाता वही है। सभी प्राणियों में उसका निवास है।

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च—'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (अ. ५। २। ६१) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार परमेश्वर 'सर्वसाक्षी' सर्वद्रष्टा है। वह 'चेता' अर्थात् सभी को चैतन्य प्रदान करनेवाला है, साथ ही 'केवल' = शुद्ध किसी भी उपाधि से जुड़ा हुआ नहीं है। 'निर्गुण'= सत्व, रजस् और तमस इन तीन प्रकृति के गुणों से परे और इनसे अछूता है॥ ११॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

अन्वयः—यः एकः निष्क्रियाणां बहूनां वशी एकं बीजं बहुधा करोति, ये धीराः आत्मस्थं तम् अनुपश्यन्ति, तेषां शाश्वतं सुखम्, इतरेषां न॥ १२॥

मन्त्रार्थ—जो अकेले ही निष्क्रिय जीवों का नियमन करता है और एक बीज को अनेकविध करता है, जो धैर्यशाली शरीर में उस अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, उन्हें शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं॥ १२॥

शाङ्करभाष्यम्

एको वशीति। एको वशी स्वतन्त्रो निष्क्रियाणां बहूनां जीवानाम्। सर्वा हि क्रिया नाऽऽत्मनि समवेताः किन्तु देहेन्द्रियेषु। आत्मा तु निष्क्रियो निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः कूटस्थः सन्ननात्मधर्मानात्मन्यध्यस्याऽभिमन्यते 'कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलो मनुष्योऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ते'ति। उक्तं च—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित् तु महाबाहो! गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।"

(गीता ३। २७-२९) इति।

एकं बीजं बीजस्थानीयं भूतसूक्ष्मं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं बुद्धौ स्थितं येऽनुपश्यन्ति साक्षाज्जानन्ति धीरा बुद्धिमन्तस्तेषामात्मविदां सुखं शाश्वतं नेतरेषामनात्मविदाम्॥ १२॥

तात्पर्यदीपिका

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम्—जो अकेला ही अपने से अभिन्न अपने ही अंशस्वरूप नानाविध जीवात्माओं का नियामक है, उन्हें वश में रखनेवाला है।

नानाविध शरीर और इन्द्रिय होते हैं। उस नवद्वार 'ब्रह्मपुर' (शरीर) में 'पुरुष' जीवात्मा का वास होता है। जहां जीवात्मा का वास होता है, वहीं परमात्मा का वास होता है। यतः निरुपाधिक परमात्मा वस्तुतः क्रियाशून्य है, अतः उससे अभिन्न उसका अंशस्वरूप जीवात्मा भी 'निष्क्रिय' क्रियाशून्य है। यतः सभी क्रियाएं परमात्मा से सम्बन्ध नहीं रखती, देह और इन्द्रियों से सम्बन्ध रखती हैं। अतः आत्मा निष्क्रिय है। साथ ही वह 'निर्गुण' भी है, क्योंकि सत्व, रज और तमस् प्रकृति के गुण हैं, आत्मा के नहीं।

वह 'कूटस्थ' भी है। [कूटस्थमचलं ध्रुवम् (गीता १२।३) की व्याख्या में 'कूटस्थ' पद का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं—"**कूटस्थम्-दृश्यमान-गुणमन्तर्दोषं वस्तु कूटम्, 'कूटरूपं कूटसाक्ष्यमि'त्यादौ कूटशब्दः प्रसिद्धो लोके। तथा चाऽविद्याद्यनेकसंसारबीजमन्तर्दोषवन्मायाऽव्याकृतादिशब्दवाच्यतया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतर ४। १०), 'मम माया दुरत्यया' (गीता ७। १४) इत्यादौ प्रसिद्धं यत् तत् कूटम्, तस्मिन् कूटे स्थितं तदध्यक्षतया अथवा राशिरिव स्थितं कूटस्थम्।**"

इसका अर्थ इस प्रकार है–'कूट' वह है जिसके गुण दृष्टिगोचर हों और दोष छिपे हों। 'कूटरूप', 'कूटसाक्ष्य' इत्यादि प्रयोगों में 'कूट' शब्द इसी अर्थ में लोकप्रसिद्ध है। अत एव माया, अव्याकृत इत्यादि नामों से प्रसिद्ध अविद्या आदि 'कूट' है। वही संसार का बीज है। श्रुति कहती है–**'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** (श्वे. उ. ४।१०)। स्मृति कहती है–**'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'** (गी. ७।१४)। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार है–'माया को प्रकृति समझना चाहिये और मायासम्पन्न को महेश्वर'। (श्वे. उ.), 'यह मेरी परब्रह्म परमात्मा की दिव्य सत्वरजतमोगुणसम्पन्न दुरत्यय, अनुल्लंघनीय माया है' (गीता ७।१४)। परमेश्वर उस 'कूट' में अध्यक्ष सर्वसाक्षी-सर्वद्रष्टा के रूप में विराजमान होने के कारण 'कूटस्थ' है। अथवा 'कूटस्थ' का दूसरा अर्थ यह है कि जिस प्रकार राशि निष्क्रिय होती है उसी प्रकार निष्क्रिय होने के कारण परब्रह्म भी 'कूटस्थ' है।]

इस प्रकार निष्क्रिय, निर्गुण और कूटस्थ परमात्मा जो उसके धर्म न होकर शरीर, इन्द्रिय आदि के प्रकृतिजन्य धर्म है उनको स्वयं पर आरोपित करते हुए इस प्रकार अभिमान करता है–'मैं कर्ता हूँ, मैं भोगकर्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, दुर्बल हूँ, मोटा-ताजा हूँ, मनुष्य हूँ, अमुक का बेटा हूँ, अमुक का नाती हूँ' इत्यादि।

'प्रकृतेः क्रियमाणानि' से लेकर 'सज्जन्ते गुणकर्मसु' तक गीतावचन (३।२७-२९) भी इसे प्रमाणित करते हैं, जिनका आशय इस प्रकार है-भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से।
मैं कर्म करता मूढ मानव मानता अभिमान से॥
गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जानता।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण में मानता॥
गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुणमोहित सभी।

(श्रीकृष्णगीता-३।२७-२९)

परमात्मा इन सभी निष्क्रिय जीवों का 'वशी' नियामक है, उन्हें अपने अधीन रखता है, क्योंकि वह 'स्वतन्त्र' है, परतन्त्र नहीं।

एकं बीजं बहुधा यः करोति-वही परब्रह्म परमात्मा एक ही बीज को अनेक स्वरूप प्रदान करता है। आचार्य शंकर इसका अर्थ करते हैं-**'बीजस्थानीयं सूक्ष्मभूतम्'**। इसका तात्पर्य सांख्यदर्शनसम्मत पञ्चतन्मात्राओं से होना चाहिये। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों की यथाक्रम पांच तन्मात्राएं होती हैं-गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा। परब्रह्म परमात्मा बीज स्थानीय सूक्ष्मभूतों को नानारूप देता है। जैसा कि गीता कहती है-**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ! सनातनम्॥'** (७।१०) हे पार्थ! मैं जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-अर्जुन! तुम मुझे सभी प्राणियों के उत्पत्ति का कारण समझो। गीता में इसका शांकरभाष्य इसप्रकार है-**'बीजं प्ररोहकारणम्'**।

'तमात्मस्थम्' इत्यादि-जो धैर्यशाली बुद्धि में विराजमान उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं, जो आत्मतत्व को नहीं जानते, वे उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकते॥ १२॥

किञ्च-और भी

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

अन्वयः-यः नित्यानां नित्यः चेतनानां चेतनः एकः बहूनां कामान् विदधाति, सांख्ययोगाधिगम्यं तत्कारणं देवं ज्ञात्वा सर्वपाशैः मुच्यते॥ १३॥

मन्त्रार्थ-जीवात्मा सभी पाशबन्धनों से मुक्त होता है, जो नित्य वस्तुओं में नित्य, चैतन्यशीलों में चैतन्यशील है और अकेले ही बिना किसी की सहायता के अनेकों के

मनोरथ पूर्ण करता है उस सभी के कारणस्वरूप सांख्ययोगदर्शन द्वारा साक्षात्कारयोग्य चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है॥ १३॥

शाङ्करभाष्यम्

नित्य इति। नित्यो नित्यानां जीवानां मध्ये तन्नित्यत्वेन तेषामपि नित्यत्वमित्यभिप्रायः। अथवा पृथिव्यादीनां मध्ये। तथा चेतनश्चेतनानां प्रमातृणां मध्ये। एको बहूनां जीवानां यो विदधाति प्रयच्छति कामान् कामनिमित्तान् भोगान्। सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

नित्यो नित्यानाम्—चेतन जीव नित्य है और पृथिवी आदि अचेतन जड़ पदार्थ भी नित्य है, उन सबसे अभिन्न तत्स्वरूप उनका अधिष्ठाता परब्रह्म परमात्मा भी नित्य है।

चेतनश्चेतनानाम्—'प्रमाण', 'प्रमेय' और 'प्रमाता' की त्रिपुटी होती है। जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। जो सब तरह से सर्वांगीण रूप से जानने योग्य होता है, उसे 'प्रमेय' कहते हैं। और जो सब तरह से उसे जानता है वह 'प्रमाता' होता है। परब्रह्म-परमात्मा से अभिन्न जीवात्मा ही उसका अंशस्वरूप होता है और अपने अंशी 'प्रमेय' कोटि में स्थित परब्रह्म परमान्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर रहता है अतः वह 'प्रमाता' होता है। 'प्रमाता' जीवात्मा चैतन्यशील होता है। उन सब का अधिष्ठाता 'प्रमेय'स्वरूप परब्रह्म परमात्मा भी चैतन्यशील है।

एको बहूनां यो विदधाति कामान्—उस अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा का ही यह सामर्थ्य है कि जो अकेले बिना किसी की सहायता लिये सभी जीवात्माओं की कामनापूर्ति करता है और उन्हें समस्त सुख-सुविधा उपलब्ध करता है।

'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' इत्यादि—वह परब्रह्म परमात्मा सर्व जगत् का कारण है और सांख्ययोगदर्शन द्वारा उसका साक्षात्कार सम्भव है। वह 'देव', 'ज्योतिर्मय', द्योतनशील, चित्प्रकाशस्वरूप है। जीवात्मा उसका साक्षात्कार कर संसार के जन्म-मरण चक्ररूपी समस्त पाशबन्धनों से मुक्त होता है और वे पाशबन्धन हैं अविद्या आदि। उनसे छुटकारा पाने पर पुनश्च वह संसार में नहीं लौटता और परब्रह्म में विलय प्राप्त करता है॥१३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः?।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

अन्वयः—तत्र सूर्यः न भाति, चन्द्रतारकं न भाति, इमाः विद्युतः न भान्ति, अयम् अग्निः कुतः? तमेव भान्तम् अनु सर्वं भाति, तस्य भासा सर्वम् इदं भाति॥ १४॥

मन्त्रार्थ—वहाँ सूर्य आलोकित नहीं होता, चन्द्र और ताराएं भी नहीं चमकतीं, बिजली भी नहीं चमकती, फिर अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकता है? उस प्रकाशमय परब्रह्म परमात्मा से ही सभी चराचर विश्व प्रकाशित होता है और उसी के तेज से यह दृश्यमान समस्त जगत् प्रकाशित होता है॥ १४॥

शाङ्करभाष्यम्

न तत्रेति। तत्र तस्मिन् परमात्मनि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो न भाति ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वात्मनो रूपजातं प्रकाशयति। न तु तस्य स्वतःप्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति। कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः। किं बहुना यदिदं जगद् भाति तमेव स्वतो भारूपत्वाद् भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा लोहादि वह्निं दहन्तमनुदहति न स्वतः। तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि भाति। उक्तं च—"येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः", "न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।" (गीता १५।६) इति॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

इसके पूर्व मन्त्र में **'चेतनश्चेतनानाम्'** विशेषण के द्वारा परब्रह्म का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। इस मन्त्र में उसका विस्तार से निरूपण है—

न तत्र सूर्यो भाति—दिन में समस्त चराचर विश्व को सूर्य प्रकाशित करता है, किन्तु वह उस परब्रह्म परमात्मा के ऊपर अपना प्रकाश बिखेर नहीं सकता।

न तत्र चन्द्र-तारकम्—रात्रि के अन्धकार में चन्द्र समस्त जगत् को प्रकाशित करता है और तारकाएं चमकती हैं, किन्तु वे भी परब्रह्म परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते।

नेमा विद्युतो भान्ति—मेघाच्छन्न आकाश में जो बिजली चमकती है अथवा आज जो कृत्रिम विद्युत् समस्त विश्व को प्रकाश देती है वह भी परब्रह्म परमात्मा को नहीं प्रकाशित करती।

कुतोऽयमग्निः?—रात्रि में सूर्य का तेज अग्नि में संक्रान्त होता है और दीपक रात्रि के अन्धकार को दूर करते हैं, सूर्य का आलोक दिन में चराचर विश्व को आलोकित करता है। फिर भला अग्नि परब्रह्म परमात्मा को किस प्रकार आलोकित कर सकता है? यह सर्वथा असंभव है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्—प्रत्युत सूर्य, चन्द्र, तारकाएं, विद्युत् अग्नि आदि उसी परब्रह्म परमात्मा की ऊर्जा से ही सभी के स्वरूपों को प्रकाशित करते हैं, उनमें स्वतः जगत् को प्रकाशित करने की क्षमता नहीं है। आचार्य शंकर इसके लिए दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—लोहा आदि धातु जब आग से जलने लगते हैं, तब आग की गरमी (ऊर्जा) से लोहा सब को जलाता है। लोहे में स्वतः दाहकशक्ति नहीं होती।

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति–उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्मय प्रकाश ही सारे विश्व को आलोकित करता है। सूर्य, चन्द्र, तारकाएं अग्नि और सारा ब्रह्माण्डमण्डल साक्षात् या परम्परया उसी के चिन्मय प्रकाश से आलोकित होता है। जैसा कि प्रमाण-वचन है–"**येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः**" अर्थात् जिसके चिन्मय (चैतन्यशील) ऊर्जा से सूर्य भी तपता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

"**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः**" (१५।६)

अर्थात्–"जिसमें न सूर्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है।" (श्रीकृष्णगीता १५।६)

[परब्रह्म परमात्मा की दीप्ति उसकी चितिशक्ति ही है, जिसके विषय में '**प्रत्यभिज्ञाहृदय**' का सूत्र वचन है–'**चितिः स्वतन्त्रता विश्वसिद्धिहेतुः**'। '**सिद्धान्तशिखामणि**' में उसे विमर्शशक्ति के रूप में इस प्रकार चित्रित किया गया है–

"**विमर्शाख्या परा शक्तिर्विश्वोद्भासनकारिणी।**
साक्षिणी सर्वभूतानां समिन्धे सर्वतोमुखे॥" (२०।३०)

परब्रह्म परमेश्वर की परा विमर्शशक्ति समस्त विश्व की प्रकाशिका समस्त तत्वों की साक्षिणी सर्वतोमुखी प्रकाशित होती है। परब्रह्म परमेश्वर में उसकी स्थिति अभिन्न रूप से रहती है–

"**यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी।**
तथा शक्तिर्विमर्शात्मा प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिता॥"

(सि. शि. म. २०।३८)

जिस प्रकार विश्व के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली चन्द्रिका चन्द्र में अभिन्न रूप से स्थित है, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर की विमर्शशक्ति प्रकाशस्वरूप परमेश्वर में अभिन्न रूप विश्ववस्तुप्रकाशिका होकर स्थिर रूप में रहती है]॥ १४॥

एको हँसो भुवनस्याऽस्य मध्ये
स एवाऽग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

अन्वयः–अस्य भुवनस्य मध्ये एकः हंसः, सः एव सलिले संनिविष्टः अग्निः, तम् एव विदित्वा मृत्युम् अत्येति, अयनाय अन्यः पन्थाः न विद्यते॥ १५॥

मन्त्रार्थ–इस भुवन के बीच में एकमात्र वह हंस है, जो जल में प्रविष्ट होने पर भी अग्निस्वरूप है। उसका साक्षात्कार करने पर पुरुष मृत्युञ्जय बनता है, क्योंकि सद्गति के लिए इससे दूसरा कोई रास्ता नहीं है॥ १५॥

शाङ्करभाष्यम्

'ज्ञात्वा देवं मुच्यत' इत्युक्तम्। कस्मात् पुनस्तमेव विदित्वा मुच्यते नाऽन्येनेत्यत्राऽऽह–'एक' इति। एकः परमात्मा हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति हंसो भुवनस्याऽस्य त्रैलोक्यस्य मध्ये नाऽन्यः कश्चित्। कस्मात्? यस्मात् स एवाऽग्निः। अग्निरिवाऽग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात्। उक्तं च– "व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः" इति। सलिले देहात्मना परिणते। उक्तं च–"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा. उ. ५।९।१) इति। संनिविष्टः सम्यगात्मत्वेन निविष्टः। अथवा सलिले सलिल इव स्वच्छे यज्ञदानादिना विमलीकृतेऽन्तःकरणे संनिविष्टो वेदान्तवाक्यार्थसम्यग्ज्ञानफलकारूढो-ऽविद्यातत्कार्यस्य दाहक इत्यर्थः। तस्मात् तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

तात्पर्यदीपिका

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (६।१३) इस प्रकार इसके पूर्व जो प्रतिपादन किया गया है, इस मन्त्र में उसका हेतु प्रदर्शित है–

'एको हंसो भुवनस्य मध्ये' इत्यादि। मन्त्र के पूर्वार्द्ध का सामान्य अर्थ यह प्रतीत होता है कि 'त्रिभुवन के मध्य, जलधारा में अग्निस्वरूप पक्षिराज हंस विराजमान है।' किन्तु इसका विशिष्ट अर्थ परब्रह्म परमात्मा है। परब्रह्म-परमात्मा को 'हंस' इसलिए कहा गया है कि वह अविद्या आदि पाशबन्धन हेतुओं का हनन करता है–'हन्ति अविद्यादिबन्धकारणमिति हंसः।' जिस प्रकार अग्नि सबको जलाता है, उसी प्रकार वह अविद्या आदि का दाहक है–स एवाऽग्निः, उसी लिये वह अग्निस्वरूप है। इसमें श्रुतिवचन प्रमाण है–'व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः'। ईश्वर आकाश से भी परे अग्नि है। 'सलिले संनिविष्टः'–परब्रह्म परमेश्वर देहरूप में परिणत जल में सम्यग् रूप से प्रविष्ट है। जैसा कि 'छान्दोग्य उपनिषद्' इस मन्त्र द्वारा प्रमाणित करता है–'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (५।९।१)। इस प्रकार पांचवी आहुति में जल 'पुरुष' नाम से आत्मभाव से अच्छी तरह अवस्थित है। अथवा 'सलिले सन्निविष्टः' का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह जल के समान स्वच्छ अन्तःकरण में वेदान्तवाक्य के अर्थ के सम्यग् ज्ञान के फल के रूप में स्थित है। अविद्या और उनके कार्यों को दाहक होने के कारण परमेश्वर अग्निस्वरूप भी है।

'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' इत्यादि। उसी परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर जीवात्मा पुरुष मृत्युभय को पार कर जाता है। अतः जीवात्मा को अपनी सद्गति के लिए उससे भिन्न कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जीवनयात्रा का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिये वही एकमात्र सन्मार्ग है। क्योंकि उसका अन्तिम लक्ष्य है 'मोक्ष'॥ १५॥

अवतरणम्–परमपदप्राप्तये पुनरपि तमेव विशेषतो दर्शयति–

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
सँसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥

अन्वयः–सः विश्वकृद् विश्ववित् आत्मयोनिः, ज्ञः कालकारः गुणी सर्वविद्यः प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ–वह परब्रह्म परमेश्वर विश्व का कर्ता, विश्व का वेत्ता और स्वयम्भू (आत्मयोनि) है। वह ज्ञानी काल को प्रेरणा देने वाला गुणवान् और सर्व विद्याओं का निधान है, साथ ही संसार की मुक्ति, स्थिति और बन्धन का कारण है॥ १६ ॥

शाङ्करभाष्यम्

स विश्वकृदिति। स विश्वकृद् विश्वस्य कर्ता। विश्वं वेत्तीति विश्ववित्। आत्मा चाऽसौ योनिश्चेत्यात्मयोनिः। जानातीति ज्ञः। सर्वस्याऽऽत्मा सर्वस्य च योनिः सर्वज्ञश्चैतन्यज्योतिरित्यर्थः। कालकारः कालस्य कर्ता गुण्यपहतपाप्मादिमान् विश्वविदित्यस्य प्रपञ्चः। प्रधानमव्यक्तम्। क्षेत्रज्ञो विज्ञानात्मा। तयोः पतिः पालयिता। गुणानां सत्त्वरजस्तमसामीशः। संसारमोक्षस्थिति-बन्धानां हेतुः कारणम्॥ १६ ॥

तात्पर्यदीपिका

परमात्मसाक्षात्कार का फल है परमपदप्राप्ति। अतः पुनश्च विशेष रूप से उसका निरूपण इस मन्त्र में किया गया है–

सः विश्वकृत्–'विश्वं करोतीति विश्वकृत्', वह विश्व का रचयिता है। विश्ववित्–'विश्वं वेत्तीति विश्ववित्', वह विश्व को जानने वाला भी है। आत्मयोनिः–'आत्मा चाऽसौ योनिश्च', 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' में इसका भाष्य इस प्रकार है–'आत्मैव योनिः उपादानकारणम्, नान्यत्'–परब्रह्म स्वयं ही अपने प्राकट्य का हेतु है, अन्य कोई नहीं है। 'ज्ञः'-वह सर्वज्ञ चिन्मयप्रकाशस्वरूप है। 'कालकारः'–वह काल का भी निर्माता है। 'कालकालः' यह पाठ स्वीकार करने पर काल का भी महाकाल है। 'गुणी'–वह दिव्यगुणों से सम्पन्न हैं। शांकरभाष्य के अनुसार पाप-पुण्य आदि को नष्ट करने का गुण उनमें है। आचार्य शंकर इस विशेषण को 'विश्ववित्' का विस्तार मानते हैं। 'सर्वविद्यः'–सभी विद्याओं का आश्रय स्थान हैं। 'सर्वविद् यः' इस प्रकार पदच्छेद करने पर वे सर्वज्ञ हैं।

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः'–शंकरभगवत्पाद 'प्रधान' का अर्थ अव्यक्त प्रकृति अथवा

माया और 'क्षेत्रज्ञ' का अर्थ विज्ञानात्मा करते हैं। वे 'विष्णुसहस्रनाम' में 'क्षेत्रज्ञ' की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं–'क्षेत्रं शरीरं जानातीति क्षेत्रज्ञः'। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–'क्षेत्रज्ञं च मां विद्धि' (१३।२)–तुम मुझे क्षेत्रज्ञ के रूप में समझो। महाभारत में वेदव्यास इसे स्पष्ट करते हैं–

क्षेत्राणि हि शरीरात्मा बीजं चापि शुभाशुभम्।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥

(महा. शा. प. ३५१।१७)

"शरीर 'क्षेत्र' है, शुभ–अशुभ कर्म बीज हैं, उन सबका ज्ञाता 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है।" वह विज्ञानात्मा चिन्मयप्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ ही हो सकता है। इन दोनों का पालक होने के कारण परब्रह्म परमेश्वर 'प्रधानक्षेत्रज्ञपति' है।

'गुणेशः'–सत्व–रज और तम ये तीन प्रकृति के गुण हैं, जिनका नियामक होने के कारण परमेश्वर 'गुणेश' भी है। 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः'–परात्पर ब्रह्म ही तमोगुणप्रधान शिव के रूप में संसार के मोक्षदाता, सत्वगुणप्रधान विष्णु के रूप में उनके पालक और रजोगुणप्रधान सृष्टिदेवता ब्रह्मदेव के रूप में सांसारिक पाशबन्धन का कारण है॥ १६॥

किञ्च–और भी

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्याऽस्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नाऽन्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥ १७॥

अन्वयः–हि सः तन्मयः अमृतः ईशसंस्थः ज्ञः अस्य भुवनस्य गोप्ता। यः नित्यमेव अस्य जगतः ईशे। अस्य ईशनाय अन्यः हेतुः न विद्यते॥ १७॥

मन्त्रार्थ–क्योंकि परब्रह्म परमेश्वर 'तन्मय' हैं, मरणधर्मरहित हैं, ईश्वर रूप में विराजमान हैं, ज्ञानी हैं, सर्वत्र गतिशील और इस भुवन के रक्षक हैं। वे सदा प्रतिपल इस जगत् पर शासन करते हैं। जगत् पर शासन करने के लिये जगत्कारणस्वरूप परमेश्वर को छोड़कर कोई अन्य समर्थ ही नहीं है॥ १७॥

शाङ्करभाष्यम्

स तन्मय इति। स तन्मयो विश्वात्मा। अथवा तन्मयो ज्योतिर्मय इति 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्येतदपेक्षयोच्यते। अमृतोऽमरणधर्मा। ईशे स्वामिनि सम्यक्स्थितिर्यस्याऽसावीशसंस्थः। जानातीति ज्ञः। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः। भुवनस्याऽस्य गोप्ता पालयिता। य ईश ईष्टेऽस्य जगतो नित्यमेव नियमेन नाऽन्यो हेतुः समर्थो विद्यत ईशनाय जगदीशनाय॥ १७॥

तात्पर्यदीपिका

'स तन्मयः' इत्यादि। परब्रह्म परमेश्वर 'तन्मय', चराचर-जगत्स्वरूप हैं, समस्त विश्व उनका ही शरीर है। अथवा 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (६।४) इस मन्त्र की दृष्टि से परमेश्वर चित्प्रकाशस्वरूप है। 'अमृतः'—अशरीरी होने के कारण मरणधर्मरहित हैं, क्योंकि मृत्यु देह का धर्म है, आत्मा का नहीं। 'ईशसंस्थः'—वह नित्य ईश्वरभाव में विराजमान है। 'ज्ञः'—वह सर्वज्ञाता है। 'सर्वगः'—सर्वत्र गतिशील है। 'भुवनस्याऽस्य गोप्ता'—समग्र चतुर्दश भुवनों का पालनकर्ता है। 'य ईशे जगतो नित्यमेव'—जो सदा नियमपूर्वक जगत् पर शासन करता है। 'नाऽन्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय'—चर-अचर विश्व पर शासन करने के लिये परमात्मा से अन्य कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि परमात्मा एकमात्र जगत्कारण है॥ १७॥

अवतरणम्—यस्मात् स एव संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुस्तस्मात् तमेव मुमुक्षुः सर्वात्मना शरणं प्रपद्येत गच्छेदिति प्रतिपादयितुमाह—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रसादं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

अन्वयः—यः पूर्वं ब्रह्माणं विदधाति, यः च वै तस्मै वेदान् प्रहिणोति, मुमुक्षुः अहम् आत्मबुद्धिप्रसादं तं देवं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

मन्त्रार्थ—जो सर्वप्रथम ब्रह्मदेव की रचना करता है, और जो उसे वेदोपदेश देता है, मोक्ष का इच्छुक मैं (श्वेताश्वतर महर्षि) अपनी बुद्धि को विकसित करने वाले चित्-प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर की शरण में जाता हूँ॥ १८॥

शाङ्करभाष्यम्

यो ब्रह्माणमिति। यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान् पूर्वं सर्गादौ। यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह, हशब्दोऽवधारणे। तमेव परमात्मानम्। उक्तं च—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नाऽनुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥"
(बृ. उ. ४।४।२१)

"तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्" (मु. उ. २।२।५) इति च। देवं ज्योतिर्मयम्। आत्मनि या बुद्धिस्तस्याः प्रसादकरम्। प्रसन्ने हि परमेश्वरे बुद्धिरपि तद्विषया प्रमा निष्प्रपञ्चाकारब्रह्माकारतयाऽवतिष्ठते वर्तते। 'आत्मबुद्धिप्रकाशम्' इत्यन्येऽ-

धीयते। आत्मबुद्धिं प्रकाशयतीत्यात्मबुद्धिप्रकाशम्। अथवाऽऽत्मैव बुद्धिरात्मबुद्धिः सैव प्रकाशोऽस्येत्यात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै, वैशब्दोऽवधारणे, मुमुक्षुरेव सन्न फलान्तरमिच्छञ्शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में वेदमाता यह उपदेश दे रही हैं कि उस परब्रह्म परमात्मा की शरण में क्यों जाना चाहिए–

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'–परब्रह्म परमात्मा स्वयं निर्गुण निराकार अजन्मा है, उसने प्रकृति की सहायता से सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ब्रह्मदेव की रचना की है।

आचार्य शंकर 'विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' में 'हिरण्यगर्भ' शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं–'हिरण्यगर्भसम्भूतिकारणं हिरण्मयम् अण्डं यद्वीर्यसम्भूतम् तदस्य गर्भः इति हिरण्यगर्भः।' हिरण्यगर्भ ब्रह्मदेव की उत्पत्ति का कारण हिरण्मय (सुवर्णमय) अण्ड जिसके वीर्य से उत्पन्न हुआ, वह परमेश्वर का गर्भ (उत्पत्तिस्थान) है अतः परमेश्वर भी 'हिरण्यगर्भ' हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में निष्कर्ष यह है कि परमेश्वर ने सर्वप्रथम हिरण्मय (सुवर्णमय) अण्डे की रचना की, जिसके गर्भ से ब्रह्मदेव प्रकट हुए। अन्यत्र वे लिखते हैं–''हिरण्मयाण्डान्तर्वर्तित्वाम् हिरण्यगर्भः ब्रह्मा विरिञ्चिः तदात्मा। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताऽग्रे'' (ऋ. सं. १०।१२१।१)। जिस ब्रह्माण्ड से ब्रह्मदेव प्रकट हुए वह हिरण्यमय (सुवर्णमय) था। उसके गर्भ में, उसके अन्दर रहने के कारण ब्रह्मदेव का नाम हिरण्यगर्भ पड़ा। सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ प्रकट हुए।

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै–जिसने सर्वप्रथम ब्रह्मदेव को वेदोपदेश किया। 'तं ह देवम्' इत्यादि। इस मन्त्र में 'ह' अव्यय का प्रयोग निश्चयार्थ में है, जिसका पर्यायवाची 'एव' है। श्वेताश्वतर महर्षि कहते हैं कि मैं उसी परमात्मा की शरण में जाता हूँ, दूसरे की नहीं। जैसा कि 'तमेव धीरो विज्ञाय' इत्यादि बृहदारण्यक उपनिषद् का मन्त्र (४।४।२१) है। अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि धैर्यशाली बनकर उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर वह उसी में अपनी बुद्धि को लगाए। बहुत से शास्त्रों का अध्ययन न करे। क्योंकि यह प्रयास निरर्थक वाणी को कष्ट पहुँचाना ही है।' मुण्डकोपनिषद् कहती है–'तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्'–उसी अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करो, अन्य का नहीं। (२।२।५)। द्योतनशील चित्प्रकाशस्वरूप होने के कारण वह 'देव' है।

'आत्मबुद्धिप्रसादम्'–वह अपनी बुद्धि को विकसित करने वाले हैं। आचार्य शंकर इस पाठभेद को स्वीकार करते हुए यह व्याख्या करते हैं कि परब्रह्म परमेश्वर अपने में जो बुद्धि अवस्थित है, उसका विकास करनेवाले है, क्योंकि परमेश्वर के प्रसन्न होने पर परमेश्वर को अपना विषय बनाने वाली बुद्धि भी प्रपञ्चरहित ब्रह्म के आकार में बदल जाती है। 'आत्मबुद्धिप्रकाशम्' यह पाठ स्वीकार करने पर उसका अर्थ यह

होगा कि जो अपनी बुद्धि को प्रकाशित करते हैं, अथवा आत्मरूप बुद्धि के प्रकाश की शरण में मोक्ष के लिए इच्छुक ही जीव जाता है, कोई अन्य नहीं। इस प्रकार 'वै' यहां निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस जीव को मोक्ष से भिन्न किसी अन्य फल की कामना नहीं रहती॥ १८॥

अवतरणम्–एवं तावत्सृष्ट्यादिना यल्लक्ष्यं स्वरूपं दर्शितम्, अथेदानीं तत्स्वरूपेण दर्शयति–

निष्कलं निष्क्रियँ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परँ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

अन्वयः–(अहं) निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनम् अनलमिव (स्थितं तं देवं शरणं प्रपद्ये।)॥ १९॥

मन्त्रार्थ–मैं उस परब्रह्म परमात्मा की शरण में जाता हूँ, जिसकी कला (भाग) नहीं हो सकती, जो कोई क्रियाकलाप नहीं करता, जो शान्त है, जो निर्दुष्ट और निर्लिप्त है। जो अमरपद का सोपान है और उस धूमरहित अग्नि के समान है, जिसका इंधन प्रदीप्त हो गया है॥ १९॥

शाङ्करभाष्यम्

निष्कलमिति। कला अवयवा निर्गता यस्मात् तं निष्कलं निरवयवमित्यर्थः। निष्क्रियं स्वमहिमप्रतिष्ठितं कूटस्थमित्यर्थः। शान्तमुपसंहृतसर्वविकारम्। निरवद्यमगर्हणीयम्। निरञ्जनं निर्लेपम्। अमृतस्याऽमृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेरुत्तारणोपायत्वात् तम् अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनानलमिव देदीप्यमानं झटझटायमानम्॥ १९॥

तात्पर्यदीपिका

पूर्व मन्त्र में सृष्टि द्वारा जिसका अनुमान किया जाता है, उस निराकार परब्रह्म-परमात्मा का वर्णन अग्रिम मन्त्रों में है–

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि। 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इस पूर्व मन्त्र- भाग को लेकर इस मन्त्र की संगति लगेगी। मोक्ष के लिये इच्छुक जीव को चाहिये कि वह उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा की शरण में जाएं, जिस प्रकार श्वेताश्वतर महर्षि शरण में गए। उस परमात्मा के निराकार स्वरूप का वर्णन इस मन्त्र में है।

'निष्कलम्'–(निर्गताः कलाः यस्मात् तत् निष्कलम्)–'स प्राणमसृजत, प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्जोतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च' (प्र. उ. ६।४) मन्त्र में षोडशकल परमात्मा की षोडश कलाओं का सृष्टिक्रम से प्रतिपादन है। 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा' (मुण्डक उ. ३।२।७) मन्त्र में उपसंहारक्रम से नाम, लोक, कर्म, मन्त्र, तप, वीर्य, अन्न, मन, इन्द्रिय, पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, आकाश, श्रद्धा और प्राण इन कलाओं में उत्तरोत्तर कला का पूर्व पूर्वकला में यथाक्रम विलय वर्णित है। जब उन कलाओं का अक्षरब्रह्म में विलय होता है, वह 'निष्कल' रहता है।

'निष्क्रियम्'—सत्व, रज और तम प्रकृति के तीन गुण हैं, जिनकी सहायता से षोडशकल पुरुष सक्रिय रहता है, माया की उपाधि से रहित परमात्मा क्रियाशून्य होता है। वह 'कूटस्थ' है अर्थात् वह प्रकृति को अपने भीतर छिपा लेता है, उसे प्रकट नहीं करता। अथवा 'कूट' (राशि) के समान निष्क्रिय रहता है।

'शान्तम्'—जब समस्त विकृतियों का उपसंहार होता है और तब वह प्रकृतिस्थ हो जाता है।

'निरवद्यम्'—यतः उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं रहता, अतः वह किसी भी निन्दा के योग्य नहीं होता।

'निरञ्जनम्'—किसी प्रकार का धब्बा उसमें नहीं है। वह निर्लेप है।

'अमृतस्य परं सेतुम्'—वह 'अमृत' प्राप्ति का परम सोपान है, उसे प्राप्त कर जीव जन्ममरणचक्र में नहीं पड़ता।

दग्धेन्धनमिवाऽनलम्—जिस प्रकार पूर्ण लकड़ियां जल जाने पर आग धूमरहित हो जाती है और प्रदीप्त रहती है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी देदीप्यमान है। मोक्ष का इच्छुक जीव अन्य फल की कामना नहीं करता, वह उसी चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा की शरण में जाता है, अन्य किसी की शरण में नहीं॥ १९॥

अवतरणम्—किमिति तमेव विदित्वा मुच्यते नाऽन्येन? इति तत्राऽऽह—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्याऽन्तो भविष्यति॥ २०॥

अन्वयः—यदा मानवाः चर्मवत् आकाशं वेष्टयिष्यन्ति, तदा देवम् अविज्ञाय दुःखस्य अन्तः भविष्यति॥ २०॥

मन्त्रार्थ—जिस समय मनुष्य आकाश को चमड़े के समान वेष्टित करेंगे, उसी समय परमात्मा का साक्षात्कार न करने पर भी दुःख का अन्त होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्यापक अनन्त अमूर्त आकाश को चमड़े के समान लपेटना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा के साक्षात्कार के बिना दुःख की समाप्ति असंभव है॥ २०॥

शाङ्करभाष्यम्

यदेति। यदा यद्वच्चर्म सङ्कोचयिष्यति तद्वदाकाशममूर्तं व्यापिनं यदि वेष्टयिष्यन्ति संवेष्टयिष्यन्ति मानवास्तदा देवं ज्योतिर्मयमनुदितानस्तमित-ज्ञानात्मनाऽवस्थितमशनायाद्यसंस्पृष्टं परमात्मानमविज्ञाय दुःखस्याऽऽ-

ध्यात्मिकस्याऽऽधिभौतिकस्याऽऽधिदैविकस्याऽन्तो विनाशो भविष्यति, आत्माज्ञाननिमित्तत्वात् संसारस्य।

यावत् परमात्मानमात्मत्वेन न जानाति तावत् तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः कृष्यमाणः प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वज एव जीवभावमापन्नो मोमुह्यमानः संसरति। यदा पुनरपूर्वमनपरं 'नेति नेती'त्यादिलक्षणमशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थितं पूर्णानन्दं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यः पूर्णानन्दो भवतीत्यर्थः। उक्तं च–

"अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः॥
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥"

(गीता. ५।१५-१७) इति॥ २०॥

तात्पर्यदीपिका

दुःखमुक्तिका उपाय परमात्मसाक्षात्कार ही है अन्य नहीं। इसी सिद्धान्त को इस मन्त्र द्वारा निरूपित किया गया है–

'यदा चर्मवदाकाशम्' इत्यादि। यहाँ 'चर्मवत्' का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोई चमड़े को लपेटता है उसी प्रकार अमूर्त अत एव अदृश्य अनादि अनन्त कण-कण व्यापी आकाश को यदि मनुष्य अच्छी तरह लपेट ले, जो द्योतनशील और चित्प्रकाश स्वरूप देव है। उसी प्रकार उस उदय-अस्तरहित ज्ञानरूप में अवस्थित भूख-प्यास से अछूते परमात्मा को बिना जाने आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुःख का अन्त होगा। अर्थात् जिस प्रकार चमड़े से आकाश को नहीं लपेटा जा सकता, उसीप्रकार अनादि-अनन्त सर्वत्र व्याप्त परमात्मा का स्वरूप निर्धारण भी असंभव है और उसके बिना त्रिविध दुःख का नाश सम्भव नहीं है। क्योंकि संसरणशील संसार की सत्ता आत्मा को न जानने के कारण ही होती है। जब तक जीव परमात्मा का साक्षात्कार स्वस्वरूप से नहीं करता। तब तक वह जीवात्मा त्रिविध तापों से सन्तप्त रहता है। राग आदि भावों द्वारा उसी प्रकार इधर-उधर आकृष्ट किया जाता है, जिस प्रकार मगर आदि जीव को समुद्र में इधर-उधर खींचते हैं। फलतः अजन्मा परमेश्वर ही भूत-प्रेत, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में जीवभाव को प्राप्त होता है और बार बार मोह में पड़कर संसार में संसरण (भ्रमण) करता है। वह जीवात्मा उस परमात्मा का साक्षात्कार स्वस्वरूप में करता है, जो कार्यकारणभावशून्य और 'नेति' 'नेति' इत्यादि वाक्यों द्वारा लक्षित होता

है जो भूख-प्यास इत्यादि से अछूता रहता है जो उदय-अस्त से रहित होता है और जो चिन्मय तथा अखण्ड आनन्दाकार होता है। इस प्रकार जब वह जीवात्मा परमात्मा का स्वस्वरूप में साक्षात्कार करता है, तब उसके अज्ञान और अज्ञानजन्य कार्यों की निवृत्ति होती है और वह अखण्ड आनन्दस्वरूप होता है। जैसा कि 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं' से लेकर 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' तक (गीता ५।१५-१७) प्रमाणित करती है। इसका पद्यानुवाद इस प्रकार है-

'है ज्ञानमाया से ढका यों जीव मोहित आप ही॥
पर दूर होता ज्ञान से जिनका हृदय-अज्ञान है।
करता प्रकाशित 'तत्त्व' उनका ज्ञान सूर्य समान है॥
तन्निष्ठ तत्पर जो उसी में बुद्धि मन धरते वहीं।
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं॥'

(श्रीकृष्ण गीता ५।१५-१७)॥ २०॥

अवतरणम्-सम्प्रदायपरम्परया ब्रह्मविद्याया मोक्षप्रदत्वं प्रदर्शयितुं सम्प्रदायं विद्याधिकारिणं च दर्शयति-

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यंगृषिसंघजुष्टम्॥ २१॥

अन्वयः-अथ ह विद्वान् श्वेताश्वतरः तपःप्रभावात् देवप्रसादात् च सम्यक् ऋषि-संघजुष्टं परमं पवित्रं ब्रह्म अत्याश्रमिभ्यः सम्यक् प्रोवाच॥ २१॥

मन्त्रार्थ- इसके पश्चात् तत्त्वज्ञानी श्वेताश्वतर महर्षि ने परमहंसस्वरूप संन्यासियों को उस ब्रह्मतत्त्व का सम्यक् उपदेश दिया, जिसे उन्होंने अपनी तपस्या के प्रभाव से और ईश्वर की कृपा से जाना था और जो महर्षिवृन्द द्वारा अच्छी तरह से सेवित और परम पवित्र था॥ २१॥

शाङ्करभाष्यम्

तपःप्रभावादिति। तपसः कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणस्य, तत्र तपः-शब्दस्य रूढत्वात्। नित्यादीनां विधिवदनुष्ठितानां कर्मणामुपलक्षणमिदम्। ''मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'' इति स्मरणात्। तस्य च सर्वस्य तपसस्तस्मिञ्श्वेताश्वतरे नियमेन सत्त्वात्तत्प्रभावात्तत्सामर्थ्याद्देवप्रसादाच्च कैवल्यमुद्दिश्य तदधिकारसिद्धये बहुजन्मसु सम्यगाराधितपरमेश्वरस्य प्रसादाच्च ब्रह्मापरिच्छिन्नमहत्त्वम्। ह इति प्रसिद्धिद्योतनार्थः। श्वेताश्वतरो नाम

ऋषिर्विद्वान् यथोक्तं ब्रह्म परम्पराप्राप्तं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा मनननिदिध्यासना-दरनैरन्तर्यसत्कारादिभि'र्ब्रह्माऽहमस्मी'त्यपरोक्षीकृताखण्डसाक्षात्कारवान्।

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में श्वेताश्वतर महर्षि द्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्यासंप्रदाय एवं उसके अधिकारी का निरूपण है–

'तपःप्रभावात्' इत्यादि–अथ ह = और उसके पश्चात्, श्वेताश्वतरः = महर्षि श्वेताश्वतर ने, तपःप्रभावात्–प्रस्तुत सन्दर्भ में 'तपस्' शब्द कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत एवं विधिपूर्वक अनुष्ठित कर्मों का बोधक है। इसमें 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' यह स्मृतिवचन प्रमाण है। इसका आशय यह है कि 'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तपश्चरण है।' उस कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत आदि तपश्चरण एवं मन इन्द्रियों की एकाग्रता रूप नैत्यिक तपस्या के प्रभाव से, देवप्रसादाच्च = कैवल्यपदप्राप्ति के लिये उसका अधिकार प्राप्त करने के लिए जो आराधना की गयी थी, उसके फलस्वरूप परमेश्वर प्रसन्न हुए थे, उस परमेश्वर के कृपाप्रसाद से, ब्रह्म = जिसकी महिमा परिधि से परे है, उस परम्परागत ब्रह्मतत्त्व का, विद्वान् = गुरुमुख से श्रवण कर उसका मनन-चिन्तन-निदिध्यासन, निरन्तर अभ्यास सत्कार आदि के द्वारा साक्षात्कार किया और यह अनुभव किया कि 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ।

शाङ्करभाष्यम्

अथ स्वानुभवदार्ढ्यानन्तरमत्याश्रमिभ्यः। "अतिः पूजायाम्" इति स्मरणादत्यन्तं पूज्यतमाश्रमिभ्यः सावनचतुष्टयसम्पत्तिमहिम्ना स्वेषु देहादिष्वपि जीवभोगादिष्वनास्थावद्भ्यः। अत एव वैराग्यपुष्कलवद्भ्यः। तदुक्तम्–

"वैराग्यं पुष्कलं न स्यानिष्फलं ब्रह्मदर्शनम्।
तस्माद् रक्षेत विरतिं बुधो यत्नेन सर्वदा॥" इति।

स्मृत्यन्तरे च–

"यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु।
तदैव संन्यसेद् विद्वानन्यथा पतितो भवेत्॥" इति।

परमहंससंन्यासिनस्त एवाऽत्याश्रमिणः। तथा च श्रूयते–"न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवाऽत्यरेचयत्" (म. ना. ७८) इति।

"चतुर्विधा भिक्षवश्च बहूदककुटीचकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः॥"

इति स्मरणाच्च।

तात्पर्यदीपिका

'अत्याश्रमिभ्यः' इत्यादि। ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर उन्होंने उस ब्रह्मतत्त्व का उपदेश 'अत्याश्रमियों' को सम्यक् रीति से दिया। 'अत्याश्रमी' वह है जो ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में अत्यन्त पूज्य आश्रम का अनुसरण करता है और वह आश्रम है चतुर्थ संन्यासाश्रम। क्योंकि 'अति' शब्द पूजार्थक है। वह आश्रम अत्यन्त पूज्य है, क्योंकि इस आश्रम के अनुयायी साधनचतुष्टय की महिमा से शरीर, इन्द्रिय और उनके द्वारा साध्य जीवनोपभोग में कोई आस्था नहीं रखते। इसलिए उनमें वैराग्य का भाव प्रचुर होता है। इसमें अनेक वचन प्रमाम है–

'वैराग्यं पुष्कलं न स्यात्' इत्यादि प्रमाणंवचन के अनुसार 'यदि' किसी को पूर्ण वैराग्य प्राप्त न हो, तो उसका ब्रह्म-साक्षात्कार व्यर्थ होता है।

'यदा मनसि वैराग्यम्' इत्यादि स्मृतिवचन का तात्पर्य यह है कि 'जब मन में सभी वस्तुओं के प्रति पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो, तभी जीव संन्यास ग्रहण करे। अन्यथा उसका पतन अवश्यम्भावी है।'

इस प्रकार जो परमहंस संन्यासी होते हैं, वे 'अत्याश्रमी' कहलाते हैं। ब्रह्मज्ञानी श्वेताश्वतर ने ऐसे अत्याश्रमियों को ब्रह्मोपदेश किया। इसमें 'न्यास इति ब्रह्मा' (७८) इत्यादि महानारायण उपनिषद् का वचन प्रमाण है, जिसका आशय इस प्रकार है–'न्यास (संन्यास) ही ब्रह्मा है। ब्रह्मा ही परब्रह्म और परब्रह्म ही ब्रह्मा है। अन्य सभी तप 'अवर' हैं, वे 'वर' श्रेष्ठ नहीं है। न्यास (संन्यास) ही सभी तपों में उत्कृष्ट है।'

'चतुर्विधा भिक्षवश्च' इत्यादि प्रमाणवचनानुसार चार प्रकार के भिक्षु (संन्यासी) होते हैं–'बहूदक', 'कुटीचक', 'हंस' और 'परमहंस'। इनमें पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर भिक्षु (संन्यासी) उत्तम होता है।

महर्षि का 'श्वेताश्वतर' नाम सार्थक था। टीकाकार शंकरानन्द इसका नामनिर्वचन इस प्रकार करते हैं–'**श्वेता अवदाता सदाऽन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिता अश्वा इन्द्रियाणि यस्य सः श्वेताश्वः, अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः। अष्टाङ्गयोगनिरत इत्यर्थः।**'

जिसके 'अश्व' अर्थात् इन्द्रिय अत्यन्त श्वेत, शुभ्र अर्थात् सदा अन्तर्मुख होने के कारण विपरीत प्रवृत्तियों से अछूते होते हैं, वे 'श्वेताश्व' कहलाते हैं। यतः महर्षि की इन्द्रियां अत्यन्त अन्तर्मुख और विपरीतप्रवृत्तिरहित थी, अतः महर्षि का 'श्वेताश्वतर' नाम अत्यंत सार्थक था। वे यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा और समाधि इस अष्टाङ्गयोग में सदा सर्वदा निरत रहते थे।

शाङ्करभाष्यम्

तेभ्योऽत्याश्रमिभ्यः परमं प्रकृतं ब्रह्म तदेव परममुत्कृष्टतमं निरस्तसमस्ताविद्यातत्कार्यनिरतिशयसुखैकरसं पवित्रं शुद्धं प्रकृति-

प्राकृतादिमलविनिर्मुक्तम्। ऋषिसंघजुष्टं वामदेवसनकादीनां संघैः समूहैर्जुष्टं सेवितमात्मत्वेन सम्यक्परिभावितं प्रियतमानन्दत्त्वेनाऽऽश्रितम्। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह. उ. ४।५।६) इति श्रुतेः। सम्यगात्मतयाऽपरोक्षीकृतं यथा भवति तथा। सम्यगित्यस्य काकाक्षिन्यायेनोभयत्राऽनुषङ्गः कर्तव्यः। प्रोवाचोक्तवान्॥ २१॥

तात्पर्यदीपिका

महर्षि श्वेताश्वतर ने परमहंस संन्यासियों को जिस ब्रह्मतत्त्व का 'सम्यक्' उपदेश दिया, वह ब्रह्मतत्त्व 'परम' सर्वोत्कृष्ट था। क्योंकि अविद्या और उसके कार्य दुःखादि दूर होने के कारण वहां मात्र अखण्डानन्दरस की अनुभूति होती थी। वह 'पवित्र' शुद्ध भी था। क्योंकि प्रकृति और प्राकृतिक मल उससे असंपृक्त थे। और वह ब्रह्मतत्त्व 'सम्यक् ऋषिसंघजुष्ट' भी था। वामदेव, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि महर्षियों के समूहों ने स्वस्वरूप में उस ब्रह्मतत्त्व का 'सम्यक्' सर्वांगीण रूप से साक्षात्कार किया था। वे उस अखण्ड आनन्द रस का यथेच्छ आस्वाद ले रहे थे। जैसा कि 'बृहदारण्यक उपनिषद्' का मन्त्र है–'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' आत्मा को संतुष्ट करने के लिए सब प्रिय होता है (४।५।६)।

आचार्य शंकर 'काकाक्षिन्याय' से 'सम्यक्' का उभयत्र अन्वय करते हैं। 'काकाक्षिन्याय' का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कौवा एक आंख से दोनों ओर देखता है, उसी प्रकार 'सम्यक्' का अन्वय 'संघजुष्टम्' और 'प्रोवाच' दोनों के साथ करना चाहिये, महर्षि श्वेताश्वतर ने इस ब्रह्मतत्त्व का परमहंस संन्यासियों को सम्यक् उपदेश दिया॥ २१॥

अवतरणम्–यथोक्तशिष्यपरीक्षणपूर्वकं विद्या वक्तव्या, तद् विहाय तदुक्तौ दोषं विद्याया वैदिकत्वं गुप्तत्वं सम्प्रदायपरम्परया प्रतिपादितत्वं चाऽऽह–

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः॥ २२॥

अन्वयः–वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् अशान्ताय न दातव्यम्, पुनः अपुत्राय अशिष्याय वा न (दातव्यम्)॥ २२॥

मन्त्रार्थ–वेदान्त में अत्यन्त गुह्य पूर्वकल्प में प्रवर्तित ब्रह्मतत्त्व का उपदेश उसे नहीं करना चाहिए जो अशान्त, कुपुत्र अथवा कुशिष्य हो॥ २२॥

शाङ्करभाष्यम्

वेदान्त इति। वेदान्त इति जात्येकवचनम्। सकलासूपनिषत्स्विति

यावत्। परमं परमपुरुषार्थस्वरूपं गुह्यं गोप्यानामपि गोप्यतमं पुराकल्पे प्रचोदितं पूर्वकल्पे चोदितमुपदिष्टमिति सम्प्रदायप्रदर्शनं कृतमित्येतत्। प्रशान्ताय पुत्राय प्रकर्षेण शान्तं सकलरागादिमलरहितं चित्तं यस्य तस्मै पुत्राय तादृशशिष्याय वा दातव्यं वक्तव्यमिति यावत्। तद्विपरीतायाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा स्नेहादिना ब्रह्मविद्या न वक्तव्या। अन्यथा प्रत्यवायापत्तिरिति पुनः शब्दार्थः।

अत एव ब्रह्मविद्याविवक्षुणा गुरुणा चिरकालं परीक्ष्य शिष्यगुणाञ्ज्ञात्वा ब्रह्मविद्या वक्तव्येति भावः। तथा च श्रुतिः–"भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ" (प्र. उ. १।२) इति। श्रुत्यन्तरे च–"एकशतं ह वै वर्षाणि प्रजापतौ मघवान् ब्रह्मचर्यमुवास" (छा. उ. ८।११।३) इति च। एतच्च बहुधा प्रपञ्चितमुपदेशसाहस्त्रिकायामित्यत्र सङ्कोचः कृतः॥ २२॥

तात्पर्यदीपिका

इस मन्त्र में ब्रह्मविद्या के अनधिकारी की चर्चा की गई है–

'वेदान्ते' इत्यादि। यहां 'वेदान्त' का तात्पर्य है वेदों का अन्तिम भाग समस्त उपनिषत्साहित्य। अत एव यहां जातिवाचक एकवचन का प्रयोग किया गया है। उस उपनिषत्साहित्य में उस ब्रह्मतत्त्व का अत्यन्त गुप्त रीति से निरूपण है, जिसका उपदेश पूर्वकल्प में ऋषियों ने दिया था। वह ब्रह्मतत्त्व चरम पुरुषार्थ मोक्षस्वरूप है, और गोपनीयों में भी अत्यन्त गोपनीय है। उसके अधिकारी सभी नहीं हो सकते। उसका उपदेश उसे ही करना चाहिये, जिसका चित्त अत्यन्त शान्त हो, सम्पूर्ण राग आदि मल उसमें न हों। वह सुपुत्र भी हो सकता है और सुशिष्य भी। किन्तु उसके विपरीत जो कुपुत्र अथवा कुशिष्य हो उसे स्नेह में पड़कर उस ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं करना चाहिये। 'पुनः' का प्रयोग यहां इसलिये किया गया है कि ऐसा करने पर दोष लगता है। वस्तुतः जो पुत्र या शिष्य श्रद्धावान् हो उसे ही उसका उपदेश करना चाहिये, नास्तिक पुत्र या शिष्य को नहीं। ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिए इच्छुक (उत्सुक) गुरु को चिरकाल तक शिष्य का परीक्षण करना चाहिये, उसके गुणों को पहिचानना चाहिये। जैसा कि प्रश्नोपनिषद् का वचन है–'भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ' (१।२)। [जब भरद्वाजपुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्री सौर्यायणी, कोसलदेशवासी आश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव कत्य ऋषि का प्रपौत्र कबन्धी परब्रह्म-परमात्मतत्त्व की जिज्ञासा से महर्षि पिप्पलाद के पास पहुंचे, तब उन ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद ने कहा–] 'ऋषियों! आप लोग यद्यपि तपस्वी और विद्वान् हैं, तथापि पुनश्च एक वर्ष तक आप मेरे आश्रम में श्रद्धापूर्वक और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रहें। इसके बाद यथेच्छ प्रश्न पूछें। उन सबका समाधान होगा।'

छान्दोग्य उपनिषद् में भी इस प्रकार का इतिहास है–'एकशतं ह वै वर्षाणि प्रजापतौ मधवान् ब्रह्मचर्यमुवास' (८।११।३)। इन्द्र ने जब एक सौ वर्ष तक प्रजापति-निवास में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया, तब वे ब्रह्मोपदेश के अधिकारी हुए।

इस प्रसंग का आचार्य शंकर ने उपदेशसाहस्री में विस्तृत निरूपण किया है। यहाँ उसका संकोच (संक्षेप) किया गया है॥ २२॥

अवतरणम्–अत्राऽपि देवतागुरुभक्तिमतामेव गुरुणा प्रकाशिता विद्याऽनुभवाय भवतीति प्रदर्शयति–

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः॥ २३॥

॥ इति श्रीश्वेताश्वतरोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥
॥ सम्पूर्णेयं श्वेताश्वतरोपनिषद्॥

अन्वयः–यस्य देवे परा भक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ (यस्य परा भक्तिः), हि तस्य महात्मनः एते अर्थाः प्रकाशन्ते॥ २३॥

मन्त्रार्थ–जिस की परमेश्वर के प्रति अत्यन्त भक्ति होती है। और जिस प्रकार परमेश्वर के प्रति जिसकी परा भक्ति होती है, उसी प्रकार गुरु के प्रति जिसकी परा भक्ति होती है, उस महात्मा के प्रति उपदिष्ट ये तत्त्व प्रकाशित हो रहे हैं॥ २३॥

शाङ्करभाष्यम्

यस्येति। यस्य पुरुषस्याऽधिकारिणो देवे इयता प्रबन्धेन दर्शिताखण्डैकरसे सच्चिदानन्दपरज्योतिःस्वरूपिणि परमेश्वरे परोत्कृष्टा निरुपचरिता भक्तिः। एतदुपलक्षणम्। अचाञ्चल्यं श्रद्धा चोभे यथा तथा ब्रह्मविद्योपदेष्टरि गुरावपि तदुभयं यस्य वर्तते तस्य तप्तशिरसो जलराश्यन्वेषणं विहाय यथा साधनान्तरं नास्ति यथा च बुभुक्षितस्य भोजनादन्यत्र साधनान्तरं न, एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या दुर्लक्षेति त्वरान्वितस्य मुख्याधिकारिणो महात्मन उत्तमस्यैते कथिता अस्यां श्वेताश्वतरोपनिषदि श्वेताश्वतरेण महात्मना कविनोपदिष्टा अर्थाः प्रकाशन्ते स्वानुभवाय भवन्ति। द्विर्वचनं मुख्यशिष्य-तत्साधनादिदुर्लभत्वप्रदर्शनार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थमादरार्थञ्च॥ २३॥

॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्करभगवत्प्रणीते श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

॥ समाप्तमिदं श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम्॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

तात्पर्यदीपिका

'यस्य देवे' इत्यादि। इस मन्त्र में भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित है। **यस्य** = जिस अधिकारी पुत्र एवं शिष्य की, **देवे** = परब्रह्म परमात्मा के प्रति, **परा भक्तिः** = चरम भक्ति, श्रद्धा अथवा आस्था रहती है। **यथा देवे (परा भक्तिः)** = जिस प्रकार परमेश्वर के प्रति उनकी परम आस्था होती है, **'तथा गुरौ (यस्य परा भक्तिः)'**—उसी प्रकार गुरुजनों के प्रति जिनकी अगाध श्रद्धा भक्ति होती है, वस्तुतः चञ्चलता का अभाव और श्रद्धा (आस्तिकता) दोनों भाव परमेश्वर और ब्रह्मविद्या के उपदेशक गुरुजन दोनों के प्रति होना चाहिये। कड़ी धूप में बैठने पर जिसका माथा ठनकता है, उस प्यासे के लिए जल का अन्वेषण अनिवार्य होता है, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन से उसकी प्यास शान्त नहीं होती। क्षुधार्त व्यक्ति की भूख भोज्यसामग्री के अतिरिक्त अन्य किसी सामग्री से बुझ नहीं सकती। उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक साधक के लिए ब्रह्मविद्या तभी प्राप्त हो सकती है, जब उस पर गुरुकृपा हो। उसके बिना ब्रह्मविद्या उसे दुर्लभ होती है। इसलिए मोक्ष के लिए आतुर जो अधिकारी महात्मा अत्यन्त त्वरा करने वाला होता है, उस उत्तम अधिकारी के लिये ही इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में महर्षि श्वेताश्वतर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व स्वानुभूति में सहायक होते हैं। **'प्रकाशन्ते महात्मनः, प्रकाशन्ते महात्मनः'** इस प्रकार मन्त्र के चरम चरण की दो बार आवृत्ति की गयी है, जिसके उद्देश्य तीन हैं—१. ऐसे उपदेशों के अधिकारी शिष्य और उसके साधन दुर्लभ होते हैं, यह समझाना। २. अध्यायसमाप्ति और ३. आदर प्रदर्शित करना॥ २३॥

॥ श्वेताश्वतर उपनिषद् षष्ठ अध्याय के साथ सम्पूर्ण उपनिषद् की हिन्दी व्याख्या तात्पर्यदीपिका परिपूर्ण॥



शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका